

हठयोगप्रदीपिका ।  
संस्कृतटीका और भाषा-  
टीकासहित ।



89

~~1/8~~

५१ वरु-

२२ डिसेंबर १९२६

३२५



1258

॥ श्रीः ॥

# हठयोगप्रदीपिका ।

सहजानन्दसन्तानचिन्तामणि-  
स्वात्मारामयोगीन्द्रविरचिता ।

श्रीयुतब्रह्मानन्दविरचितज्योत्स्नाभिध-  
संस्कृतटीकया,  
लॉखग्रामनिवासिपंडितमिहिरचन्द्रकृत-  
भाषाटीकया च समेता ।

सेयम्

श्रीकृष्णदासात्मज-गंगाविष्णोः

अध्यक्ष " लक्ष्मीवेंकटेश्वर " मुद्रणालये  
मैनेजर पं० शिवदुलारे वाजपेयी इत्यनेन स्वाम्यर्थं  
मुद्रयित्वा प्रकाशिता ।

संवत् १९८१, शकाब्दाः १८४६.

कल्याण-मुंबई.

अस्य ग्रन्थस्य सर्वधिकारा यन्त्राधिकारिणा  
स्वायत्तीकृताः ।



देखो ! इस ब्रह्मसंसारसे मोक्षके अर्थ तथा सर्व मनोगत अभीष्ट सिद्धिद योगविषयमें हठविद्या है जो प्राणियोंके हितार्थ योगिराज शिवजीने पार्वतीके प्रति महाकाल योगशास्त्रमें वर्णन की है, उसी हठविद्याका सेवन करके ब्रह्माजी ब्रह्मपदको प्राप्त हुए हैं, श्रीकृष्णचंद्रजीने गीतामें अर्जुनको और श्रीमद्भागवतमें उद्धवको उपदेश किया है, प्रायः ब्रह्मा, विष्णु, महेश, नारद, याज्ञवल्क्य इन सभीने इसका सेवन किया है. मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथजीने प्रथम शिवजीसे हठयोग श्रवण किया, इन्हीं गोरखनाथजीकी कृपासे स्वात्मारामयोगीन्द्रने सर्व मुमुक्षुओंके मोक्षप्राप्त्यर्थ “हठयोगप्रदीपिका” नामक ग्रन्थ चार उपदेशोंमें रचित किया, प्रथमोपदेशमें यम, नियम सहित हठका प्रथमभाग आसन, द्वितीयोपदेशमें प्राणायामप्रकरण, तृतीयोपदेशमें मुद्राप्रकरण, चतुर्थोपदेशमें प्रत्याहारादिरूप समाधिकम वर्णन किये हैं, उक्त ग्रन्थ “उयोत्सना” नामक संस्कृतटीका सहित तथा सर्व मुमुक्षुओंके लाभार्थ हमने पं० मिहिरचन्द्रजीके द्वारा याथातथ्य भाषाटीका भी कराकर स्वच्छतापूर्वक छापके प्रकाशित किया है ।

आशा है कि, सर्वसज्जन इसके द्वारा हठयोगका रहस्य जानकर लाभ उठावेंगे और हमारे परिश्रमको सफल करेंगे ।

आपका कृपाकांक्षी—

खेमराज श्रीकृष्णदास,

अध्यक्ष “श्रीवेङ्कटेश्वर” स्टीम प्रेस—मुम्बई.

# अथ हठयोगप्रदीपिकाविषयानुक्रमणिका ।

| विषय.                                      | श्लोक. | पृष्ठ. |
|--|--------|--------|
| अथ प्रथमोपदेशः १.                          |        |        |
| १ मंगलाचरण                                 | १      | १      |
| २ गुरुनमस्कार मंगलाचरण                     | २      | ३      |
| ३ हठयोगसे राजयोगसिद्धि                     | ३      | ४      |
| ४ ( ज्ञानकी सातभूमि अर्थसहित ) पंक्ति ६    | "      | "      |
| ५ हठविद्याकी श्लाघा                        | ४      | ६      |
| ६ महासिद्धनके नाम                          | ५      | ७      |
| ७ योगीनको आधार हठ                          | १०     | ९      |
| ८ हठविद्याकू गोप्यपना                      | ११     | १०     |
| ९ हठभ्यासके योग्यदेश                       | १२     | ११     |
| १० मठलक्षण                                 | १३     | १२     |
| ११ मठमें कर्तव्यकर्म                       | १४     | १४     |
| १२ योगभ्यासके नाशकर्ता                     | १५     | १५     |
| १३ योगकी सिद्धिके कर्ता                    | १६     | "      |
| १४ यमनियम                                  | (१२)   | १६     |
| १५ आसनप्रकरण                               | १७     | "      |
| १६ स्वास्तिकासन                            | १९     | १७     |
| १७ गोमुखवासन                               | २०     | १८     |
| १८ वीरासन                                  | २१     | "      |
| १९ कूर्मासन                                | २२     | "      |
| २० कुक्कुटासन                              | २३     | "      |
| २१ उत्तानकूर्मासन                          | २४     | १९     |
| २२ धनुरासन                                 | २५     | "      |
| २३ मत्स्येन्द्रासन                         | २६     | "      |
| २४ मत्स्येन्द्रासनका फल                    | २७     | २०     |
| २५ पश्चिमतानासन                            | २८     | "      |
| २६ पश्चिमतानासनका फल                       | २९     | २१     |
| २७ मयूरासन                                 | ३०     | "      |
| २८ मयूरासनके गुण                           | ३१     | २२     |
| २९ प्रयोजनसाहित शवासन                      | ३२     | "      |
| ३० सिद्धासनादि चार आसनोंकी श्रेष्ठता       | ३३     | "      |
| ३१ चार आसनोंके नाम और सिद्धासनकी श्रेष्ठता | ३४     | २३     |

| विषय.                           | श्लोक. | पृष्ठ. |
|---------------------------------|--------|--------|
| ३२ सिद्धासन                     | ३५     | २३     |
| ३३ मतांतरका सिद्धासन            | ३६     | २४     |
| ३४ सिद्धासनके पर्याय नाम        | ३७     | "      |
| ३५ सिद्धासनकी श्लाघा            | ३८-४३  | २५     |
| ३६ पद्मासन                      | ४४     | २७     |
| ३७ मत्स्येन्द्रनाथाभिमत पद्मासन | ४५     | "      |
| ३८ सिंहासन                      | ५०     | ३०     |
| ३९ भद्रासन                      | ५३     | ३१     |
| ४० हठाभ्यासका क्रम              | ५६     | "      |
| ४१ योगीनको मिताहार              | ५८     | ३२     |
| ४२ योगीनको अपथ्य                | ५९     | ३३     |
| ४३ योगीनको पथ्य                 | ६२     | ३५     |
| ४४ योगीनको भोजनानियम            | ६३     | ३६     |
| ४५ अभ्यासतें सिद्धि             | ६४     | "      |
| ४६ योगांगअनुष्ठानकी अवधि        | ६७     | ३७     |

### द्वितीयोपदेशः २.

|   |    |    |
|---|----|----|
| ४७ प्राणायामप्रकरण                      | १  | ३८ |
| ४८ प्राणायाम प्रयोजन                    | २  | "  |
| ४९ मलशुद्धिसे हठयोगकी सिद्धि            | ४  | ३९ |
| ५० मलशुद्धिकेर्ता प्राणायाम             | ६  | "  |
| ५१ मलशोधक प्राणायामका प्रकार            | ७  | ४० |
| ५२ प्राणायाममें विशेषता                 | ९  | "  |
| ५३ प्राणायामका अवांतर फल                | १० | ४१ |
| ५४ प्राणायामके अभ्यासका काल और अवधि     | ११ | ४२ |
| ५५ उत्तम मध्यम कनिष्ठ प्राणायाम         | १२ | "  |
| ५६ प्राणायामते प्रस्वेद होनेमें विशेषता | १३ | ४५ |
| ५७ अभ्यासकालमें दुग्धादिनियम            | १४ | "  |
| ५८ प्राणवायुको शनैः २ वश करना           | १५ | ४६ |
| ५९ युक्तायुक्तको प्राणायामोंके फल       | १६ | "  |
| ६० नाडीशुद्धिके लक्षण                   | १९ | ४७ |
| ६१ भेदके अधिक होनेमें उपाय              | २१ | "  |
| ६२ धौलि आदि षट्कर्म्म                   | २२ | ४८ |
| ६३ षट्कर्म्मोंका फल                     | २३ | "  |

| विषय.  | श्लोक. | पृष्ठ. |
|--|--------|--------|
| ६४ धौतिककर्म फलसहित                          | २४     | ४८     |
| ६५ वस्तिकर्म गुणसहित                         | २६     | ४९     |
| ६६ नेतिकर्म गुणसहित                          | २९     | ५१     |
| ६७ त्राटकर्म गुणसहित                         | ३१     | ५२     |
| ६८ नौलिकर्म गुणसहित                          | ३३     | ५३     |
| ६९ कपालभातिकर्म गुणसहित                      | ३५     | ५४     |
| ७० षट्कर्म प्राणायामके उपकारी                | ३६     | "      |
| ७१ मतांतरमें षट्कर्म असंमत                   | ३७     | "      |
| ७२ गजकरणी                                    | ३८     | ५५     |
| ७३ प्राणायामाभ्यासकी आवश्यकता                | ३९     | "      |
| ७४ वायु आदिकी अनुकूलतामें कालनिर्भयता        | ४०     | "      |
| ७५ नाडीचक्रके शोधनसे सुखपूर्वक वायुका प्रवेश | ४१     | ५६     |
| ७६ मनोन्मनी अवस्थाका लक्षण                   | ४२     | "      |
| ७७ विचित्र कुंभकोंका मुख्यफल                 | ४३     | ५७     |
| ७८ कुंभकके भेद                               | ४४     | "      |
| ७९ सर्व कुंभनकी साधारण युक्ति                | ४५     | "      |
| ८० सूर्यभेदन गुणसहित                         | ४८     | ५९     |
| ८१ (योगाभ्यासक्रम)                           | "      | "      |
| ८२ उज्जायी                                   | ५१     | ६३     |
| ८३ सीत्कारी कुंभक                            | ५४     | ६५     |
| ८४ शीतली गुणसहित                             | ५७     | ६६     |
| ८५ भास्त्रिका पञ्चासनसहित                    | ५९     | ६७     |
| ८६ आमरीकुंभक                                 | ६८     | ७१     |
| ८७ मूर्च्छाकुंभक                             | ६९     | "      |
| ८८ प्लाविनीकुंभक                             | ७०     | ७२     |
| ८९ प्राणायामके भेद                           | ७१     | "      |
| ९० हठाभ्यासमें राजयोगप्राप्तिका प्रकार       | ७७     | ७५     |
| ९१ हठयोगसिद्धिके लक्षण                       | ७८     | ७६     |

### तृतीयोपदेशः ३.

|                              |   |    |
|------------------------------|---|----|
| ९२ कुंडलीकं सर्वयोगका आश्रय  | १ | ७६ |
| ९३ कुंडलीके बोधका फल         | २ | "  |
| ९४ सुषुम्नाके पर्यायवाचक नाम | ४ | ७७ |
| ९५ दश महासुद्रा              | ६ | ७८ |
| ९६ महासुद्राके फल            | ८ | "  |

| विषय                                   | श्लोक. | पृष्ठ. |
|--|--------|--------|
| ९७ ( अष्टसिद्धिन्के अर्थ ) पंक्ति ८    | ८      | ७८     |
| ९८ महामुद्रा                           | १०     | ७९     |
| ९९ महामुद्राभ्यासक्रम                  | १५     | ८१     |
| १०० महामुद्रानके गुण                   | १६     | ८२     |
| १०१ महाबन्ध                            | १९     | ८३     |
| १०२ महावेध                             | २६     | ८५     |
| १०३ इन तीनोंमुद्रानका पृथक् साधन विशेष | ३१     | ८७     |
| १०४ स्वरूपलक्षणसहित खेचरी              | ३२     | "      |
| १०५ खेचरीसाधन                          | ३४     | ८८     |
| १०६ खेचरीके गुण                        | ३८     | ९०     |
| १०७ गोमांस और अमरवारुणीका अर्थ         | ४८     | ९३     |
| १०८ अर्थसहित उड्डियानबन्ध              | ५५     | ९७     |
| १०९ मूलबन्ध                            | ६१     | ९९     |
| ११० मतांतरका मूलबन्ध                   | ६३     | १००    |
| १११ मूलबन्धके गुण                      | ६४     | "      |
| ११२ जालन्धरबन्ध                        | ७०     | १०२    |
| ११३ जालन्धरपदका अर्थ                   | ७१     | "      |
| ११४ जालन्धरके गुण                      | ७२     | १०३    |
| ११५ तीनों बन्धेनका उपयोग               | ७४     | "      |
| ११६ देहका जराकरण                       | ७७     | १०४    |
| ११७ गणसहित विपरितकरणी                  | ७९     | १०५    |
| ११८ फलसहित वज्रोली                     | ८३     | १०७    |
| ११९ वज्रोलीके अभ्यासमें उत्तरसाधन      | ८७     | १०९    |
| १२० वज्रोलीके गुण                      | ८८     | ११०    |
| १२१ सहजोली                             | ९२     | १११    |
| १२२ अमरोली                             | ९६     | ११२    |
| १२३ स्त्रीनकी वज्रोली साधन             | ९९     | ११४    |
| १२४ स्त्रीनकी वज्रोलीके फल             | १००    | "      |
| १२५ कुण्डलीकरके मोक्षद्वार विभेदन      | १०४    | ११५    |
| १२६ शक्तिचालन—( शक्तिचालनमुद्रा )      | १११    | ११८    |
| १२७ कन्दका स्थापनस्वरूप                | ११३    | "      |
| १२८ राजयोगविना आसनादिक व्यर्थ          | १२६    | १२३    |
| १२९ मुद्रोपदेशा गुरुकी श्रुति          | १२९    | १२४    |

| विषय.  | श्लोक. | पृष्ठ |
|--|--------|-------|
| <b>चतुर्थोपदेशः ४.</b>                       |        |       |
| १३० मंगलाचरण                                 | १      | १२६   |
| १३१ समाधिक्रम                                | २      | १२६   |
| १३२ समाधिपर्यायवाचक शब्द                     | ३-४    | १२८   |
| १३३ राजयोगकी श्लाघा                          | ८      | १२९   |
| १३४ समाधिसिद्धिसू अमरोल्यादिक सिद्धि         | १४     | १३१   |
| १३५ हठभ्यासविना ज्ञान और मोक्षकी सिद्धि नहीं | १५     | १३२   |
| १३६ प्राण और मनकी लयरीति                     | १६     | १४३   |
| १३७ प्राणके लयसू कालका जय                    | १७     | १४४   |
| १३८ लयका स्वरूप                              | ३४     | १५१   |
| १३९ शांभवीमुद्रा                             | ३६     | १५२   |
| १४० उन्मनी मुद्रा                            | ३९     | १५४   |
| १४१ उन्मनीविना और तिखेको उपाय नहीं           | ४०     | "     |
| १४२ उन्मनीभावनाक कालनियमका अभाव              | ४२     | १५६   |
| १४३ खेचरी मुद्रा                             | ४३     | १५७   |
| १४४ मनके लयसू द्वैतकाभी लयहै                 | ६०     | १६३   |
| १४५ नादानुसंधानरूप मुख्योपाय                 | ६६     | १६५   |
| १४६ शांभवीकमुद्राकरके नादानुसंधान            | ६७     | १६६   |
| १४७ पराङ्मुखीमुद्राकरके नादानुसंधान          | ६८     | "     |
| १४८ नादकी चार अवस्था                         | ६९     | १६७   |
| १४९ आरंभावस्था                               | ७०     | "     |
| १५० घटावस्था                                 | ७२     | १६८   |
| १५१ परिचयावस्था                              | ७४     | १६९   |
| १५२ निष्पात्तिवस्था                          | ७६     | "     |
| १५३ प्रत्याहारादि क्रमकरके समाधि             | ८२     | १७१   |
| १५४ नानाप्रकारके नाद                         | ८५     | १७३   |
| १५५ उन्मनी अवस्थामें योगीकी स्थिति           | १०६    | १८०   |
| १५६ योगीनक ही ज्ञानप्राप्ति                  | ११४    | १८४   |

इति हठयोगप्रदीपिकाविषयानुक्रमणिका समाप्ता ।

॥ श्रीः ॥

# अथ हठयोगप्रदीपिका ।

## संस्कृतटीका-भाषाटीकासमेता ।



प्रथमोपदेशः १.

श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या ॥  
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणिवि ॥ १ ॥

गुरुं नत्वा शिवं साक्षाद्ब्रह्मानंदेन तन्यते ॥

हठप्रदीपिकाज्योत्स्ना योगमार्गप्रकाशिका ॥ १ ॥

इदानींतनानां सुबोधार्थमस्याः सुविज्ञाय गोरक्षासिद्धांतहार्दम् ।

मया मेरुशास्त्रिप्रमुख्याभियोगात्स्फुटं कथ्यतेऽस्थंतगूढोऽपि भावः ॥ २ ॥

मुमुक्षुजनहितार्थं राजयोगद्वारा कैवल्यफलां हठप्रदीपिकां विधित्सुः परमकारुणिकः  
स्वात्मारामयोगीन्द्रस्तत्प्रत्यूहनिवृत्तये हठयोगप्रवर्तकश्रीमदादिनाथनमस्कारलक्षणं मंगलं  
त्वावदाचरति-श्रीआदिनाथायेत्यादिना ॥ तस्मै श्रीआदिनाथाय नमोऽस्त्वित्यन्वयः ।  
आदिश्चासौ नाथश्च आदिनाथः सर्वेश्वरः शिव इत्यर्थः । श्रीमान् आदिनाथः तस्मै  
श्रीआदिनाथाय । श्रीशब्द आदिर्यस्य सः श्रीआदिः श्रीआदिश्चासौ नाथश्च श्रीआ-  
नाथः तस्मै श्रीआदिनाथाय । श्रीनाथाय विष्णव इति वार्थः । श्रीआदिनाथायेत्यञ्  
यणभाषस्तु 'अपि माषं मषं कुर्याच्छंदोभंगं त्यजेद्विराम्' इतिच्छंदोविदां संप्रदायादु-  
च्चारणसौष्ठवाच्चेति बोध्यम् । वस्तुतस्तु असंहितपाठस्वीकारापेक्षया श्रीआदिनाथायेति  
पाठस्वीकारेऽप्रवृत्तिरित्यविध्युद्देश्यतावच्छेदकानाक्रांतत्वेन परिनिष्ठितत्वसंभवात् संप्र-  
त्युदाहृतदृष्टांतद्वयस्यापीदृग्विषयवैषम्यान्नित्यसाहित्यभंगजनितदोषस्य शाब्दिकाननु-  
मतत्वाच्चासंभृष्टविधेयांशतारूपदोषस्य साहित्यकारैरुक्तत्वेऽपि क्वचित्तरपि स्वीकृतत्वेन  
शाब्दिकाचार्यैरेकाजित्यादौ कर्मधारयस्वीकारेण सर्वथानादृतत्वाच्च लाघवातिशय इति  
सुधियो विभावयंतु । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु । प्रार्थनायां लोट् । तस्मै कस्मै इत्यपेक्षा-  
यामाह-येनोति । येन आदिनाथेन उपदिष्टा गिरिजायै हठयोगविद्या हश्च ठश्च हठौ  
सूर्यचंद्रौ तयोर्योगो हठयोगः । एतेन हठशब्दवाच्ययोः सूर्यचंद्राख्ययोः प्राणापान-  
योरैक्यलक्षणः प्राणायामो हठयोग इति हठयोगस्य लक्षणं सिद्धम् । तथा चोक्तं  
गोरक्षनाथेन सिद्धसिद्धांतपद्धतौ-"हकारः कीर्तितः सूर्यश्चकारश्चंद्र उच्यते । सूर्याचं-

द्रुमसौर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ॥ ” इति । तत्प्रतिपादिका विद्या हठयोगविद्या हठ-  
योगशास्त्रमिति यावत् । गिरिजायै आदिनाथकृता हठविद्योपदेशो महाकालयोगशा-  
स्त्रादौ प्रसिद्धः । प्रकर्षेण उन्नतः प्रोन्नतः मंत्रयोगहठयोगादीनामधरभूमीनामुत्तरभूमि-  
त्वाद्व्राजयोगस्य प्रोन्नतत्वम् । राजयोगश्च सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणोऽसंप्रज्ञातयोगः । तमि-  
च्छोर्मुमुक्षोरधिरोहिणीव अधिरुह्यतेऽनयेत्यधिरोहिणी निःश्रेणीव विश्राजते विशेषेण  
आजते शोभते । यथा प्रोन्नतसौधमारोढुमिच्छोरधिरोहिण्यनायासेन सौथप्रापिका  
अवति एवं हठदीपिकापि प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरनायासेन राजयोगप्रापिका भव-  
तीति । उपमालंकारः । इंद्रवज्राख्यं वृत्तम् ॥ १ ॥

नत्वा साम्बं ब्रह्मरूपं भाषायां योगबोधिका ॥

मया मिहिरचंद्रेण तन्यते हठदीपिका ॥ १ ॥

मोक्षके अभिलाषी जनोके हितार्थ राजयोगकेद्वारा मोक्ष है फल जिसका ऐसी हठयोग-  
प्रदीपिकाको रचतेहुये परमदयालु स्वात्माराम योगीन्द्र गंथमें विघ्ननिवृत्तिके लिये हठयोगकी मृदु-  
वृत्तिके कर्ता जो श्रीमान् आदिनाथ ( शिव ) जी हैं उनके नमस्काररूप मंगलको ग्रंथके प्रारं-  
भमें करते हैं कि, श्रीमान् जो आदिनाथ अर्थात् सनातन स्वामी शिवजी हैं उनको नमस्कार हो  
अथवा श्रीशब्द है आदिमें जिसके ऐसा जो नाथ ( विष्णु ) वा श्री लक्ष्मीसे युक्त जो नाथ  
विष्णु हैं उनके अर्थ नमस्कार हो : कदाचित् कहो कि, श्रीआदिनाथाय इस पदमें श्रीशब्दके  
इश्वरको यणविधायक सूत्रसे यकार क्यों नहीं होता सो ठीक नहीं, क्योंकि छंदके ज्ञाताओंका  
यह संप्रदाय है कि, चाहे माषके स्थानमें भी मषपदको लिखें परंतु छंदका भंग न करे  
और उच्चारण करनेमें भी सुगमता है इससे सूत्रसे प्राप्त भी यकार ग्रंथकारने नहीं किया  
सिद्धान्त तो यह है कि, श्रीआदिनाथाय इस पाठकी अपेक्षा श्यादिनाथाय यह पाठ लाघवसे  
युक्त है क्योंकि आदिनाथाय इस पाठमें व्याकरणके किसी सूत्रकी प्राप्ति नहीं है इससे यह  
परिनिष्ठित ( सिद्ध हुआ ) है और श्रीआदिनाथाय इस पाठमें 'इकोयणाचि' इस सूत्रकी प्राप्ति की  
ज्ञाना बनी रहती है—और जो दो दृष्टान्त दिये हैं ( माष मष—उच्चारणमें सुगमता ) वे भी  
इसे विषयसे विषम हैं अर्थात् सूत्रकी प्राप्ति को नहीं हटा सकते और व्याकरणशास्त्रके  
ज्ञाता साहित्य ( छंद ) के भंगका जो दोष उसको नहीं मानते—और असंमृष्ट ( शास्त्रसे  
अशुद्ध ) विधानरूप दोष यद्यपि साहित्यके रचनेवालोंने कहा है तथापि कहीं २ उन्होंने  
भी माना है—और व्याकरणशास्त्रके आचार्योंने ( एकाञ् ) इस पाठके स्थानमें कर्मधारय  
समास करके ( एकाञ् ) असंमृष्ट विधानको नहीं माना है—इससे श्यादिनाथाय इस पाठ-  
में ही लाघव है इस बातका बुद्धिमान् मनुष्य विचार करे—तात्पर्य यह है कि, उस आदिना-  
थको नमस्कार है जिसने पार्वतीके प्रति हठयोगविद्याका उपदेश किया और जिसप्रकार शिव-  
जीने पार्वतीके प्रति हठयोगका उपदेश किया है वह प्रकार महाकाल योगशास्त्रमें प्रसिद्ध है  
और हठयोगविद्या शब्दका यह अर्थ है कि, ह ( सूर्य ) ठ ( चंद्रमा ) इन दोनोंका जो  
योग ( एकता ) अर्थात् सूर्यचंद्रमारूप जो प्राण अपान हैं उनकी एकतासे जो प्राणायाम

वह हठयोग कहाताहै सोई सिद्धिसिद्धांतपद्धतिमें गोरक्षनाथ आचार्यने इस वचनसे कहाहै कि हकारसे सूर्य और ठकारसे चंद्रमा कहा जाताहै सूर्य और चंद्रमाके योगसे हठयोग कहाताहै-उस हठयोगका जिससे प्रतिपादनहो उस विद्याको हठयोगविद्या कहते हैं अर्थात् हठयोगशास्त्रका नाम हठयोगविद्या है-और वह हठयोग विद्या सबसे उत्तम जो राजयोग अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंका निरोधरूप जो असंप्रज्ञातलक्षण समाधि है उसके अभिलाषी मुमुक्षुको अधिरोहिणी ( नसैनी ) के समान विगजती है जैसे ऊँचे महलपर विना परिश्रमही नसैनी पहुँचा देती है. इसीप्रकार यह हठयोगविद्याभी सर्वोत्तम राजयोगपर चढ़नेके लिये मुमुक्षुको अनायाससे राजयोगमें प्राप्त कर देतीहै इस श्लोकमें उपमा अलंकार और इंद्रवज्राच्छंद है-भावार्थ-यह है कि, जिस श्रीआदिनाथ ( शिवजी ) ने पार्वतीके प्रति वह हठयोगविद्या कही है जो सर्वोत्तम राजयोगपर चढ़नेके लिये अधिरोहिणीके समान है उस श्रीआदिनाथको नमस्का हो अर्थात् उसको नमस्कार करताहूँ ॥ १ ॥

**प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना ॥**

**केवलं राजयोगाय हठविद्योपादिश्यते ॥ २ ॥**

एवं परमगुरुनमस्कारलक्षणं मंगलं कृत्वा विघ्नबाहुल्ये मंगलबाहुल्यस्याप्यपोक्षितत्वात्स्वगुरुनमस्कारात्मकं मंगलमाचरन्नस्य ग्रंथस्य विषयप्रयोजनादीन्प्रदर्शयति-प्रणम्येति ॥ श्रीमंतं गुरुं श्रीगुरुं नाथं श्रीगुरुनाथं स्वगुरुमिति यावत् । प्रणम्य प्रकर्षेण भक्तिपूर्वकं नत्वा स्वात्मारामेण योगिना योगोऽस्यास्तीति तेन । केवलं राजयोगाय केवलं राजयोगार्थं हठविद्योपादिश्यत इत्यन्वयः । हठविद्याया राजयोग एव मुख्यं फलं न सिद्ध्यति इति केवलपदस्याभिप्रायः । सिद्ध्यस्त्वानुषंगिक्यः । एतेन राजयोगफलसाहितो हठयोगोऽस्य ग्रंथस्य विषयः । राजयोगद्वारा कैवल्यं चास्य फलम् । तत्कामश्चाधिकारी । ग्रंथविषययोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः संबंधः । ग्रंथस्य कैवल्यस्य च प्रयोज्यप्रयोजकभावः संबंधः । ग्रंथाभिधेयस्य सफलयोगस्य कैवल्यस्य च साध्यसाधनभावः संबंध इत्युक्तम् ॥ २ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार परमगुरुको नमस्कार करके अधिक विघ्नोंकी आशंकामें अधिकही मंगलकी अपेक्षा होती है इस अभिप्रायसे अपने गुरुके नमस्काररूप मंगलको करते हुये ग्रंथकार ग्रंथके विषय, संबन्ध, प्रयोजन, अधिकारियोंको दिखाते हैं कि, श्रीमान् जो अपने गुरुनाथ ( स्वामी ) हैं उनको भक्तिपूर्वक नमस्कार करके स्वात्माराम नामका जो मैं योगी हूँ वह केवल राजयोगकी प्राप्तिके लिये हठविद्याका उपदेश ( कथन ) करता हूँ-अर्थात् हठविद्याका मुख्य फल केवल राजयोगही है सिद्धि नहीं है । क्योंकि सिद्धि तो यत्नके विना प्रसंगसेही होजाती है । इससे यह सूचित किया कि, राजयोगरूप फलसाहित हठयोग इस ग्रंथका विषय है और राजयोगद्वारा मोक्ष फल ( प्रयोजन ) है और फलका अभिलाषी अधिकारी है और ग्रन्थ और विषयका प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध है अर्थात् ग्रंथ विषयका प्रतिपादक है और विषय प्रतिपाद्य है और ग्रन्थ और मोक्षका प्रयोज्य प्रयोजकभाव

संबंध है क्योंकि ग्रन्थभी हठयोगकेद्वारा मोक्षका कारण है, और ग्रंथ और अभिधेय ( विषय ) फल योग और मोक्ष इनका साध्यसाधनभाव संबंध है ये सब बात इस श्लोकमें कही है । भावार्थ—यह है कि, मैं स्वात्माराम योगी अपने श्रीगुरुनाथको भलीप्रकार नमस्कार करके केवल राजयोगके लिये हठविद्याका उपदेश करता हूँ ॥ २ ॥

**भ्रांत्या बहुमतध्वाते राजयोगमजानताम् ॥**

**हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः ॥ ३ ॥**

ननु मंत्रयोगसगुणध्याननिर्गुणध्यानमुद्रादिभिरेव राजयोगसिद्धौ किं हठविद्योपदेशेनेत्याशंक्य व्युत्थिताचित्तानां मंत्रयोगादिमी राजयोगासिद्धेर्हठयोगादेव राजयोगसिद्धिं वदन् ग्रंथं प्रतिजानीते—भ्रांत्येति ॥ मंत्रयोगादिबहुमतत्वरूपे ध्वाते मादांधकारे या भ्रांतिभ्रमस्तया । तैस्तैरुपायै राजयोगार्थं प्रवृत्तस्य तत्रतत्र तदलाभात् । वक्ष्यति च 'विना राजयोगम्' इत्यादिना । तथा राजयोगम् अजानतां न जानंतीत्यजानंतः तेषाम् अजानतां पुंसां राजयोगज्ञानमिति शेषः । करोतीति करः कृपायाः करः कृपाकरः । कृपाया आकर इति घा । तादृशः । अनेन हठप्रदीपिकाकरणे अज्ञानुकंपैव हेतुरित्युक्तम् । स्वात्मन्यारमते इति स्वात्मारामः हठस्य हठयोगस्य प्रदीपिकेव प्रकाशकत्वात् हठप्रदीपिका ताम् । अथवा हठ एव प्रदीपिका राजयोगप्रकाशकत्वात् । तां धत्ते विधत्ते करोतीति यावत् । स्वात्माराम इत्यनेन ज्ञानस्य सप्तभूमिकां प्राप्तो ब्रह्मविद्वारेष्ठ इत्युक्तम् । तथा च श्रुतिः—'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इति । सप्त भूमयश्चोक्ता योगवासिष्ठे—'ज्ञानभूमिः शुभेच्छारख्या प्रथमा समुदाहृता । विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा ॥ सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका । परार्थाभावेनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥' इति । अस्यार्थः । शुभेच्छा इत्यारख्या यस्याः सा शुभेच्छारख्या । विवेकवैराग्ययुता शमादिपूर्विका तीव्रसुमुक्षा प्रथमा ज्ञानस्य भूमिः भूमिका उदाहृता कथिता योगिभिरिति शेषः १ । विचारणा श्रवणमननात्मिका द्वितीया ज्ञानभूमिः स्यात् २ । अनेकार्थग्राहकं मनो यदाऽनेकार्थान्परित्यज्य सदेकार्थवृत्तिप्रवाहवद्भवति तदा तनुमानसे यस्यां सा तनुमानसा निदिध्यासनरूपा तृतीया ज्ञानभूमिः स्यादिति शेषः ३ । इमास्तिष्ठः साधनभूमिकाः । आसु भूमिषु साधक इत्युच्यते । तिसृभिर्भूमिकाभिः शुद्धसत्त्वेऽतःकरणेऽहं ब्रह्माऽस्मीत्याकारिकाऽपरोक्षवृत्तिरूपा सत्त्वापत्तिनामिका चतुर्थी ज्ञानभूमिः स्तात् । चतुर्थीयं फलभूमिः । अस्यां योगी ब्रह्मविदित्युच्यते । इयं संप्रज्ञातयोगभूमिका ४ । वक्ष्यमाणास्तिष्ठोऽसंप्रज्ञातयोगभूमयः । सत्त्वापत्तेरनंतरा सत्त्वापत्तिसंज्ञिकायां भूमावुपस्थितासु सिद्धिषु असंसक्तस्यासंसक्तिनामिका पंचमी ज्ञानभूमिः स्यात् । अस्यां योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठते । एतां

भूमिं प्राप्तो ब्रह्मविद्वर इत्युच्यते ५ । परब्रह्मातिरिक्तमर्थं न भावयति यस्यां सा परार्थाभाविनी षष्ठी ज्ञानभूमिः स्यात् । अस्यां योगी परप्रबोधित एव व्युत्थितो भवति । एतां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरीयानित्युच्यते ६ । तुर्यगा नाम सप्तमी भूमिः स्मृता । अस्यां योगी स्वतः परतो वा न व्युत्थानं प्राप्नोति । एतां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युच्यते तत्र प्रमाणभूता श्रुतिरत्रैवोक्ता । 'पूर्वमयमेव जीवन्मुक्त इत्युच्यते, स एवात्र स्वात्मारामपदेनोक्तः' इत्यलं बहूक्तेन ॥ ३ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि, मंत्रयोग सगुणध्यान निर्गुणध्यान मुद्रा आदिसेही राजयोग सिद्ध होजायगा हठयोगविद्याके उपदेशका क्या फल है सो ठीक नहीं, क्योंकि जिनका चित्त व्युत्थित ( चंचल ) है उनको मंत्रयोग आदिसे राजयोगकी सिद्धि नहीं होसकती इससे हठ-योगके द्वाराही राजयोगकी सिद्धिको कहते हुए ग्रंथकार ग्रंथके आरंभकी प्रतिज्ञा करते हैं कि मंत्रयोग आदि अनेक मतोंका जो गाढ अंधकार उसके विषे भ्रमसे राजयोगको जो नहीं जानते हैं उनकोभी राजयोगका ज्ञान जिससे हो ऐसी हठयोगप्रदीपिकाको कृपाके कर्ता ( दयालु ) स्वात्मारामयोगी अर्थात् अपने आत्मामें रमणकर्ता स्वात्माराम करते हैं अर्थात् हठयोगके प्रकाशक ग्रंथको रचते हैं । अथवा राजयोगके प्रकाशक जो हठ ( सूर्य चन्द्र ) उनके प्रकाशक ग्रंथको रचते हैं स्वात्माराम इस पदसे यह सूचित किया है कि, ज्ञानकी सात-वीं भूमिकाको प्राप्त ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ है सोई इस श्रुतिमें लिखा है कि, आत्मामें है क्रीडा और रमण जिसका ऐसा जो क्रियावान् है वह ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ है और सात भूमि योगवासिष्ठमें कही है कि, शुभेच्छा १, विचारण २, तनुमानसा ३, सत्त्वापत्ति ४, असंसक्ति ५, परार्थाभाविनी ६, तुर्यगा ७ ये सात ज्ञानभूमि योगकी हैं इन सातोंमें शुभेच्छा है नाम जिसका और विवेक और वैराग्यसे युक्त और शमदम आदि हैं पूर्व जिसके और तीव्र ( प्रबल ) है मोक्षकी इच्छा जिसमें ऐसी ज्ञानकी भूमि प्रथम योगीजनोंने कही है १-और श्रवण मनन आदिरूप विचारणा ज्ञान की दूसरी भूमि होती है २ अनेक विषयोंका ग्राहक मन अनेक विषयोंको त्यागकर एक ( ब्रह्म ) विषयमें ही वृत्तिके प्रवाहवाला होजाय तनु ( सूक्ष्म ) है मन जिसमें ऐसी वह निदिध्यासनरूप तनुमानसा नामकी तीसरी भूमि होती है ३ ये तीन साधनभूमि कहाती हैं, इन भूमियोंमें योगी साधक कहाता है । इन तीन भूमियोंसे शुद्ध हुये अंतःकरणमें ब्रह्माहूँ यह जो ब्रह्माकार अपरोक्ष ( प्रत्यक्ष ) वृत्ति है वह सत्त्वापत्ति नामकी चौथी भूमि कहाती है ४ इन चारोंसे अगली जो तीन भूमि है ये असंप्रज्ञात योगभूमि कहाती हैं सत्त्वापत्तिके अनंतर इसी सत्त्वापत्ति भूमिमें उपस्थित ( प्राप्त ) हुई जो सिद्धि हैं उनमें असंसक्त योगीका असंसक्ति नामकी पांचवीं ज्ञानभूमि होती है । इस भूमिमें योगी स्वयंही व्युत्थित होता ( उठता ) है और वह ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ कहाता है । ५ जिसमें परब्रह्मसे भिन्नकी भावना ( विचार ) न रहै वह परार्थाभाविनी नामकी छठी भूमि होती है इसमें योगी दूसरेके उठाने-सेही उठता है और ब्रह्मज्ञानियोंमें अत्यंत श्रेष्ठ कहाता है ६ और जिसमें तुरीय पदमें योगी पहुँचजाय वह तुर्यगा नामकी सातवीं ज्ञानभूमि है इसमें योगी स्वयं वा अन्य पुरुषसे नहीं उठता है इसमें प्राप्त हुआ योगी ब्रह्मज्ञानियोंमें अत्यंत श्रेष्ठसेभी उत्तम कहाता है इसमें प्रमाणरूप यह श्रुतिही

कही है कि, पहिली भूमियोंमें इसकोही जीवन्मुक्ति कहते हैं और उसकोही इस सातवीं भूमिमें स्वात्माराम कहते हैं—इस प्रकार अधिक कहनेसे पूर्ण हुये अर्थात् अधिक नहीं कहते हैं । भावार्थ यह है कि, अनेक मतोंके कियेहुए अंधकारमें राजयोगको जो नहीं जानसकते उनके लिये दयाके समुद्र स्वात्माराम “ हठयोगप्रदीपिका ” को करते हैं ॥ ३ ॥

## हठविद्यां हि मत्स्येंद्रगोरक्षाद्या विजानते ॥

स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः ॥ ४ ॥

महत्सेवितत्वाद्धठविद्यां प्रशंसन्स्वस्यापि महत्सकाशाद्धठविद्यालामाद्गौरवं द्योतयति-हठविद्यां हीति ॥ हीति प्रसिद्धम् । मत्स्येंद्रश्च गोरक्षश्च तौ आद्यौ येषां ते मत्स्येंद्रगोरक्षाद्याः आद्यशब्देन जालंधरनाथभर्तृहरिगोपीचन्द्रप्रभृतयो ग्राह्याः । ते हठविद्यां हठयोगविद्यां विजानते विशेषेण साधनलक्षणभेदफलैर्जानन्तीत्यर्थः । स्वात्मारामः स्वात्मारामनामा । अथवाशब्दसमुच्चये । योगी योगवान् तत्प्रसादतः गोरक्षप्रसादाज्जानीत इत्यन्वयः । परममहता ब्रह्मणापीयं विद्या सेवितेत्यत्र योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिः—‘हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ।’ इति । वक्तृत्वं च मानसव्यापारपूर्वकं भवतीति मानसो व्यापारोऽर्थोदागमः । तथा च श्रुतिः—‘यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति’ इति । भगवतेयं विद्या भागवतानुद्धवादीन् प्रत्युक्ता । शिवस्तु योगी प्रसिद्ध एव । एवं च सर्वोत्तमैर्ब्रह्माविष्णुशिवैः सेवितेयं विद्या । न च ब्रह्मसूत्रकृता व्यासेन योगी निराकृत इति शङ्कनीयम् । प्रकृतिस्वातंत्र्यविद्भिर्मेदांशमात्रस्य निराकरणात् । न तु भावनाविशेषरूपयोगस्य । भावनायाश्च सर्वसंमतत्वात्तां विना सुखस्याप्यसंभवात् तथोक्तं भगवद्गीतासु—‘नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना । न चाभावयतः शान्तिरशांतस्य कुतः सुखम् ॥’ इति । नारायणतीर्थैरप्युक्तम्—‘स्वातंत्र्यसत्यत्वमुखप्रधाने सत्यं च चिद्भेदगतं च वाक्यैः । व्यासो निराचष्ट न भावनाख्यं योगं स्वयं निर्मितब्रह्म सूत्रैः ॥ अपि चात्मपदं-योगं व्याकरोन्मतिमान्स्वयम् । भाष्यादिषु ततस्तत्र आचार्यप्रमुखैर्मतः ॥ मतो योगो भगवता गीतायामधिकोऽन्यतः । कृतः शुकादिभिस्तस्मादत्र संतो तिसादराः ॥’ इति । ‘वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् । अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥’ इति भगवदुक्तेः । किं बहुना ‘जिज्ञासुरपि योगस्थ शब्दब्रह्मातिवर्तते’ इति वदता भगवता योगजिज्ञासोरप्यौत्कृष्ट्यं वर्णितं किमुत योगिनः । नारदादिभक्तश्रेष्ठैर्याज्ञवल्क्यादिज्ञानिमुख्यैश्चास्याः सेवनाद्भक्तज्ञानिनामप्यविरुद्धेत्युपरम्यते ॥ ४ ॥

भाषार्थ—महान् पुरुषोंके माननेसे हठविद्याकी प्रशंसा करतेहुये ग्रंथकार अपनेकोभी महत्पुरुषोंसेही हठविद्याका लाभ हुआ है इससे अपनाभी गौरव ( बड़ाई ) द्योतन करते हैं कि, मत्स्येंद्र और गोरक्ष आदि हठविद्याको निश्चयसे विशेषकर जानते हैं यहां आद्यशब्दके

पढ़नेसे जालंधरनाथ, भर्तृहरि, गोपीचंद आदि भी जानते हैं यह सूचित किया—अर्थात् साधन, लक्षणभेद, फल इनको भी जानते हैं अथवा स्वात्माराम योगी भी गोरक्षआदिके प्रसादसे हठविद्याको जानता है—और सबके परम महान् ब्रह्मानेभी इस विद्याका सेवन किया है इसमें यह योगीयाज्ञवल्क्यकी स्मृति प्रमाण है कि, सबसे पुराने योगके वक्ता हिरण्यगर्भ हैं अन्य नहीं हैं—और कहना तभी होता है जब मानसव्यापार (मनसे विचार) पहिले होचुका हो वह मानसव्यापार आगम (वेद) लेना सोई इस श्रुतिमें लिखा है कि, जिसका मनसे ध्यान करता है उसकोही वाणीसे कहता है—भगवान् ने भी यह विद्या उद्धवआदि भागवतोंके प्रति कही है—और शिवजी तो योगी प्रसिद्ध ही है इससे ब्रह्मा विष्णु शिव इन्होंनेभी इस हठयोग विद्याका सेवन किया है—कदाचित् कहो कि, ब्रह्मसूत्रोंके कर्ता व्यासने योगका खंडन किया है सो ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृतिको स्वतन्त्र मानते हुए उन्होंने भेदरूप आशंकाका ही खण्डन किया है कुछ भावना विशेषरूप योगका खंडन नहीं किया है—और भावना तो व्यासको भी इससे संमत है कि भावनाके बिना सुख नहीं होसकता सोई भगवद्गीतामें कहा है जो योगी नहीं है उसका बुद्धि नहीं है और न उसको भावना होती है और—भावनाके बिना शांति नहीं होती और शांतिसे योग जिसको नहीं उसको सुख कहाँसे होसकता है । नारायणतीर्थोंने भी कहा है कि, स्वतन्त्र सत्यता है मुख्य जिसमें ऐसा सत्य जो चेतनके भेदसे प्रधान (प्रकृति) में प्रतीत होता है उसका खंडन वाक्योंसे व्यासजीने किया है कुछ अपने रचेहुए ब्रह्मसूत्रोंसे वर्णन किये भावना नामके योगका खंडन व्यासजीने नहीं किया है । और आत्माके प्रापकयोगका कथन बुद्धिमान व्यासजीने स्वयं किया है और तिसीसे भाव्य आदिमें आचार्यआदिकोंने माना है और भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्रने गीतामें अधिक योग माना है—और शुकदेव आदिकोंने भी योगको रचा है—तिससे इस योगमें बहुत सन्तोंका अत्यंत आदर है—और भगवान् ने गीतामेंभी कहा है कि, वेद—यज्ञ—तप—और दान इनमें जो पुण्य फल कहा है—उस सक्को योगी इस योगको जानकर लंघन करता है—और उत्तम जो सनातनका स्थान (ब्रह्म) है उसको प्राप्त होता है—और योगको जाननेका अभिलाषी भी शब्दब्रह्मसे अधिक होता है यह कहते हुए भगवान् ने योगके जिज्ञासुकोभी उत्तम वर्णन किया है—योगी तो उत्तम क्यों न होगा और भक्तोंमें श्रेष्ठ नारद आदि मुनियोंके मुख्य याज्ञवल्क्य आदिकोंने भी इस हठविद्याका सेवन किया है इससे भक्त और ज्ञानियोंकाभी इस विद्याके संग कुछ विरोध नहीं—इससे अधिक वर्णन करनेसे उपरामको प्राप्त होते हैं । भावार्थ—यह है कि, मत्स्येन्द्र और गोरक्षनाथ आदि हठविद्याको जानते हैं और उनकी कृपासे स्वात्माराम योगी ( मैं ) जानता हूँ ॥ ४ ॥

**श्रीआदिनाथमत्स्येन्द्रशाबरानंदभैरवाः ॥**

**चौरंगीमीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ॥ ५ ॥**

हठयोगे प्रवृत्तिं जनयितुं हठविद्यया प्राप्तैश्वर्यान्निश्चिनाह—श्रीआदिनाथेत्यादिना ॥ आदिनाथः शिवः सर्वेषां नाथानां प्रथमो नाथः । ततो नाथसंप्रदायः प्रवृत्त इति नाथसंप्रदायिनो वदन्ति । मत्स्येन्द्राख्यश्च आदिनाथशिष्यः । अत्रैवं किंवदन्ती कदाचिदादिनाथः कस्मिंश्चिद्वीपे स्थितः तत्र विजनामिति मत्वा गिरिजायै योगमुपदि-

( ८ )

हठयोगप्रदीपिका ।

ह्वान् । तीरसमीपनीरस्थः कश्चन मत्स्यः तं योगोपदेशं श्रुत्वा एकाग्रचित्तो निश्चल-  
 कायोऽवतस्ये । तं तादृशं दृष्ट्वानेन योगः श्रुत इति तं मत्वा कृपालुरादिनाथो जलेन  
 शोक्षितवान् । स च प्रोक्षणमात्राद्व्यकायो मत्स्येन्द्रः सिद्धोऽभूत् । तमेव मत्स्येन्द्रनाथ  
 इति वदन्ति । शाबरनामा कश्चित्सिद्धः । आनन्दभैरवनामान्यः । एतेषामितरेतरद्वन्द्वः ।  
 ब्रह्महस्तपादं पुरुषं हिंदुस्थानभाषायां चौरंगीति वदन्ति । कदाचिदादिनाथालम्बयो-  
 गस्थ भुवं पर्यटतो मत्स्येन्द्रनाथस्य कृपावलोकनमात्रात्कुत्रचिदरण्ये स्थितश्चौरंग्यंकुरेत-  
 द्दस्तपादो बभूव । स च तत्कृपया संजातहस्तपादोऽहमिति मत्वा तत्पादयोः प्रणिपत्य  
 भ्रमानुग्रहं कुर्विति प्रार्थितवान् । मत्स्येन्द्रोऽपि तमनुगृहीतवान् तस्यानुग्रहाच्चौरंगीति  
 सिद्धः सिद्धः सोऽभूत् । मीनो मीननाथः गोरक्षो गोरक्षनाथः विरूपाक्षनामा विलेश्य  
 नामा च । चौरंगीप्रभृतीनां द्वंद्वसमासः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—अब हठयोगमें श्रोताओंकी प्रवृत्तिके हेतु उन सिद्धोंका वर्णन करते हैं कि, जिनको  
 हठविद्यासे ऐश्वर्य मिलहै और श्रीआदिनाथ अर्थात् सब नाथोंमें प्रथम शिवजी, शिवजीसेही-  
 नाथसंप्रदाय चलाहै । यह नाथसंप्रदायी लोग कहतेहैं—और शिष्य मत्स्येन्द्र—यहां यह इति-  
 हास है किसी समयमें आदिनाथ किसी द्वीपमें स्थित थे वहां जनरहित देश समझकर पार्व-  
 तीके प्रति योगका उपदेश करतेथे तीरके समीप जलमें टिकाहुआ कोई मत्स्य उस योगोपदे-  
 शको सुनकर एकाग्रचित्त होकर निश्चल देह टिकताभया । निश्चलकाय उस मत्स्यको देखकर  
 और इतने योगका श्रवण किया यह मानकर कृपालु आदिनाथजीने उसके ऊपर जलका  
 सिंचन किया प्रोक्षण करनेसेही वह मत्स्येन्द्र सिद्ध होगया उसकोही मत्स्येन्द्रनाथ कहते हैं  
 और शाबर नामका सिद्ध और आनन्दभैरव और चौरंगी सिद्ध किसी समय आदिनाथसे मिला  
 है योग जिनको ऐसे योगेन्द्रनाथ भूमिमें रटतेथे उन्होंने कृपासे किसी वनमें टिकेहुए चौरंगीको  
 देखा उनके देखनेसेही चौरंगीके हाथ और पाद जम आये क्योंकि हिंदुस्थानकी भाषामें जिसके  
 हाथ पैर कटजाय उसे चौरंगी कहते हैं वह चौरंगी इन्हींकी कृपासे मेरे हाथ पैर हुए हैं यह  
 मानकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके यह प्रार्थना करता भया कि, मेरे ऊपर अनुग्रह करो  
 मत्स्येन्द्रने भी उसके ऊपर अनुग्रह किया उससे वह चौरंगी नामका सिद्ध प्रसिद्ध भया ।  
 और मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्षनाथ, विलेश्यनाथ ये सिद्ध हठयोगविद्याके हुए और ५॥

मंथानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कंथडिः ॥

कोरंटकः सुरानन्दः सिद्धिपादश्च चर्पटिः ॥ ६ ॥

कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरंजनः ॥

कपाली बिंदुनाथश्च काकचंडीश्वराह्वयः ॥ ७ ॥

अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडा चोली च टिंतिणिः ॥

भानुकी नारदेवश्च खंडः कापालिकस्तथा ॥ ८ ॥

इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ॥

खंडयित्वा कालदंडं ब्रह्मांडे विचरन्ति ते ॥ ९ ॥

मन्थान इति ॥ मन्थानः भैरवः योगीति मन्थानप्रभृतीनां सर्वेषां विशेषणम् ॥ ६ ॥  
कानेरीति ॥ काकचंडीश्वर इत्यादयो नाम यस्य स तथा अन्ये स्पष्टाः ॥ ७ ॥  
अल्लाम इति ॥ तथाशब्दः समुच्चये ॥ ८ ॥ इत्यादय इति पूर्वोक्ता आदयो येषां ते  
तथा । आदिशब्देन तारानाथादयो ग्राह्याः । महान्तश्च सिद्धाश्च अप्रतिहतैश्वर्या इत्यर्थः ।  
हठयोगस्य प्रभावात्सामर्थ्यादिति हठयोगप्रभावतः । पंचम्यास्तसिद्ध । कालो मृत्युः  
तस्य दंडनं दंडः देहप्राणवियोगानुकूलो व्यापारः तं खंडयित्वा छित्त्वा । मृत्युं जित्वे-  
त्यर्थः । ब्रह्मांडमध्ये विचरन्ति विशेषेणाव्याहतगत्या चरन्तीत्यर्थः । तदुक्तं भागवते—  
'योगेश्वराणां गतिमाहुरंतर्बहिःखिलोक्त्याः पवनान्तरात्मनाम्' इति ॥ ९ ॥

भाषार्थ—मन्थान-भैरव-सिद्धि-बुद्ध-कन्थडि-कोरंटक-सुरानन्द-सिद्ध-पाद-चर्पटी-कानेरी-पूज्यपाद-  
नित्यनाथ-निरंजन-कपालि-विन्दुनाथ-काकचण्डीश्वर-अल्लाम-प्रभु-देव-घोडा-चोली-टिंटिणि-भानु-  
की-नारदेव-खण्डकापालिक ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ इत्यादि पूर्वोक्त महासिद्ध यहां आदि-  
पदसे तारानाथ आदि लेने हठयोगके प्रभावसे कालके दण्डको खण्डन करके अर्थात् देह  
और प्राण वियोगके जनक मृत्युको जीतकर ब्रह्मांडके मध्यमें विचरते हैं अर्थात् अपनी  
इच्छाके अनुसार ब्रह्मांडमें चाहें जहां जा सकते हैं सोई भागवतमें इस वचनसे कहा है कि,  
पवनके मध्यमें हैं मन जिनका ऐसे योगीश्वरोंकी गति त्रिलोकीके भीतर और बाहर होती  
है ॥ ९ ॥

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः ॥

अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः ॥ १० ॥

हठस्याशेषतापनाशकत्वमशेषयोगसाधकत्वं च मठकमठरूपकेणाह-अशेषेति ॥  
अशेषाः आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदेन त्रिविधाः । तत्राध्यात्मिकं द्विविधम् ।  
शारीरं मानसं च । तत्र शारीरं दुःखं व्याधिजं मानसं दुःखं कामादिजम् । आधि-  
भौतिकं व्याघ्रसर्पादिजनिजम् आधिदैविकं ग्रहादिजनितम् । ते च ते तापाश्च तैस्त-  
प्तानां संतप्तानां पुंसां हठो हठयोगः सम्यगाश्रीयत इति समाश्रयः आश्रयः आश्रयभूतो  
मठः मठ एव । तथा हठः अशेषयोगयुक्तानां अशेषयोगयुक्ताः मंत्रयोगकर्मयोगा-  
दियुक्तास्तेषामाधारभूतः कमठः एवम् । त्रिविधतापतप्तानां पुंसाम् आश्रयो हठः ।  
यथा च विश्वाधारः कमठः एवं निखिलयोगिनामाधारो हठ इत्यर्थः ॥ १० ॥

भाषार्थ—अब हठयोगको संपूर्ण तापोंका नाशक और संपूर्ण योगोंका साधक मठ कमठ-  
रूपसे वर्णन करते हैं कि, संपूर्ण जो आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक तीन प्रकारके  
ताप उनसे तपायमान मनुष्योंको हठयोग समाश्रय मठ ( रहनेका घर ) रूप है । उन तापोंमें

आध्यात्मिक ताप दो प्रकारका है—शारीर और मानस । उनमें शरीरका दुःख व्याधिसे होता है और मनका दुःख काम आदिसे होता है और व्याघ्र सर्प आदिसे उत्पन्न हुये दुःखको आधिभौतिक कहते हैं और सूर्य आदि ग्रहोंसे उत्पन्न हुये दुःखको आधिदैविक कहते हैं इन तीन प्रकारके तापोंसे तप्त मनुष्योंको हठयोग इस प्रकार सुखदायी है । जैसे सूर्यसे तपायमान मनुष्योंको घर होता है और अशेष ( संपूर्ण ) योगोंसे युक्त जो पुरुष है उनका आधार इस प्रकार हठयोग है जैसे सम्पूर्ण जगत्का आधार कमठ है अर्थात् कच्छपरूप भगवान्‌रूप है । भावार्थ यह है कि, सम्पूर्ण तापोंसे तपायमान मनुष्योंका आश्रय मठरूप और सम्पूर्ण योगियोंका आधार ( आश्रय ) कमठरूप हठयोग है ॥ १० ॥

**हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ॥**

**भवेद्दीर्घवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता ॥ ११ ॥**

अथाखिलविद्यापेक्षया हठविद्याया अतिगोप्यत्वमाह—हठविद्येति ॥ सिद्धिमाणिमाद्यैश्वर्यमिच्छता यद्वा सिद्धिं कैवल्यसिद्धिमिच्छता वाञ्छता योगिना हठयोगविद्या परमत्यंतं गोप्या गोपनीया गोपनार्हास्तीति । तत्र हेतुमाह—यतो गुप्ता हठविद्या वीर्यवत्यप्रतिहतैश्वर्यजननसमर्था स्यात् । कैवल्यजननसमर्था कैवल्यसिद्धिजननसमर्था वा स्यात् । अथ योगाधिकारी । ‘जिताक्षाय शांताय सक्ताय मुक्तौ विहीनाय दोषैरसक्ताय मुक्तौ । अहीनाय दोषैरैरुक्तकर्त्रे प्रदेयो न देयो हठश्चेतरस्मै ॥ ’ याज्ञवल्क्यः—‘विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः । यमैश्च नियमैर्युक्तः सर्वसंगविवर्जितः ॥ कृतविद्यो जितक्रोधः सत्यधर्मपरायणः । गुरुशुश्रूषणरतः पितृमातृपरायणः ॥ स्वाश्रमस्थः सदाचारो विद्वद्भिश्च सुशिक्षितः ॥’ इति । ‘शिश्रोदररतायैव न देयं वेषधारिणे’ इति कुत्रचित् । अत्र योगचिंतामणिकाराः यद्यपि—‘ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनम् । शांतये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये’ इत्यादि पुराणवाक्येषु प्राणिमात्रस्य योगेऽधिकार उपलभ्यते । तथापि मोक्षरूपं फलं योगे विरक्तस्यैव भवति । अतस्तस्यैव योगाधिकार उचितः । तथा च वायुसंहितायाम्—“दृष्टे तथानुश्रविके विरक्तं विषये मनः । यस्य तस्याधिकारोऽस्मिन्योगे नान्यस्य कस्यचित् ॥ ” सुरेश्वराचार्याः—‘इहामुत्र विरक्तस्य संसारं प्रजिहासतः । जिज्ञासोरेव कस्यापि योगेऽस्मिन्नधिकारिता ॥’ इत्याहुः । वृद्धैरप्युक्तम्—“नैतद्देयं दुर्विनीताय जातु ज्ञानं गुप्तं तद्धि सम्यक्फलाय । अस्थाने हि स्थाप्यमानैव वाचां देवी कोपाग्निर्देहो चिराय ॥” इति ॥ ११ ॥

भाषार्थ—अब संपूर्ण विद्याओंकी अपेक्षा हठयोग विद्याको अत्यंत गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं—सिद्धि अर्थात् अणिमा आदि ऐश्वर्य वा मोक्षके अभिलाषी योगीको हठविद्या अत्यंत गुप्त करने योग्य है क्योंकि, गुप्त कीहुई हठविद्या वीर्यवाली होती है अर्थात् ऐसे ऐश्वर्यको पैदा करती है कि, जो कदाचित् न डिगसकै और प्रकाश करनेसे वीर्यसे रहित हो जाती है

अब प्रसंगसे योगीके अधिकारीका वर्णन करते हैं कि जितेन्द्रिय शान्त भोगोंमें आसक्त न हों और दोषोंसे रहित हो और मुक्तिका अभिलाषी हो और दोषोंसे अन्य जो संसारके धर्म हैं उनसे हीन न हो और आज्ञाकारी हो उसको ही हठयोगविद्या देनी अन्यको नहीं । याज्ञवल्क्यने भी कहा है कि, शास्त्रोक्त कर्मोंसे युक्त कामना और संकल्पसे रहित यम और नियमसे युक्त और संपूर्ण संगोंसे वर्जित और विद्यासे युक्त क्रोधरहित सत्य और धर्ममें परायण गुरुकी सेवामें रत पिता और माताका भक्त अपने गृहस्थ आदि आश्रममें स्थित श्रेष्ठ आचारी और विद्वानोंने जिसको भलीप्रकार शिक्षा दी हो ऐसा पुरुष योगका अधिकारी होता है और यह भी कहीं लिखा है कि, जो योगीका वेषधारी कामदेव और उदरके वशीभूत हो उसको योगका उपदेश न करे ? इस विषयमें योगचिन्तामणिके कर्ता तो यह कहते हैं कि, यद्यपि इत्यादि पुराणवचनोंमें प्राणिमात्रको योगमें अधिकार मिलता है कि, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र स्त्री इनको पवित्र करनेवाला कर्मोंकी शांतिके लिये और मुक्तिके अर्थ योगसे अन्य नहीं है तो भी मोक्षरूप जो फल है वह योगसे विरक्तकोही होता है इससे विरक्तकोही योगका अधिकार उचित है सोही वायुसंहितामें लिखा है कि, लौकिक और वेदोक्त विषयोंमें जिसका मन विरक्त है उसकाही इस योगमें अधिकार है अन्य किसीका नहीं है । सुरेश्वराचार्यने भी कहा है कि इस लोक और परलोकके विषयोंमें जो विरक्त मनुष्य संसारके त्यागका अभिलाषी है ऐसे किसीही जिज्ञासु पुरुषका योगमें अधिकार है—इति । वृद्धोंने भी कहा है कि, यह योग दुर्विनीत ( क्रोधी ) को कदाचित् न देना क्योंकि गुप्त रखवाहुआ योग भली प्रकारके फलको देता है और अस्थान ( कुपात्र ) में स्थापन करतेही क्रोधहुयी वाणी उसी समय दग्ध करती है कुछ चिरकालमें नहीं, भावार्थ यह है कि, सिद्धिका अभिलाषी योगी हठविद्याको भलीप्रकार गुप्त रखे क्योंकि गुप्त रखनेसे वीर्यवाली और प्रकाश करनेसे वीर्यरहित होती है ॥ ११ ॥

**सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ॥**

**धनुःप्रमाणपर्यंतं शिलाग्निजलवर्जिते ॥**

**एकांते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ॥ १२ ॥**

अथ हठाभ्यासयोग्यं देशमाह सार्धेन—सुराज्य इति ॥ राज्ञः कर्म भावो वा राज्यं तच्छोभनं यस्मिन्स सुराज्यस्तस्मिन्सुराज्ये । 'यथा राजा तथा प्रजा' इति महुक्तेः राज्ञः शोभनत्वात्प्रजानामपि शोभनत्वं सूचितम् । धार्मिके धर्मवति अनेन हठाभ्यासिनोऽनुकूलाहारादिलभः सूचितः । सुभिक्ष इत्यनेनानायासेन तल्लभः सूचितः । निरुपद्रवे चौरव्याघ्राद्युपद्रवरहिते । एतेन देशस्य दीर्घकालवासयोग्यता सूचिता । धनुषः प्रमाणं धनुः प्रमाणं चतुर्हस्तमात्रं तत्पर्यंतं शिलाग्निजलवर्जिते शिला प्रस्तरः अग्निर्वाहिः जलं तोयं तैर्वर्जिते रहिते यत्रासनं ततश्चतुर्हस्तमात्रे शिलाग्निजलानि न स्युरित्यर्थः । तेन शीतोष्णविकाराभावः सूचितः । एकांते विजने । अनेन जनसमागमामावात्कलहाद्यभावः सूचितः । जनसंमर्दे तु कलहादिकं स्यादेव । तदुक्तं

भागवते—‘ वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि ’ इति । तादृशे मठिकामध्ये । अल्पो मठो मठिका । अल्पीयासि कन् । तस्याः मध्ये हठयोगिना हठाभ्यासी योगी हठयोगी तेन । शाकपार्थिवादिवत्समासः । स्थातव्यं स्थातुं योग्यम् । मठिकामध्य इत्यनेन शीतातपादिजनितक्लेशाभावः सूचितः । अत्र ‘ युक्ताहारविहारेण हठयोगस्य सिद्धये । ’ इत्यर्थं केनचित्क्षिप्तत्वाच्च व्याख्यातम् । मूलश्लोकाणामेव व्याख्यानम् । एवमग्रेऽपि ये मया न व्याख्याताः श्लोका हठप्रदीपिकायामुपलभ्येरंस्ते सर्वे क्षिता इति बोद्धव्यम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—अब डेढ श्लोकसे हठयोगाभ्यासके योग्य देशका वर्णन करते हैं कि, जिस देशमें अच्छा राजा हो क्योंकि जैसा राजा वैसीही प्रजा इस महान् पुरुषोंके वचनसे शोभन राजाके होनेपर प्रजाभी शोभन होगी यह सूचित समझना । और जो देश धर्मवान् हो इससे यह सूचित किया कि, धार्मिक देशमें हठयोगके अभ्यासीको अनुकूल भोजन आदिका लाभ होता रहेगा और जिस देशमें भिक्षा अच्छी मिलती हो इससे यह सूचित किया कि, विना परिश्रम भिक्षाका लाभ होगा और जो चोर और व्याघ्र आदिके उपद्रवोंसे रहित हो इससे यह सूचित किया कि, वह देश दीर्घ कालतक वसने योग्य है और जहां आसन हो उसके चारों तरफ, धनुष प्रमाण पर्यंत ( ४ हाथभर ) शिला अग्नि जल ये न हों इससे शीत उष्णके विकारका अभाव सूचित किया और जो एकांत ( विजन ) हो इससे जनोंके समागमाभावसे कलह आदिका अभाव सूचित किया, क्योंकि जहां जनोंका समूह होता है वहां कलह आदि होते ही हैं सोही भागवतमें कहा है कि, बहुत मनुष्योंके वासमें कलह होता है और दो मनुष्योंकी भी बात होने लगती हैं ऐसे पूर्वोक्त देशमें जो मठिका ( छोटा गृह ) उसके मध्यमें हठयोगका अभ्यासी योगी अपनी स्थिति करने योग्य है इससे शीत घूप आदिके क्लेशका अभाव सूचित किया । यहां किसीने यह आधा श्लोक प्रक्षिप्त ( बनाकर ) लिखा है उसका हमने अर्थ नहीं लिखा कि, वह प्रक्षिप्त है, क्योंकि मूलके श्लोकोंकाही व्याख्यान हमने किया है इसी प्रकार आगे भी जिन श्लोकोंका हमने व्याख्यान नहीं किया और वे हठदीपिकामें मिलजाय तो वे सब प्रक्षिप्त जानने । भावार्थ यह है कि, जहाँ सुंदर राज्य हो जो धार्मिक हों जहाँ सुभिक्ष हो उपद्रव न हो और जहां धनुषके प्रमाणपर्यंत शिला अग्नि जल ये न हो और जो एकान्त हो ऐसे देशमें छोटासा मठ बनाकर हठयोगी रहै ॥ १२ ॥

**अल्पद्वारमरं धर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं**

**सम्यग्गोमयसांद्रलितममलं निःशेषजंतूज्झितम् ॥**

**बाह्ये मंडपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितं**

**प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धे हठाभ्यासिभिः ॥ १३ ॥**

अथ मठलक्षणमाह—अल्पद्वारमिति ॥ अल्पं द्वारं यस्मिंस्तत्तादृशम् । रंघ्रो गवाक्षादिः गर्तो निम्नप्रदेशः विवरो मूषकादिविलं ते न संति यस्मिंस्तत्तादृशम् ।

अत्युच्चं च तन्नीचं चात्युच्चनीचं तच्च तदायतं चात्युच्चनीचायतम् । विशेषणं विशेष्येण बहुलमित्यत्र बहुलग्रहणाद्विशेषणानां कर्मधारयः । ननूच्चनीचायतशब्दानां भिन्नार्थकानां कथं कर्मधारयः । तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारय इति तल्लक्षणादिति चेन्न । मठे तेषां सामानाधिकरण्यासंभवात् । न चात्युच्चनीचायतं नात्युच्चनीचायतं नशब्देन समासान्नलोपाभावः नेति पृथक् पदं वा । अत्युच्चे आरोहणे श्रमः स्यादतिनीचेऽवरोहणे श्रमो भवेत् । अत्यायते दूरं दृष्टिर्गच्छेत्तन्निराकरणार्थमुक्तं नात्युच्चनीचायतमिति । सम्यक्समीचीनतया गोमयेन गोपुरीषेण सांद्रं यथा भवति तथा लिप्तम् । अमलं निर्मलं निःशेषा निखिला ये जंतवो मशकमत्कुणाद्यास्तैरुज्झितं त्यक्तं रहितं बाह्ये मठाद्बहिःप्रदेशे मंडपः शालाविशेषः वेदिः परिष्कृता भूमिः कूपो जलाशयविशेषः तै रुचिरं रमणीयं प्राकारेण वरणेन सम्यग्वेष्टितं परितो भित्तियुक्तमित्यर्थः । हठाभ्यासिभिः हठयोगाभ्यसनशीलैः सिद्धैः । इदं पूर्वोक्तमल्पद्वारादिकं योगमठस्य लक्षणं स्वरूपं प्रोक्तं कथितम् । नन्दिकेश्वरपुराणे त्वेवं मठलक्षणमुक्तम्—  
‘मंदिरं रम्यविन्यासं मनोज्ञं गंधवासितम् । धूपामोदादिसुरभि कुसुमोत्करमंडितम् ॥  
मुनितीर्थनदीवृक्षपाद्मिनीशैलशोभितम् । चित्रकर्मनिबद्धं च चित्रमेदविचित्रितम् ॥  
कुर्याद्योगगृहं धौमान्सुरम्यं शुभवर्त्मना । दृष्ट्वा चित्रगताञ्छांतान्मुनीन्याति मनः  
शमम् ॥ सिद्धान्दष्ट्वा चित्रगतान्मतिरभ्युद्यमे भवेत् । मध्ये योगगृहस्याथ लिखेत्सं-  
सारमंडलम् ॥ श्मशानं च महाघोरं नरकांश्च लिखेत्कचित् । तान्दष्ट्वा भीषणाकारान्सं-  
सारे सारवाजंते ॥ अनवसादो भवति योगी सिद्धयभिलाषुकः । पश्यंश्च व्याधितान्  
जंतून्तान्मत्तांश्चलद्गुणान्’ ॥ १३ ॥

भाषार्थ—अब मठके लक्षणका वर्णन करते हैं कि, जिसका छोटा द्वार हो और जिसमें गवाक्ष आदि रंध ( छिद्र ) न हों और गर्त ( गढा ) न हो और जिसमें मूसे आदिका विवर ( बिल ) न हो और न अत्यन्त ऊँचा हो और न अत्यन्त नीचाहो और न अत्यन्त विस्तारसे युक्त हो क्योंकि अत्यंत ऊँचेपर चढ़नेमें और अत्यंत नीचेसे उतरनेमें श्रम होताहै और अत्यन्त विस्तार संयुक्तमें दूर दृष्टि जातीहै इससे इन सब आसनोंका निषेध किया है । कदाचित् कहो कि, अत्युच्च नीच आयत इन तीनों शब्दोंका अर्थ भिन्न २ है इससे इनका कर्मधारय समास कैसे होगा क्योंकि कर्मधारय समास उन पदोंका हुआ करेहै जिनका अर्थ एक हुआ करताहै सोई इस सूत्रमें लिखा है कि, समानाधिकरण तत्पुरुषको कर्मधारय कहते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि मठमें तीनों पदोंका सामानाधिकरण्य है अर्थात् अत्युच्चनीचआयतरूप जो मठ उससे भिन्न मठ हो क्योंकि अत्युच्चनीचआयत शब्दके संग नशब्दको समास होताहै और न लोप नहीं होता अथवा न यह पृथक्ही पद है इससे यह विशेषण विशेष्यके संग समासको प्राप्त होताहै इस सूत्रसे कर्मधाराय समास करनेमें कोई भी शंका नहीं है । और जो मठ भली प्रकार चिकने गोबरसे लिपा हो और निर्मल ( स्वच्छ ) हो और जो मशक मत्कुण आदि जंतुओंसे रहित हो और जो मठके बाहर देशमें मंडप वे दी कूप इनसे शोभित हो और जो भलीप्रकार प्राकार ( परकोटा ) से वेष्टित ( भीतसे

युक्त ) हो यह पूर्वोक्त योगमठका लक्षण हठयोगके अभ्यास करनेवाले सिद्धोंने कहा है । नंदिकेश्वर पुराणमें तो यह मठका लक्षण कहा है कि, जिस मंदिरकी रचना रमणीय हो, जो मनको प्रिय हो, सुगंधित हो, धूपकी अत्यन्त गंधसे सुगंधित हो, पुष्पोंके समूहसे मंडित हो और जो मुनि तीर्थ नदी वृक्ष कमलिनी पर्वत इनसे शोभित हो और जिसमें चित्राम निकसे हों और जो चित्रोंके भेदसे विचित्र हो बुद्धिमान मनुष्य ऐसे रमणिय योगघरको शुभ मार्गसे करै क्योंकि चित्रामोंमें लिखे शांत मुनियोंको देखकर मन शांत होता है और चित्रामोंके सिद्धोंको देखकर बुद्धिमें उद्यम बढ़ता है । योगघरके मध्यमें संसारके मंडलको लिखै और कहीं २ श्मशान और घोर नरकोंको लिखै क्योंकि उन भयानक नरकोंको देखकर सिद्धिके अभिलाषी योगीको असार संसारमें अनवसाद ( अनिश्चय ) होता है क्योंकि नरकोंमें रोगी उन्मत्त व्रणी ( धाववाले ) जंतु दीखते हैं अर्थात् योगमें प्रवृत्ति न होगी तो ऐसेही नरक मुझे भी मिलेंगे । भावार्थ यह है कि, जिसका छोटासा द्वारहो जिसमें छिद्र गढे बिल न हों और जो अत्यन्त ऊंचा विस्तृत न हो और जो भलीप्रकार चिकने गोमयसे लिपाहो और जो स्वच्छ हो और जिसमें कोई जीव न हो और जिसके बाहर मंडपवेदी कूप हो और शोभित हो और जिसके चारों तर्फ प्राकार ( भीत ) हो यह योगमठका लक्षण हठयोगके अभ्यास कर्ता सिद्धोंने कहा है ॥ १३ ॥

**एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वाचिंताविवर्जितः ।**

**गुरुपादिष्टमार्गेण योगमेव समभ्यसेत् ॥ १४ ॥**

मठलक्षणमुक्त्वा मठे यत्कर्तव्यं तदाह—एवंविध इति ॥ एवं पूर्वोक्ता विधा प्रकारो यस्य तथा पूर्वोक्तलक्षण इत्यर्थः । तस्मिन्स्थित्वा स्थितिकृत्वा सर्वा यश्चिंतास्ताभिर्विशेषेण वर्जितो रहितोऽशेषचिन्तारहितः । गुरुणोपदिष्टो यो मार्गः इठाभ्यासप्रकाररूपस्तेन सदा नित्यं योगमेवाभ्यसेत् एवंशब्देनाभ्यासांतरस्य योगे विघ्नकरत्वं सूचितम् । तदुक्तं योगबीजे—‘मरुज्जयो यस्य सिद्धस्तं सेवेत गुरुं सदा । गुरुवक्त्रपसादेन कुर्यात्प्राणजयं बुधः॥’ राजयोगे—‘वेदांततर्कोक्तिभिरागमैश्च नानाविधैः शास्त्रकदंबकैश्च । ध्यानादिभिः सत्करणैर्न गम्यश्चिंतामणिर्ह्येकगुरुं विहाय ॥’ स्कंदपुराणे—‘ आचार्याद्योगसर्वस्वमवाप्य स्थिरधीः स्वयम् । यथोक्तं लभते तेन प्राप्नोत्यपि च निर्वृतिम् ॥ सुरेश्वराचार्यः—‘गुरुपसादालभते योगमष्टांगसंयुतम् । शिवपसादालभते योगसिद्धिं च शाश्वतीम् ॥ यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशंते महात्मनः ॥ इति । श्रुतिश्च ‘आचार्यवान्पुरुषो वेद’ इति च ॥ १४ ॥

भावार्थ—मठके लक्षण कहकर मठमें करने योग्य कर्मोंको कहते हैं कि, संपूर्ण चिंताओंसे रहित मनुष्य इस प्रकारके मठमें स्थित होकर गुरुने उपदेश किया जो मार्ग उससे सदैव योगका अभ्यास करै । और यहां एवं पदसे यह सूचित किया कि, अन्य कर्मका अभ्यास विघ्नकारी होता है सोई योगबजिमें कहा है कि, जिसने वायुको जीत रक्खाहो उस गुरुकी सदैव सेवा

करै और बुद्धिमान मनुष्य गुरुके मुखारविंदके प्रसादसे प्राणोंका जय करै । राजयोगमें भी लिखा है कि, वेदांत और तर्कोंके वचन वेद और नाना प्रकारके शास्त्रोंके समूह और ध्यान आदि और वशीभूत इन्द्रियें इनसे चिन्तामणि ( योग ) की प्राप्ति एक गुरुको छोड़कर नहीं होती अर्थात् गुरुके द्वारा ही योगकी प्राप्ति होती है । स्कंदपुराणमें भी लिखा है कि, स्थिर बुद्धि मनुष्य आचार्य गुरुके योगके सर्वस्व ( पूर्ण ) को जानकर यथोक्त ( शास्त्रोक्त ) फलको प्राप्त होताहै और निर्वृति ( आनन्द ) कोभी प्राप्त होताहै, सुरेश्वराचार्यने भी कहाहै कि, गुरुके प्रसादसे अष्टांगसहित योगको प्राप्त होताहै और शिवजीके प्रसादसे सनातनकी जो योग-सिद्धि उसको प्राप्त होताहै जिसकी देवतामें परम भक्ति है और जैसी देवतामें है वैसी ही भक्ति गुरुमें है उस महात्माको शास्त्रमें कहे ये सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं और श्रुतिमें भी कहा है कि, वही पुरुष जानताहै जो आचार्यवाला है । भावार्थ यह है कि, इस पूर्वोक्त प्रकारके मठमें स्थित होकर संपूर्ण चिन्ताओंसे रहित मनुष्य गुरुके उपदेश किये मार्गसे सदैव योगका अभ्यास करै ॥ १४ ॥

**अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ॥**

**जनसंगश्च लोल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥ १५ ॥**

अथ योगाभ्यासप्रतिबंधकानाह-अत्याहार इति ॥ अतिशयित आहारोऽत्याहारः । क्षुधापेक्षयाधिकभोजनम् । प्रयासः श्रमजननानुकूलो व्यापारः । प्रकृष्टो जल्पः प्रजल्पो बहुभाषणं शीतोदकेन प्रातःस्नाननक्तभोजनफलाहारादिरूपानियमस्य ग्रहणं नियमग्रहः । जनानां संगो जनसंगः आगादिज कत्वात् । लोलस्य भावः लोल्यं चांचल्यम् । षड्भिरत्याहारादिभिरभ्यासप्रतिबंधात् । योगो विनश्यति विशेषेण नश्यति ॥ १५ ॥

भाषार्थ-अब योगाभ्यासके प्रतिबंधकोंको कहते हैं कि, अत्याहार अर्थात् क्षुधासे अधिक भोजन प्रयास अर्थात् परिश्रम जिसमें हो ऐसा व्यापार प्रजल्प ( बहुत बोलना ) नियमोंक ग्रहण अर्थात् शीतल जलसे प्रातःकालस्नान, रात्रिमें ही भोजन फलाहार आदिका नियम करना और जनोंका संग क्योंकि वहभी काम आदिको पैदा करता है और चंचलता इन अत्याहार आदि छः इसे योग विशेषकर नष्ट होता है ॥ १५ ॥

**उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ॥**

**जनसंगपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥ १६ ॥**

अथ योगसिद्धिकरानाह-उत्साहादिति ॥ विषयप्रवणं चित्तं निरोत्स्याम्येवेष्टुमम् उत्साहः । साध्यत्वासाध्यत्वे परिभाव्य सहसा प्रवृत्तिः साहसम् । यावज्जीवनं सेत्स्यत्येत्यखेदो धैर्यम् । विषया मृगतृष्णाजलवदसंतः, ब्रह्मैव सत्यामिति वास्तविकं ज्ञानं तत्त्वज्ञानं योगानां वास्तविकं ज्ञानं वा । शास्त्रगुरुवाक्येषु विश्वासो निश्चयः श्रद्धेति यावत् । जनानां योगाभ्यासः प्रतिकूलानां यः संगस्तस्य परित्यागात् । षड्भिर्योगः प्रकर्षणाविलंबेन सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

भाषार्थ—अब योगके साधकोंको कहते हैं कि, विषयोंमें लगे चित्तकोभी रोकलूंगा यह उद्य-  
मरूप उत्साह और साध्य असाध्यको विचार कर शीघ्र प्रवृत्तिरूप साहस और धैर्य जीवन  
पर्यंतमें तो सिद्ध होहीगा इस खेदके अभावको धैर्य कहते हैं और मृगतृष्णाके जलकी तुल्य  
विषय मिथ्या है और ब्रह्मही सत्य है यह वास्तविक ( सत्य ) ज्ञानरूप तत्त्वज्ञान और निश्चय  
अर्थात् शास्त्र और गुरुके वाक्योंमें विश्वास श्रद्धा और योगाभ्यासके विरोधी जनोंका जो समा-  
गम परित्याग इन छः वस्तुओंसे योग शीघ्र सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

अथ यमनियमाः ।

“अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः ॥  
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ॥ १ ॥  
तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ॥  
सिद्धांतवाक्यश्रवणं हीमती च तपो हुतम् ॥ २ ॥  
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ॥”

भाषार्थ—हिंसाका त्याग, सत्य, चोरीका त्याग, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धीरता, दया, नम्रता, प्रेमि-  
तभोजन और शुचिता ये दश यम कहाते हैं—और तप, संतोष, आस्तिकता, ( परलोकको  
मानना ) दान, ईश्वरका पूजन, सिद्धांतवाक्योंका श्रवण, लज्जा, बुद्धि, तप और होम ये दश  
नियम योगशास्त्रके पंडितोंने कहे हैं ॥ १ ॥ २ ॥ ये अट्ठाईश्लोक प्रक्षिप्त हैं ।

हठस्य प्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते ॥

कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चाङ्गलाचवम् ॥ १७ ॥

आदावासनकथने संगतिं सामान्यतस्तत्फलं चाह—हठस्येति ॥ हठस्य आसनं कुम्भकं  
चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा । अथ नादानुसंधानम् इति वक्ष्यमाणानि चत्वार्यङ्गानि ।  
प्रत्याहारादिसमाध्यंतानां नादानुसंधानेऽतर्भावः । तन्मध्ये आसनस्य प्रथमाङ्गत्वात्पूर्व-  
मासनमुच्यत इति संबंधः । तदासनस्थैर्यं देहस्य मनसश्चाञ्चल्यरूपरजोधर्मनाशक-  
त्वेन स्थिरतां कुर्यात् । ‘आसनेन रजो हन्ति’ इति वाक्यात् । आरोग्यं चित्तविक्षेप-  
करोगाभावः । रोगस्य चित्तविक्षेपकत्वमुक्तं पातंजलसूत्रे—‘व्याधिरुत्थानसंशयप्रमादा-  
लस्याविरतिभ्रांतिदर्शनालब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तैः स्तरायाः’ इति ।  
अङ्गानां लाघवं लघुत्वं गौरवरूपतमोधर्मनाशकत्वमप्येतानोक्तम् ॥ चकारात्क्षुब्धवृद्ध्या-  
दिकमपि बोध्यम् ॥ १७ ॥

भाषार्थ—प्रथम आसनके कथनमें संगतिको और आसनके फलको कहते हैं कि, हठयोगका  
प्रथम अङ्ग होनेसे आसनको प्रथम कहते हैं कि, ये योगके चार अङ्ग कहेंगे कि, आसन  
कुम्भक ( प्राणायाम ) विचित्र मुद्राओंको करना और नादका अनुसंधान और प्रत्याहारसे समा-  
धिपर्यंतोंका अंतर्भाव नादमें है उन चारोंमें आसन प्रथम अङ्ग है इससे उसकाही पहिले वर्णन

करते हैं कि, तिस आसनकी स्थिरता इसलिये करें कि, देह और मनकी चंचलत्वरूप जो रजोगुणका धर्म उसका नाशक आसनहै क्योंकि इस वचनमें यह लिखाहै कि, योगी आसनसे रजोगुणको नष्ट करताहै और आरोग्यकारक है अर्थात् चित्तको विक्षेपक रोग नहीं होताहै क्योंकि पतंजलिके इस सूत्रमें रोगकोभी चित्तका विक्षेपक कहाहै कि, व्याधि-उत्थान-संशय-प्रमाद-आलस्य-अविरति-भ्रांति-दर्शन-अलब्धभूमि (पूर्वोक्त भूमियोंका न मिलना) अनवस्थित (चञ्चलता) ये चित्तके विक्षेपरूप विघ्न हैं और अंगोंका लाघव क्योंकि वह लाघव गौरवरूप तमोगुणके धर्मका नाशक है और चकारके पढ़नेसे क्षुधाकी वृद्धि आदिभी सम्झने अर्थात् ऐसा आसन हो जो स्थिर नीरोग अंगोंका लाघव उत्पन्न करे और जिससे क्षुधा न बढे ॥१७॥

**वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः ॥**

**अंगीकृतान्यासनानि कथ्यन्ते कानिचिन्मया ॥ १८ ॥**

वसिष्ठादिसंमतासनमध्ये श्रेष्ठानि मयोच्यन्त इत्याह-वसिष्ठाद्यैरिति ॥ वसिष्ठ आद्यो येषां याज्ञवल्क्यादीनां तैर्मुनिभिर्मननशीलैः । चकारान्मंत्रादिपरैः । मत्स्येन्द्र आद्यो येषां जालंधरनाथादीनां तैः । योगिभिः हठाभ्यासिभिः । चकारान्मुद्रादिपरैः । अंगीकृतानि चतुरशीत्यासनानि तन्मध्ये कानिचित् श्रेष्ठानि मया कथ्यन्ते । यद्यप्युभयोरपि मननहठाभ्यासौ स्तस्तथापि वसिष्ठादीनां मननं मुख्यं मत्स्येन्द्रादीनां हठाभ्यासो मुख्य इति पृथग्ग्रहणम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ-वसिष्ठ आदिकोंके समेत जो आसन हैं उनमें श्रेष्ठ २ आसनोंके वर्णनकी प्रतिज्ञा करते हैं कि, वसिष्ठ है आदिमें जिनके ऐसे मननके कर्ता मुनियोंने और चकारके पढ़नेसे मंत्रके ज्ञाताओंने और मत्स्येन्द्रहै आदिमें जिनके ऐसे योगियों (जालंधरनाथ आदि) ने अर्थात् हठयोगके अभ्यासियोंने और चकारके पढ़नेसे मुद्रा आदिके ज्ञाताओंने अंगीकार किये जो चौराशी ८४ आसन हैं उनमें कितनेके श्रेष्ठ आसनोंको मैं कहताहूँ यद्यपि दोनोंको मनन और हठयोगका अभ्यास था तथापि वसिष्ठ आदिकोंका तो मनन मुख्य रहा और मत्स्येन्द्र आदिकोंका हठयोगका अभ्यास मुख्य रहा इससे दोनोंको पृथक् पृथक् पढाहै ॥ १८ ॥

**जानूर्वोरंतरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ॥**

**ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ १९ ॥**

तत्र सुकरत्वात्प्रथमं स्वस्तिकासनमाह-जानूर्वोरिति ॥ जानु च ऊरुश्च । अत्र जानुशब्देन जानुसंनिहितो जंवाप्रदेशो ग्राह्यः । जंघोर्वोरिति पाठस्तु साधीयान् । तयोरंतरे मध्ये उभे पादयोस्तले तलप्रदेशौ कृत्वा ऋजुकायः समकायः यत्र समासीनो भवेत्तदासनं स्वस्तिकं स्वस्तिकारूपं प्रचक्षते वदन्ति । योगिन इति शेषः । श्रीधरेणोक्तम्--'ऊरुजंघांतराधाय प्रपदे जानुमध्यगे । योगिनो यदवस्थानं स्वस्तिकं तद्विदुर्बुधाः ॥' इति ॥ १९ ॥

भाषार्थ—स्वस्तिक आसनको कहते हैं कि जानु ( गोडे ) और जंघाओंके बीचमें चरणतल अर्थात् दोनों तरखाओंको लगाकर जो सावधानोपूर्वक बैठना उसे स्वस्तिक आसन कहते हैं ॥ १९ ॥

**सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ॥**

**दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखाकृति ॥ २० ॥**

गोमुखासनमाह—सव्य इति ॥ सव्ये वामे पृष्ठस्य पार्श्वे संप्रदायात्कटरेधो भागे दक्षिणं गुल्फं नितरां योजयेत् । गोमुखस्याकृतिर्यस्य तत्तादृशं गोमुखसंज्ञकमासनं भवेत् ॥ २० ॥

भाषार्थ—गोमुख आसनको कहते हैं कि, कटिके वामभागमें दहना गुल्फ टकना और दक्षिणभागमें वामटकनेको लगाकर जो गोमुखके समान आकार होजाताहै उसे गोमुखआसन कहते हैं ॥ २० ॥

**एकं पादं तथैकस्मिन्विन्यसेदूरुणि स्थितम् ॥**

**इतरस्मिन्तथा चोरुं वीरासनमिति रितम् ॥ २१ ॥**

वीरासनमाह—एकमिति ॥ एकं दक्षिणं पादम् । तथा पादपूरणे । एकास्मिन्वा-मोरुणि स्थितं विन्यसेत् । इतरस्मिन्वामे पादे ऊरुं दक्षिणं विन्यसेत् । तद्वीरासनमि-तीरितं कथितम् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—वीरासनको कहते हैं कि, एकचरणको वाम जंघापर और दूसरेको दक्षिण जंघापर रखकर वीरासन होताहै ॥ २१ ॥

**गुदं निरुद्धच गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ॥**

**कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥ २२ ॥**

कूर्मासनमाह—गुदमिति ॥ गुल्फाभ्यां गुदं निरुद्धच नियम्य व्युत्क्रमेण यत्र सम्यगाहितः स्थितो भवेत् । एतत्कूर्मासनं भवेत् । इति योगविदो विदुरि-त्यन्वयः ॥ २२ ॥

भाषार्थ—कूर्मासनको कहतेहैं दोनों टकनोंसे गुदाको विपरीत क्रमसे अर्थात् दक्षिणसे वाम-भाग वामसे दक्षिण भागको रोककर जो सावधानीसे बैठजाय उसे कूर्मासन कहते हैं ॥ २२ ॥

**पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरंतरे करौ ॥**

**निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ॥ २३ ॥**

कुक्कुटासनमाह—पद्मासनं त्विति ॥ पद्मासनं तु ऊर्वोरुपरि उत्तानचरणस्थापनरूपं सम्यक् स्थापयित्वा । जानुपदेन जानुसंनिहितो जंघाप्रदेशः । तच्च ऊरुश्च जानूरु

तयोरन्तरे मध्ये करौ निवेश्य भूमौ संस्थाप्य । करावित्यत्रापि संबध्यते । व्योमस्थं  
खस्थं पद्मासनसदृशं यत्तत्कुक्कुटासनम् ॥ २३ ॥

भाषार्थ—अब कुक्कुटासनको कहते हैं कि, पद्मासनको लगाकर अर्थात् जंघाओंके ऊपर  
उत्तान ( खड़े ) दोनों चरणोंको स्थापन करके और जानु ( गोड़े ) और जंघाओंके मध्य-  
भागमें दोनों हाथोंको लगाकर और उन दोनों हाथोंको भूमिमें स्थापन करके आकाशमें  
स्थित रहे पद्मासनके समान जो यह आसन है सो कुक्कुटासन कहाता है अर्थात् मुरगेके  
समान स्थिति करनी ॥ २३ ॥

**कुक्कुटासनबंधस्थो दोभ्यां संबध्य कंधराम् ॥**

**भवेत्कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ॥ २४ ॥**

उत्तानकूर्मकासनमाह—कुक्कुटासनेति ॥ कुक्कुटासनस्य यो बंधः पूर्वश्लोकोक्तस्त-  
स्मिन् स्थितः दोभ्यां बाहुभ्यां कंधरां ग्रीवां संबध्य कूर्मवदुत्तानो यस्मिन्भवेदेतदास-  
नमुत्तानकूर्मकं नाम ॥ २४ ॥

भाषार्थ—अब कूर्मासनको कहते हैं कि, कुक्कुटासनके बंधनमें स्थित होकर अर्थात् कुक्कु-  
टासनको लगाकर और दोनों भुजाओंसे कंधरा ( ग्रीवा ) को भली प्रकार बांधकर  
कूर्म ( कच्छप ) के समान उत्तान ( सीधा ) हो जाय तो यह उत्तानकूर्मासन कहाता  
है ॥ २४ ॥

**पादांगुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ॥**

**धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते ॥ २५ ॥**

धनुरासनमाह—पादांगुष्ठौ त्विति ॥ पाणिभ्यां पादयोरंगुष्ठौ गृहीत्वा श्रवणावधि  
कर्णपर्यंतं धनुष आकर्षणं यथा भवति तथा कुर्यात् । गृहीतांगुष्ठमेकं पाणिं  
प्रसारितं कृत्वा गृहीतांगुष्ठमितरं पाणिं कर्णपर्यंतमाकुंचितं कुर्यादित्यर्थः ।  
एतद्धनुरासनमुच्यते ॥ २५ ॥

भाषार्थ—अब धनुरासनको कहते हैं कि, दोनों पादोंके अंगुष्ठोंको हाथोंसे पकड़कर  
श्रवण ( कान ) पर्यंत धनुषके समान आकर्षण करै ( खींचै ) उसको धनुरासन कहते  
हैं ॥ २५ ॥

**वामोरुमूलापितदक्षपादं जानोर्बाहिर्वैष्टित-**

**वामपादम् ॥ प्रगृह्य तिष्ठेत्पश्चिर्तितांगः**

**श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ॥ २६ ॥**

मत्स्येन्द्रासनमाह—वामोर्विति ॥ वामोरुमूलापितः स्थापितो यो दक्षपादः तं संपदा-  
यात्प्रष्ठतोगतवामपाणिना गुल्फस्योपरिभागे परिगृह्य जानोर्दक्षिणपादजानोर्बाहिः प्रदेशे

वेष्टितो यो वामपादस्तं वामपादजानोर्बहिर्वेष्टितदक्षिणपाणिनांगुष्ठे प्रगृह्य । परिवर्तितांगः  
वामभागेन पृष्ठतो मुखं यथा स्यादेवं परिवर्तितं परावर्तितमंगं येन स तथा तादृशो यत्र  
तिष्ठेत् स्थितिं कुर्यात्तदासनं मत्स्येन्द्रनाथेनोदितं कथितं स्यात् । तदुदितत्वात्तन्नामकमेव  
वदन्ति । एवं दक्षोरुमूलार्पितवामपादं पृष्ठतो गतदक्षिणपाणिना प्रगृह्य वामजानोर्बहिर्वेष्टि-  
तदक्षपादं दक्षिणपादजानोर्बहिर्वेष्टितवामपाणिना प्रगृह्य । दक्षभागेन पृष्ठतो मुखं  
यथा स्यादेवं परिवर्तितांगश्चाभ्यसेत् ॥ २६ ॥

भाषार्थ—अब मत्स्येन्द्रासनको कहते हैं कि, वाम जंघाके मूलमें दक्षिण पादको रखकर और  
जानुसे बाहर वाम पादको हाथसे लपेटकर और पकड़कर और परिवर्तित अंग होकर अर्थात्  
वाम भागसे पीठकी तरफ मुखको करके जिस आसनमें ठिकै वह मत्स्येन्द्रनाथका कहा मत्स्ये-  
न्द्रासन होता है । इसीप्रकार दक्षिणजंघाके मूलमें वामपादको रखकर और पीठपर गये दक्षिण  
हाथसे उसको ग्रहण करके और वामजानुसे बाहर हाथसे लपेटे दक्षिणपादको दक्षिण पादकी  
जानुसे बाहर लपेटे फिर उसको वाम हाथसे ग्रहण करके और दक्षिणभागसे पीठकी तरफ  
मुखको करके भी हठयोगका अभ्यास करे अर्थात् यह भी एक मत्स्येन्द्रासन है ॥ २६ ॥

**मत्स्येन्द्रपीठं जठरप्रदीप्तिं प्रचंडरुमंडलखंडनास्त्रम् ॥**

**अभ्यासतः कुंडलिनीप्रबोधं चंद्रस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम् ॥ २७ ॥**

मत्स्येन्द्रासनस्य फलमाह—मत्स्येन्द्रेति ॥ प्रचंडं दुःसहं रुजां रोगाणां मंडलं [समूहः]  
तस्य खंडने छेदनेऽस्त्रमस्त्रमिव तादृशं मत्स्येन्द्रपीठमत्स्येन्द्रासनम् अभ्यासतः प्रत्यहमाव-  
र्तनरूपादभ्यासात् पुंसां जठरस्य जठराग्नेः प्रकृष्टां दीप्तिं वृद्धिं ददाति । तथा कुंडलिन्या  
आधारशक्तेः प्रबोधं निद्राभावं तथा चंद्रस्य तालुन उपरिभागे स्थितस्य नित्यं क्षरतः  
स्थिरत्वं क्षरणभावं च ददातीत्यर्थः ॥ २७ ॥

भाषार्थ—अब मत्स्येन्द्रासनके फलको कहते हैं कि, यह मत्स्येन्द्रासन जठराग्निका दीपक  
( आधिक ) करता है क्योंकि यह आसन प्रचंडरोगोंका जो समूह उसके नाशके लिये अस्त्रके  
समान है और कुंडलिनी जो आधारशक्ति है उसके प्रबोध ( जागरण ) अर्थात् निद्राके  
अभावको और तालुके ऊपरके भागमें स्थित जो चंद्र ( नित्यज्ञेय है ) उसकी स्थिरताको अर्थात्  
क्षरनेके अभावको पुरुषोंको देता है अर्थात् करता है ॥ २७ ॥

**प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा ॥**

**जानूपरिन्यस्तललाटदेशो वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः ॥ २८ ॥**

पश्चिमतानासनमाह—प्रसार्येति ॥ भुवि भूमौ दण्डस्य रूपमिव रूपं ययोस्तौ दंडा-  
कारौ श्लिष्टगुल्फौ प्रसार्य प्रसारितौ कृत्वा । दोर्भ्यामाकुंचिततर्जनीभ्यां भुजाभ्यां पदोः  
पदयोश्चाग्रे अग्रभागौ तयोर्द्वितयं द्वयमंगुष्ठप्रदेशयुग्मं बलादाकर्षणपूर्वकं यथा जान्व-  
धोमागस्य भूमेरुत्थानं न स्यात्तथा गृहीत्वा । जानोरुपरिन्यस्तो लालटदेशो येन  
तादृशो यत्र वसेत् । इदं पश्चिमताननामकमासनमाहुः ॥ २८ ॥

भाषार्थ—अब पश्चिमतानासनको कहते हैं कि, दंडके समान है रूप जिनका ऐसे और मिले हैं गुल्फ जिनके ऐसे दोनों चरणोंको भूमिपर फैलाकर और आकुंचित (सुकड़ी) है तर्जनी जिनकी ऐसी भुजाओंसे दोनों पादोंके दोनों अग्रभागोंको ग्रहण करके अर्थात् अँगुठोंको इस प्रकार पकड़कर जैसे जानुओंके अधोभाग भूमिसे ऊपर न उठें और जानुओंके ऊपर रक्खा है ललाट (मस्तक) भाग जिसने ऐसा होकर जहां पुरुष वैसे उस आसनको पश्चिमतान आसन कहते हैं ॥ २८ ॥

**इति पश्चिमतानमासनाद्यं पवनं पश्चिमवाहिनं करोति ॥**

**उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे काश्यमरोगतां च पुंसाम् ॥ २९ ॥**

अथ तत्फलम्—इतीति ॥ इति पूर्वोक्तमासनेष्वद्यं मुख्यं पश्चिमतानं पवनं प्राणं पश्चिमवाहिनं पश्चिमेन पश्चिममार्गेण सुषुम्नामार्गेण वहतीति पश्चिमवाही तं तादृशं करोति । जठरानलस्य जठरे यः सनलोऽग्निस्तस्योदयं वृद्धिं कुर्यात् । उदरे मध्यप्रदेशे काश्यं कृशत्वं कुर्यात् । अरोगतामारोग्यं चकारान्नाडीवलनादिसाम्यं कुर्यात् ॥ २९ ॥

भाषार्थ—अब इस आसनके फलको कहते हैं कि, संपूर्ण आसनोंमें मुख्य यह पश्चिमतान नामका आसन प्राणरूप पवन को पश्चिमवाही करता है अर्थात् सुषुम्ना नाडीके मार्गसे प्राण वहने लगता है और जठराग्नि को उत्पन्न करता है अर्थात् वज्रता है और उदरके मध्यमें कृशताको करता है और पुरुषोंकी अरोगता (रोगका अभाव) करता है और चकारसे नाडियोंके वलन आदिकी समता को करता है ॥ २९ ॥

**धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वः ॥**

**उच्चासनो दंडास्थितः स्यान्मायूरमेतत्प्रवदंति पीठम् ॥ ३० ॥**

अथ मयूरासनमाह—धरामिति ॥ करद्वयेन करयोर्द्वयं युग्मं तेन धरां भूमिमवष्टभ्यावलंब्य प्रसारितांगुली भूमिसलगतलौ सन्निहितौ करौ कृत्वेत्यर्थः । तस्य करद्वयस्य कूर्परयोर्भुजमध्यसंधिभागयोः स्थापिते धृते नाभेः पार्श्वे पार्श्वभागौ येन स उच्चासन उच्चमुन्नतमासनं यस्यैतादृशः । खे शून्ये दंडवदंडेन तुल्यमुत्थित ऊर्ध्वे स्थितो यत्र भवति तन्मायूरं मयूरस्येतत्संबंधित्वात्तन्नामकं प्रवदंति । योगिन इति शेषः ॥ ३० ॥

भाषार्थ—अब मयूरासनको कहते हैं कि, दोनों हाथोंसे भूमिका अवलंबन करके अर्थात् फैलाये हुये हाथोंसे भूमिका स्पर्श करके और उन हाथोंका जो कूर्पर (भुजा, करक-संधिभाग) जिसको मणिबंध वा गद्दा कहते हैं उसके ऊपर नासिके दोनों पार्श्वभागोंको स्थापित करके वह दंडके समान उठा हुआ उच्चासन होता है इस आसनको योगीजन मायूर कहते हैं अर्थात् मयूरके समान इसमें स्थिति होती है ॥ ३० ॥

हरति सकलरोगानां गुल्मोदरादी-  
नभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरम् ॥

बहु कदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषं  
जनयति जठराग्निं जारयेत्कालकूटम् ॥ ३१ ॥

मयूरासनगुणानाह--हरतीति ॥ गुल्मो रोगविशेषः उदरं जलोदरं ते आदिनी  
येषां स्त्रोहादीनां ते तथा तान्सकलरोगान् सकला ये रोगास्तानां श्रुतिरिति हरति  
नाशयति श्रीमयूरमासनमिति सर्वत्र संबध्यते । दोषान्वातपित्तकफानालस्यदां-  
श्रामिभवति तिरस्करोति । बह्वतिशयितं कदशनं कदन्नं यद्भुक्तं तदशेषं समस्तं भस्म  
कुर्यात्पाचयेदित्यर्थः । जठराग्निं जठरानलं जनयति । प्रादुर्भावयति । कालकूटं विषं  
कालकूटवदपकारकारणं समस्तं जारयेज्जीर्णं कुर्यात्पाचयेदित्यर्थः ॥ ३१ ॥

भाषार्थ--अब मयूरासनके गुणोंको कहते हैं कि, गुल्म और जलोदर आदि और जो प्लीहा  
तिछ्छी आदि सब रोग हैं उनको शीघ्र हरता है और संपूर्ण जो वात पित्त कफ आलस्य आदि  
दोष हैं उनका तिरस्कार करता है । और अधिक वा कुत्सित अन्न जो भक्षण कर लिया होय  
तो उस संपूर्णको भस्म करता है और जठराग्निको बढ़ाता है और कालकूट ( विष ) को भी  
जीर्ण करता है अर्थात् विषके समान अपकार करनेवाला जो अन्न है उसकोभी पचा-  
ताहै ॥ ३१ ॥

उत्तानं शववद्भूमौ शयनं तच्छ्वासनम् ॥

श्वासनं श्रान्तिहरं चित्तविश्रान्तिकारकम् ॥ ३२ ॥

श्वासनमाहर्धेन--उत्तानमिति ॥ शवेन नृतशरीरेण तुल्यं शववदुत्तानं भूमिसंलग्नं  
पृष्ठं यथा स्यात्तथा शयनं निद्रायामिव सन्निवेशो यत्तच्छ्वासनं श्वाख्यमासनम् ।  
श्वासनप्रयोजनमाह--उत्तारधेन । श्वासनं श्रान्तिहरं श्रान्तिं हठाभ्यासश्रमं हरतीति  
श्रान्तिहरं चित्तस्य विश्रान्तिर्विश्रामस्तस्याः कारकम् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ--अब श्वासन और उसके फलको कहते हैं कि, शव ( मृतके समान ) भूमिपर  
पीठको लगाकर उत्तान ( सीधा ) शयन निद्राके तुल्य जिसमें हो वह श्वासन होता है ।  
और यह श्वासन हठयोगके परिश्रमको हरता है और चित्तकी विश्रान्ति ( विश्राम ) को  
करता है अर्थात् इसके करनेसे चित्त स्थिर होजाता है ॥ ३२ ॥

चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च ॥

तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम् ॥ ३३ ॥

वक्ष्यमाणानासनचतुष्टयस्य श्रेष्ठत्वं वदन्नाह--चतुरशीतीति ॥ शिवेनेश्वरेण चतुराधि-  
काशीतिसंख्याकान्यासनानि कथितानि चकाराच्चतुरशीतिलक्षाणि च । तदुक्तं गोर-  
क्षनाथेन--'आसनानि च तावन्ति यावन्त्यो जीवजातयः । एतेषामखिलान्मेदान्ब्रवीजानाति

महेश्वरः "॥ चतुरशीतिलक्षाणि एकैकं समुदाहृतम् । ततः शिवेन पीठानां षोडशोऽनं शतं कृतम् ॥" इति । तेभ्यः शिवोक्तचतुरशीतिलक्षासनानां मध्ये प्रशस्तानि यानि चतुशीत्यासनानि तेभ्य आदाय गृहीत्वा । सारभूतं श्रेष्ठभूतं चतुष्कमहं ब्रवी-  
मीत्यन्वयः ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—अब चार आसनोंकी श्रेष्ठताका वर्णन करते हैं कि, शिवजीने चौरासी आसन कहे हैं और चकारके पढ़नेसे उनके चौरासी लाख लक्षण कहे हैं सोई गोरक्षनाथने कहाहै कि, जितनी जीवोंकी जाति हैं उतनेही आसन हैं इनके संपूर्ण भेदोंको शिवजी जानते हैं उनमेंभी एक २ चौरासी लक्ष कहाहै तिससे शिवजीने चौरासी आसनही किये हैं, उनमें श्रेष्ठ जो चौरासी आसन हैं उनमेंसे लेकर श्रेष्ठ जो चार आसन हैं उनको मैं कहताहूँ ॥ ३३ ॥

**सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ॥**

**श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा ॥ ३४ ॥**

तदेव चतुष्कं नाम्ना निर्दिशति—सिद्धमिति ॥ सिद्धं सिद्धासनम् । पद्मं पद्मा-  
सनम्, सिंहं सिंहासनम्, भद्रं भद्रासनम् इति चतुष्टयं श्रेष्ठमतिशयेन प्रशस्यं तत्रापि  
चतुष्टये सुखे सुखकरे सिद्धासने सदा तिष्ठेत् एतेन सिद्धासनं चतुष्टयेष्वुत्कृष्टमिति  
सूचितम् ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—उन चारोंकेही नामोंको दिखाते हैं कि, सिद्धासन—पद्मासन—सिंहासन और भद्रा-  
सन ये चार आसन अत्यंत श्रेष्ठ हैं । उन चारोंमें सुखका कर्ता जो सिद्धासन है उसमें सदैव  
योगी टिकै—इससे यह सूचित किया कि, इन चारोंमेंभी सिद्धासन उत्तम है ॥ ३४ ॥

**योनिस्थानकमंग्रियूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-**

**न्मेद्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ॥**

**स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद्भ्रुवोरंतरं**

**द्यौतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ ३५ ॥**

आसनचतुष्टयेष्वुत्कृष्टत्वात्प्रथमं सिद्धासनमाह—योनिस्थानकमिति ॥ योनिस्थान-  
मेव योनिस्थानकम् । स्वार्थे कप्रत्ययः । गुदोपस्थयोर्मध्यमप्रदेशे पदं योनिस्थानं  
तत् अंग्रिर्वामश्रवणस्तस्य मूलेन पार्श्विभागेन घटितं संलग्नं कृत्वा । स्थानांतरम् एकं  
पादं दक्षिणं पादं मेद्रेन्द्रियस्योपरिभागे दृढं यथास्यात्तथा विन्यसेत् । हृदये  
हृदयसमीपे हनुं चिबुकं सुस्थिरं सम्यक्स्थिरं कृत्वा हनुहृदययोश्चतुरंगुलमंतरं  
यथा भवति तथा कृत्वेति रहस्यम् । संयमितानि विषयेभ्यः परावृत्तानीन्द्रियाणि  
येन स तथा । अचला या दृक् दृष्टिस्तथा भ्रुवोरंतरं मध्यं पश्येत् हि प्रसिद्धं मोक्षस्य  
यत्कपाटं प्रतिबंधकं तस्य भेदं नाशं जनयतीति तादृशं सिद्धानां योगिनाम् । आस्ते  
अत्रास्थितेऽनेनेति वा आसनं सिद्धासननामकमिदं भवेदित्यर्थः ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—अब चारों आसनोंमें उत्तम जो सिद्धासन उसके स्वरूपका वर्णन करते हैं कि, गुदा और लिंग इन्द्रियका मध्यभाग जो योनिस्थान है उससे वाम चरणके मूल ( एडी ) को मिलाकर और दक्षिण दूसरे पादको दृढ रीतिसे लिंग इन्द्रियके ऊपर रखवै और हृदयके समीपभागमें हनु चिबुक वा ( ठोड़ी ) को भलीप्रकार स्थिर करके अर्थात् हनु और हृदयका चार अंगुलका अंतर रखकर भलीप्रकार विषयोंसे रोकी हैं इन्द्रियें जिसने ऐसा स्थाणु ( निश्चल ) योगी अपनी अचल ( एकरस ) दृष्टिसे भुक्तिके मध्यभागको देखता रहै । यह मोक्षके कपाट ( अवरोध वा रोक ) का जो भेदन ( नाश ) उसका करनेवाला योगिजनोंने सिद्धासन कहा है—अर्थात् सिद्धयोगी इस आसनसे बैठते हैं ॥ ३५ ॥

**मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि ॥**

**गुल्फांतरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत् ॥ ३६ ॥**

मस्त्येन्द्रसंमतं सिद्धासनमुक्त्वाऽन्यसंमतं वक्तुमाह—मतांतरेति ॥ तदेव दर्शयति—मेढ्रादिति ॥ मेढ्रादुपस्थादुपर्यर्ध्वभागे सव्यं वामगुल्फं विन्यस्य तथा सव्यवदुपरि मुख्यपादस्थोपरि न तु सव्यगुल्फस्य । गुल्फांतरं दक्षिणगुल्फं च निक्षिप्य वसेदिति शेषः । इदं सिद्धासनं मतांतराभिमतमित्यभेद इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—अब मस्त्येन्द्रके संमत सिद्धासनको कहकर अन्य योगियोंके संमत सिद्धासनको कहते हैं कि, मतांतरमें तो यह लिखा है कि, लिंग इन्द्रियके ऊपरके भागमें वामगुल्फको रखकर और तैसेही सव्य ( वाम ) पादके ऊपर दक्षिण गुल्फको रखकर बैठे तो यह भी किसी २ ने सिद्धासन कहा है ॥ ३६ ॥

**एतत्सिद्धासनं प्रादुरन्ये वज्रासनं विदुः ॥**

**मुक्तासनं वदंत्येके प्रादुर्युक्तासनं परे ॥ ३७ ॥**

तत्र प्रथमं महासिद्धसंमतमिति, स्पष्टीकर्तुमस्यैव मतभेदान्नामभेदानाह—एतदिति ॥ एतत्पूर्वोक्तं सिद्धासनं सिद्धासननामकं प्राहुः । केचिदित्यध्याहारः । अन्ये वज्रासनं वज्रासनसंज्ञकं विदुः जानांति एके मुक्तासनं मुक्तासनाभिधं वदंति । परे युक्तासनं युक्तासनाख्यं प्राहुः । अत्रासनाभिज्ञाः । यत्र वामपादपार्श्विणं योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणपादपार्श्विणमेढ्रादुपरि स्थाप्यते [ तत्सिद्धासनम् ] । यत्र वामपादपार्श्विणं योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणपादपार्श्विणमेढ्रादुपरि स्थाप्यते तद्वज्रासनम् । यत्र तु दक्षिणसव्यपार्श्विणद्वयमुपर्यर्ध्वभागेन संयोज्य योनिस्थानेन संयोज्यते तन्मुक्तासनम् । यत्र च पूर्ववत्संयुक्तं पार्श्विणद्वयं मेढ्रादुपरि निर्धायते तद्व्युक्तासनमिति ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—इसकोही कोई सिद्धासन कहते हैं और कोई वज्रासन कहते हैं और कोई मुक्तासन और कोई युक्तासन कहते हैं अर्थात् इस सिद्धासनके ही ये भी नाम हैं और आसनके जो भलीप्रकार ज्ञाता हैं वे इन चारों आसनोंमें यह भेद ( फरक ) कहते हैं जिसमें वाम पादकी

पार्णिको लिंगके स्थानपर लगाकर और दक्षिणपादकी पार्णि ( एडी ) को लिंगके ऊपर रखकर स्थित हो वह सिद्धासन कहाताहै और जहां वाम पार्णिको लिंगके स्थानमें और दक्षिण पादकी पार्णिको लिंगके ऊपर लगाकर स्थिति करै वह वज्रासनभी कहाताहै अर्थात् इन दोनों भेद नहीं है और जहां दक्षिण और वाम पादकी दोनों पार्णियोंको ऊपर नीचे मिलाकर योनिके स्थानमें लगाकर स्थितहै वह मुक्तासन कहाताहै और जहां पूर्वोक्त रीतिसे मिलाई दोनों पार्णियोंको लिंगसे ऊपर रखकर स्थित हो वह गुप्तासन कहाताहै ॥ ३७ ॥

**यमेष्विव मिताहारमहिंसां नियमेष्विव ॥**

**मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः ॥ ३८ ॥**

अथ सप्तमिः श्लोकैः सिद्धासनं प्रशंसाति-यमेष्वित्यादिभिः ॥ यमेषु मिताहारमिव । मिताहारो वक्ष्यमाणः 'सुस्निग्धमधुराहारः' इत्यादिना । नियमेषु अहिंसामिव सर्वाणि यान्यासनानि तेषु सिद्धाः एकं सिद्धासनं मुख्यं विदुरिति संबंधः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ-अब सात श्लोकोंसे सिद्धासनकी प्रशंसा करते हैं कि, जैसे दश प्रकारके यमोंमें प्रमित भोजन मुख्य है और नियमोंमें अहिंसा मुख्य है इसी प्रकार संपूर्ण आसनोंमें सिद्धासन सिद्धांने मुख्य कहाहै । और प्रमित भोजन इस वचनसे कहेंगे कि, भली प्रकार स्निग्ध ( चिकना ) और मधुर आदि जो भोजन वह मिताहार कहाताहै ॥ ३८ ॥

**चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत् ॥**

**द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ॥ ३९ ॥**

चतुरशीतीति ॥ चतुरधिकाशीतिसंख्याकानि यानि पीठानि तेषु सिद्धमेव सिद्धासनमेव सदा सर्वदाभ्यसेत् । सिद्धासनस्य सदाभ्यासे हेतुगर्भं विशेषणम् । द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनं शोधकम् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ-चौरासी जो आसन हैं उनमें सदैव सिद्धासनका अभ्यास करै क्योंकि यह आसन बहत्तर हजार नाडियोंके मलोंका शोधक है ॥ ३९ ॥

**आत्मध्यायी मिताहारी यावद्वादशवत्सरम् ॥**

**सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात् ॥ ४० ॥**

आत्माध्यायीति ॥ आत्मानं ध्यायतीत्यात्मध्यायी मित आहारोऽस्यास्तीति मिताहारी यावंतो द्वादश वत्सराः यावद्वादशवत्सरम् । 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभावः समासः । द्वादशवत्सरपर्यंतमित्यर्थः । सदा सर्वदा सिद्धासनस्याभ्यासाद्योगी योगाभ्यासी निष्पत्तिं योगसिद्धिमाप्नुयात्प्राप्नुयात् । योगांतराभ्यासमंतरेण सिद्धासनाभ्यासमात्रेण सिद्धिप्राप्नुयादित्यर्थः ॥ ४० ॥

भाषार्थ-आत्माके ध्यानका कर्त्ता और मिताहारी होकर द्वादशवर्ष पर्यंत सदैव सिद्धासनके अभ्यास करनेसे योगी योगकी सिद्धिको प्राप्त होता है अर्थात् अन्ययोगोंके अभ्यासके बिनाही केवल सिद्धासनकेही अभ्याससे सिद्धिको प्राप्त होताहै ॥ ४० ॥

**किमन्यैर्बहुभिः पीठैः सिद्धे सिद्धासने सति ॥**

**प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुम्भके ॥ ४१ ॥**

किमन्यौरिति ॥ सिद्धासने सिद्धे सत्कन्यैर्बहुभिः पीठैरासनैः किम् । न 'किमपीत्यर्थः । सावधाने प्राणानिले प्राणवायौ केवलकुम्भके बद्धे सति ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—सिद्धासनके सिद्ध होनेपर अन्य बहुतसे आसनोंसे क्या फल है अर्थात् कुछ नहीं है और इस सिद्धासनसे सावधान प्राणवायुके केवल कुम्भक प्राणायाम बंधनेपर अन्य सब आसन वृथा समझने ॥ ४१ ॥

**उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनी कला ॥**

**तथैकास्मिन्नव दृढे सिद्धे सिद्धासने सति ॥**

**बंधत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ॥ ४२ ॥**

उत्पद्यत इति ॥ उन्मनी उन्मन्यवस्था सा कलेबाह्यादकत्वाच्चंद्रलेखेव निरायासादनायासात्स्वयमेवोत्पद्यत उदेति—तथेति । तथोक्तप्रकारेणैकास्मिन्नैव सिद्धे दृढे बद्धे सति बंधत्रयं मूलबंधोड्डीयानबंधजालंधरबंधरूपमनायासात् 'पाष्णिमार्गेण' 'संपीडय योनि' 'माकुंचयेद्गुदम्' इत्यादिवक्ष्यमाणमूलबंधादिष्वायासस्तं विनैव स्वयमेवोपजायते स्वत एवोत्पद्यत इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—और इस सिद्धासनके प्रतापसेही चंद्रमाकी कलाके समान उन्मनी कला विनापरिश्रम उत्पन्न होजाती है और तिसप्रकार एक दृढ सिद्धासनके सिद्ध होनेपर मूलबंध उड्डीयानबंध जालंधरबंधरूप तीनों बंध विनाश्रम स्वयंही होजातेहैं अर्थात् पाष्णिके मार्गसे योनि (लिंग) को भली प्रकार दबाकर गुदाका संकोच करे इत्यादि वचनोंसे जो मूलबंध आदिमें परिश्रम कहा है उसके किये बिनाही तीनों बंध सिद्ध होजातेहैं ॥ ४२ ॥

**नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भः केवलोपमः ॥**

**न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥ ४३ ॥**

नासनमिति ॥ सिद्धेन सिद्धासनेन सदृशमासनम् । नास्तीति शेषः । केवलेन केवलकुम्भकेनोपमायत भ्रति केवलोपमः कुम्भः कुम्भको नास्ति । खेचरीमुद्रासमा मुद्रा नास्ति । नादसदृशो लयो लयहेतुर्नास्ति ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—सिद्धासनके समान अन्य आसन नहीं है और केवल कुम्भके समान कुम्भक नहीं है और खेचरी मुद्राके समान मुद्रा नहीं है और नादके समान अन्य ब्रह्ममें लयका हेतु नहीं है ॥ ४३ ॥

**अथ पद्मासनम् ।**

**वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा**

**दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ॥**

## अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये- देतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥ ४४ ॥

पद्मासनं वक्तुमुपक्रमते—अथेति । पद्मासनमाह—वामोरूपरीति ॥ वामो य ऊरुस्त-  
स्योपरि दक्षिणम् । चकारः पादपूरणे । संस्थाप्य सम्यगुत्तानं स्थापयित्वा वामं सव्यं  
चरणं तथा दक्षिणचरणवद्दक्षो दक्षिणो य ऊरुस्तस्योपरि संस्थाप्य पश्चिमेन भागेन  
पृष्ठभागेनेति । विधिर्विधानं करयोरित्यर्थात् । तेन कराभ्यां हस्ताभ्यां दृढं यथा  
स्यात्तथा पादांगुष्ठौ धृत्वा गृहीत्वा । दक्षिणं करं पृष्ठतः कृत्वा । वामोरुस्थितदक्षिण-  
चरणाङ्गुष्ठं गृहीत्वा वामकरं पृष्ठतः कृत्वा । दक्षिणोरुस्थितवामचरणाङ्गुष्ठं गृहीत्वेत्यर्थः ।  
हृदये हृदयसमीपे । समीपिकाधारे संसमी । चिबुकं हनुं निधायोरसश्चतुरंगुलांतरं  
चिबुकं निधायेति रहस्यम् । नासाग्रं 'नासिकाग्रमालोकयेत्पश्येद्यत्रैतद्यमिनां योगिनां  
व्याधेर्विनाशं करोतीति व्याधिविनाशकारि पद्मासनमेतन्नामकं' प्रोच्यते सिद्धैरिति  
शेषः ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—अब पद्मासनको कहते हैं कि, वाम जंघाके ऊपर सीधे दक्षिण चरणको भली-  
प्रकार स्थापन करके और तिसीप्रकार सीधे वाम चरणको दक्षिण जंघाके ऊपर भलीप्रकार  
स्थापन करके और पृष्ठभागसे जो विधि उससे दोनों हाथोंसे दृढ रीति चरणोंके अँगूठोंको ग्रह-  
ण ( पकड़ ) कर अर्थात् पृष्ठपर किये दक्षिणहाथसे वाम जंघापर स्थित दक्षिण चरणके अँग-  
ठेको ग्रहण करके और पृष्ठपर किये वाम हाथसे दक्षि जंघापर स्थित वाम चरणके अँगूठेको  
ग्रहण करके और हृदयके समीप चार अंगुलके अंतर चिबुक ( हनु वा ठोड़ी ) रखकर अपनी  
नासिकाके अग्रभागको देखतारहै अर्थात् ऐसी स्थिति जिसमें हो यह योगियोंकी संपूर्ण व्याधि-  
योंका विनाशकारक पद्मासन सिद्धाने कहाहै अर्थात् इस आसनके लगानेसे संपूर्ण व्याधि नष्ट  
होती है ॥ ४४ ॥

## उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ॥ ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥ ४५ ॥

मत्स्येन्द्रनाथाभिमतं पद्मासनमाह—उत्तानाविति ॥ उत्तानौ ऊरुसंलग्नपृष्ठभागौ चरणौ  
पादौ प्रयत्नतः प्रकृष्टाद्यत्नादूरुसंस्थावूर्वोः सम्यक् तिष्ठत इत्यूरुसंस्थौ तादृशौ कृत्वा ।  
ऊर्वोर्मध्ये ऊरुमध्ये । तथा चार्थे । पाणी करावुत्तानौ कृत्वा । ऊरुसंस्थोत्तानपादोभ-  
यपार्श्वसंलग्नपृष्ठं सव्यं पाणिमुत्तानं कृत्वा तदुपरि दक्षिणं पाणिं चोत्तानं कृत्वेत्यर्थः ।  
ततस्तदनंतरम् । दृशौ दृष्टौ ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—अब मत्स्येन्द्रनाथके कहे पद्मासनको कहते हैं कि, उत्तान चरणोंको बड़े यत्नसे  
जंघाओंपर स्थित करके अर्थात् जंघाओंपर लगा है पृष्ठभाग जिनका ऐसे चरणोंको उत्तम  
यत्नसे जंघाओंपर स्थित करके और जंघाओंके मध्यमें उत्तान ( सीधे ) हाथोंको रखकर  
तात्पर्य यहहै कि, जंघाओंपर स्थित जो चरणोंकी दोनों पार्श्व उसमें लगा है पृष्ठभाग जिसका

ऐसे वामहाथको उत्तान करके और उसके ऊपर दक्षिण पार्श्वको उत्तान करके और फिर दृष्टि ( नेत्रों ) को ॥ ४६ ॥

**नासाग्रे विन्यसेद्राजदंतमूले तु जिह्वया ॥**

**उत्तंभ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥ ४६ ॥**

नासाग्र इति । नासाग्रे नासिकाग्रे विन्यसेद्विशेषेण निश्चलतया न्यसोदित्यर्थः ॥ राजदंतानां दंष्ट्राणां सव्यदक्षिणभागो स्थितानां मूले उभे मूलस्थाने जिह्वया उत्तंभ्य ऊर्ध्वं स्तंभयित्वा । गुरुमुखादवगंतव्योऽयं जिह्वाबंधः चिबुकं वक्षसि निधायेति शेषः । शनैर्मंदमंदं पवनं वायुमुत्थाप्य । अनेन मूलबंधः प्रोक्तः । मूलबंधोऽपि गुरुमुखादेवावगंतव्यः । वस्तुतस्तु जिह्वाबंधेनैवायं चरितार्थ इति हठरहस्यविदः ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—अपनी नासिकाके अग्रभागमें निश्चलरूपसे लगाने दे और राजदन्तों ( दाढ़ ) के मूलोंको जिह्वासे ऊपर स्तंभन ( थांभना ) करके और चिबुकको वक्षस्थलपर रखकर यह जिह्वाका बंधन गुरुके मुखसे जानने योग्य है—और शनैः २ पवनको उठाकर इससे मूलबंध कहा है यह भी गुरुके मुखसेही जानने योग्य है हठरहस्य ( सिद्धांत वा तत्त्व ) के ज्ञाता तो यह कहते हैं कि, जिह्वाके बन्धसेही मूलबंध होसक्ता है ॥ ४६ ॥

**इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥**

**दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि ॥ ४७ ॥**

इदमिति ॥ एवं यत्रास्यते तदिदं पद्मासनं पद्मासनाभिधानं प्रोक्तम् । आसनज्ञैरिति शेषः । कीदृशं सर्वेषां व्याधीनां विशेषेण नाशनं येनकेनापि भाग्यहीनेन दुर्लभम् । धीमता भुवि भूमौ लभ्यते प्राप्यते ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—इस पूर्वोक्त प्रकारसे आसन लगाकर जहां बैठे वह संपूर्ण व्याधियोंका नाशक योगिजनोंने पद्मासन कहा है और दुर्लभ आसन जिस किसी बुद्धिमान् मनुष्योंको पृथिवीमें मिलता है अर्थात् विरलाही कोई इसको जानता है । अथवा जिस किसी मूर्खको दुर्लभ है और बुद्धिमान्को तो भूमिके विषे मिलसकता है ॥ ४७ ॥

**कृत्वा भंपुटितौ करौ दृढतरं बद्धा तु पद्मासनं**

**गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेतसि ॥**

**वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं**

**न्यचन्प्राणमुपोति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥ ४८ ॥**

एतच्च महायोगिसंमतमिति स्पष्टयितुमन्यदपि पद्मासने कृत्यविशेषमाह—कृत्वेति ॥ संपुटितौ संपुटीकृतौ करावुत्संगस्थाविति शेषः । दृढतरमतिशयेन दृढं सुस्थिरं पद्मासनं बद्धा कृत्वेत्यर्थः । चिबुकं हनुं गाढं दृढं यथा स्यात्तथा वक्षसि वक्षःसमीपे संनि-

धाय संनिहितं कृत्वा चतुरंगुलांतरेणेति योगिसंप्रदायाज्ज्ञेयम् । जालंधरबंधं कृत्वेत्यर्थः । तत्स्वस्वेष्वेवतारूपं ब्रह्म वा । 'ओतत्सादिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' इति भगवदुक्तेः । चेतासि चित्ते ध्यायन् चित्तयन् । अपानमनिलम् अपानवायुं ऊर्ध्वं प्रोत्सारयन्मूलबंधं कृत्वा सुषुम्नामार्गेण प्राणमूर्ध्वं नयन् पूरितं पूरकेण अंतर्धारितं प्राणं न्यंचनीचैरधोचनं गमयन् । अंतर्भावितप्यर्थोऽचतिः । प्राणापानयोरैक्यं कृत्वैत्यर्थः । नरः, पुमान्तुलं बोधं निरुपमज्ञानं शक्तिप्रभावाच्छक्तिराधारशक्तिः कुंडलिनी तस्याः प्रभावात्सामर्थ्यादुपैति प्राप्नोति । प्राणापानयोरैक्ये कुंडलिनीबोधो भवति । कुंडालिनीबोधे सुषुम्नामार्गेण प्राणो ब्रह्मरंध्रं गच्छति । तत्र गते चित्तस्थैर्यं भवति चित्तस्थैर्यं संयमादात्मसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—यह पद्मासन बड़े २ योगियोंको संमत है इस बातको स्पष्ट करते हुये ग्रंथकार पद्मासनके विषे अन्य भी कृत्यको कहते हैं कि, दोनों हाथोंको संपुटित करके उत्संग ( गोदी ) में स्थित करके और दृढरीतिसे पद्मासनको बांधकर और चिवुकको दृढ रीतिसे वक्षःस्थलके समीप करके यह चार अंगुलका अंतर, योगियोंकी संप्रदायसे जानना अर्थात् इस पूर्वोक्त प्रकारसे जालंधर बंधको करके उस २ अपने इष्टदेव वा ब्रह्मका चित्तके विषे, वारंवार ध्यान करता हुआ योगी ओं तत् सत् यह तीन प्रकारका ब्रह्मनिर्देश ( रूप ) कहा है क्योंकि यह भगवान्ने गीतामें कहा है । अपानवायुको ऊपरको प्रोत्सारित ( चढाता ) करता और मूल बंधको करके सुषुम्नाके मार्गसे प्राणवायुको ऊपरको ( चढाता ) हुआ और पूरित किये अर्थात् पूरक प्राणायामसे अंतर्धारण किये प्राणवायुको नीचे गमन करता हुआ अर्थात् प्राण और अपानकी एकताको करके मनुष्य शक्ति ( आधारशक्ति कुंडलिनी ) के प्रभावसे सर्वोत्तम ज्ञानको प्राप्त होता है अर्थात् प्राण अपानकी एकताके होनेसे कुंडलिनीका बोध ( प्रकाश ) होता है कुंडलिनीका बोध होनेपर सुषुम्नाके मार्गसे प्राण ब्रह्मरंध्रमें प्राप्त होजाता है और उसमें जानेसे चित्तकी स्थिरता होजाती है—चित्तकी स्थिरता होनेपर संयमसे आत्माका साक्षात्कार होता है अर्थात् आत्मज्ञान होजाता है । भावार्थ यह है कि, दोनों हाथ संपुटित और भली प्रकार दृढ पद्मासन लगाय और अपने वक्षःस्थलपर चिवुकको लगाकर और चित्तमें वारंवार इष्टदेवका ध्यान करता हुआ और अपान वायुको ऊपरको पहुँचता और पूरित किये प्राण वायुको नीचेको करता हुआ मनुष्य शक्तिके प्रभावसे उत्तम ज्ञानको प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

**पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम् ॥**

**मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ४९ ॥**

पद्मासन इति॥ पद्मासने स्थितो योगी योगाभ्यासी पूरितं पूरकेणांतर्नीतं मारुतं वायुं सुषुम्नामार्गेण मूर्धानम् । नीत्वेति शेषः । धारयेत् स्थिरीकुर्यात्स मुक्तः । अत्र संशयो नास्तीत्यन्वयः ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—पद्मासनमें स्थित योगका अभ्यासी नाडीके द्वारा पूरित अर्थात् पूरकसे अंतर्गत ( मध्यमें ) किये वायुको सुषुम्नाके मार्गसे मस्तक पर्यंत पहुँचाकर जो स्थिर करे वह मुक्त है इसमें संशय नहीं है ॥ ४९ ॥

अथ सिंहासनम् ।

**गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्या पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥**

**दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ॥ ५० ॥**

सिंहासनमाह—गुल्फौ चेति ॥ वृषणस्याधः अधोभागे सीवन्याः पार्श्वयोः सीवन्या उभयभागयोः क्षिपेत् प्रेरयेत् स्थापयेदिति यावत् । गुल्फस्थापनप्रकारमेवाह—दक्षिण इति । सीवन्याः दक्षिणे भागे सव्यगुल्फं स्थापयेत् सव्यके सीवन्याः सव्यभागे दक्षिणगुल्फं स्थापयेत् ॥ ५० ॥

भाषार्थ—अब सिंहासनका वर्णन करते हैं कि, वृषणों ( अंडकोष ) के नीचे सीवनी नाडीके दोनों पार्श्वभागोंमें गुल्फोंको लगावे और दक्षिण पार्श्वमें वाम गुल्फको और वाम पार्श्वमें दक्षिणगुल्फको लगावे ॥ ५० ॥

**हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीः संप्रसार्य च ॥**

**व्यात्तवक्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥ ५१ ॥**

हस्ताविति ॥ जान्वोरुपरि हस्तौ तु संस्थाप्य सम्यक् जानुसंलग्नतलौ यथा स्यातां तथा स्थापयित्वा । स्वांगुलीः हस्तांगुलीः संप्रसार्य सम्यक् प्रसारयित्वा । व्यात्तवक्रः संप्रसारितललज्जिह्वमुखः सुसमाहितः एकाग्रचित्तः नासाग्रं नासिकाग्रं यस्मिन्निरीक्षेत ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—और जानुओंके ऊपर हाथोंके तलोंको भली प्रकार लगाकर और अपने हाथोंकी अंगुलियोंको प्रसारित करके अर्थात् फैलाकर—चंचल है जिह्वा जिसमें ऐसे मुखको वा ( खोल ) कर भलीप्रकार सावधान हुआ मनुष्य अपनी नासिकाके अग्रभागको देखे ॥ ५१ ॥

**सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुंगवैः ॥**

**बंधत्रितयसंधानं कुरुते चासनोत्तमम् ॥ ५२ ॥**

सिंहासनमिति । एतत्सिंहासनं भवेत् । कीदृशं योगिपुंगवैः योगिश्रेष्ठैः पूजितं प्रस्तुतमासनेषूत्तमं सिंहासनं बंधानां मूलबंधादीनां त्रितयं तस्य संधानं संनिधानं कुरुते ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—योगियोंमें जो श्रेष्ठ उनका पूजित यह सिंहासन होता है और संपूर्ण आसनोंमें उत्तम यह आसन मूलबंध आदि तीनों बंधोंके संधान ( संनिधान वा प्रकट ) को करता है ॥ ५२ ॥

अथ भद्रासनम् ।

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥

सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥ ५३ ॥

भद्रासनमाह-गुल्फाविति ॥ वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः सीवन्या उभयतः । गुल्फौ पादग्रंथी क्षिपेत् । क्षेपणप्रकारमेवाह-सव्यगुल्फमिति । सव्ये सीवन्याः पार्श्वे सव्यगुल्फं क्षिपेत् । तथा पादपूरणे । दक्षगुल्फं तु दक्षिणे सीवन्याः पार्श्वे क्षिपेत् ॥ ५३ ॥

भाषार्थ-अब भद्रासनका वर्णन करते हैं कि, वृषणोंके नीचे सीवनीके दोनों पार्श्वभागोंमें इस प्रकार गुल्फोंको रखै कि, वामगुल्फको सीवनीके वामपार्श्वमें और दक्षिणगुल्फको दक्षिण-पार्श्वमें लगाकर स्थित करै ॥ ५३ ॥

पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्धा सुनिश्चलम् ॥

भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ ५४ ॥

पार्श्वपादाविति ॥ पार्श्वपादौ च पार्श्वसमीपगतौ पादौ पाणिभ्यां भुजाभ्यां दृढं बद्धा । परस्परसंलग्नांगुलिभ्यामुदरसंलग्नतलाभ्यां पाणिभ्यां बद्धेत्यर्थः । एतद्भद्रासनं भवेत् । कीदृशं सर्वेषां व्याधीनां विशेषेण नाशनम् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ-और सीवनीके पार्श्वभागोंके समीपमें गये पादोंको भुजाओंसे दृढ बांधकर अर्थात् परस्पर मिलीहुई जिनकी अंगुली हों और जिनका तल हृदयपर लगा हो ऐसे हाथोंसे निश्चल रीतिसे थामकर जिसमें स्थित हो संपूर्ण व्याधियोंका नाशक वह भद्रासन होताहै ॥ ५४ ॥

गोरक्षासनमित्याहुर्दिदं वै सिद्धयोगिनः ॥

एवमासनबंधेषु योगीन्द्रो विगतश्रमः ॥ ५५ ॥

गोरक्षेति ॥ सिद्धाश्च ते योगिनश्च सिद्धयोगिनः इदं भद्रासनं गोरक्षासनमित्याहुः । गोरक्षेण प्रायशोऽभ्यस्तत्वाद्वोरक्षासनमिति वदन्ति । आसनान्युक्तानि । तेषु यत्कर्तव्यं तदाह । एवमिति । एवमुक्तेष्वासनबंधेषु बंधनप्रकारेषु विगतः श्रमो यस्य स विगतश्रमः आसनानां बंधेषु श्रमरहितः । योगिनामिन्द्रो योगीन्द्रः ॥ ५५ ॥

भाषार्थ-और सिद्ध जो योगी हैं वे इसकोही गोरक्षासन कहते हैं अर्थात् पूर्वोक्त गोरक्षनाथने प्रायः इसका अभ्यास किया है इससे इसको गोरक्षासन कहते हैं आसनोंको कहकर उनके कर्तव्यको कहते हैं कि, इस प्रकार आसनोंके बांधनेमें विगत ( नष्ट ) है श्रम जिसका ऐसा योगीन्द्र ( श्रेष्ठयोगी )-॥ ५५ ॥

अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवनक्रियाम् ॥

आसनं कुंभकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा ॥ ५६ ॥

अभ्यसेदिति ॥ नाडिकानां नाडीनां शुद्धिम् । 'प्राण चेदिडया पिबेन्नियमितम्' इति वक्ष्यमाणरूपा मुद्रा आदिर्यस्याः सूर्यभेदादेस्तादृशीम् । पवनस्य प्राणवायोः

क्रियां प्राणायामरूपां चाभ्यसेत् । अथ हठाभ्यसनक्रममाह- आसनमिति ॥ आसन-  
मुत्तलक्षणं चित्रं नानाविधं कुम्भकं ' सूर्यभेदनामुज्जापी ' इत्यादिवक्ष्यमाणम् ।  
मुद्रा इत्याख्या तस्य तन्मुद्राख्यं महामुद्रादिरूपकरणं हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकम् ।  
तथा चार्थे ॥ ५६ ॥

भाषार्थ-नाडियोंकी शुद्धिका अभिलाषा और नियमित ( रुके ) प्राणको इडा नामकी  
नाडीसे पाँवें आगे कही हुई यह मुद्रा है आदिमें जिसके ऐसी प्राणवायुकी क्रिया ( प्राणा-  
याम ) का अभ्यास करे । अब हठाभ्यासके क्रमको कहते हैं कि, पूर्वोक्त आसन और चित्र  
( नानाप्रकारका ) कुम्भक प्राणायाम और मुद्राहै नाम जिसका ऐसा करण ये हठ सिद्धिमें  
प्रकृष्ट ( उत्तम ) उपकारी है इस श्लोकमें तथाशब्द चशब्दके अर्थमें है ॥ ५६ ॥

**अथ नादानुसंधानमभ्यासानुक्रमो हठे ॥**

**ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ॥**

**अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र काया विचारणा ॥ ५७ ॥**

अथेति ॥ अथैतन्नयानुष्ठाननानंतरं नादस्यानाहतध्वनेऽनुसंधानमनुचितं हठे हठ-  
योगेऽभ्यासेऽभ्यसनं तस्यानुक्रमः पौर्वापर्यक्रमः । हठसिद्धेरवाधिमाह-ब्रह्मचारीति ।  
ब्रह्मचर्यवान् मिताहारो वक्ष्यमाणः सोऽस्यास्तीति मिताहारी त्यागी दानशीलो विषयप-  
रित्यागी वा योगपरायणः योगाभ्यसनपरः । अब्दादूर्ध्वं सिद्धः सिद्धहठोभवेत् ।  
अत्रोक्तेऽर्थे विचारणा स्यान्न वेति संशयप्रयुक्ता न कार्या एतन्निश्चितमेवत्यर्थः ॥ ५७ ॥

भाषार्थ-इन पूर्वोक्त आसन आदि तीनोंके करनेके अनंतर नादका अनुसंधान ( चिंतन )  
अर्थात् कानोंको दबाकर जो अनाहत ताडनाके विना ध्वनि सदैव अन्तः होती रहती है  
उसका विचार यह संपूर्ण हठयोगमें अभ्यासका क्रम है अर्थात् इस क्रमसे हठयोगक  
अभ्यास करे । अब हठयोगकी सिद्धिकी अवधिको कहते हैं कि ब्रह्मचारी और प्रमित भोजी  
त्यागी ( दानी वा विषयोंका त्यागी ) योगमें परायण ( योगका अभ्यासी ) मनुष्य एक वर्षके  
अनंतर सिद्ध होजाता है इसमें यह विचार नहीं करना कि होगा वा न होगा अर्थात् निश्चयसे  
सिद्ध होजाता है ॥ ५७ ॥

**सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ॥**

**भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥ ५८ ॥**

पूर्वश्लोके मिताहारीत्युक्तं तत्र योगिनां कीदृशो मिताहार इत्यपेक्षायामाह-सुस्नि-  
ग्धेति ॥ सुस्निग्धोऽतिस्निग्धः स चासौ मधुरश्च तादृश आहारश्चतुर्थांशविवर्जितश्च-  
तुर्थभागरहितः । तदुक्तमभियुक्ते-‘द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् । वायोः  
संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्’ इति । शिवो जीव ईश्वरो वा । ‘भोक्ता देवो महेश्वरः’  
इति वचनात् । तस्य संप्रीत्यै सम्यक्प्रीत्यर्थं यो भुज्यते स मिताहार इत्युच्यते ॥ ५८ ॥

भाषार्थ-पूर्व श्लोकमें जो मिताहारी कहा है उसके लिये योगियोंके मिताहारको कहते हैं कि, भलीप्रकार त्रिगुण ( चिकना ) और मधुर जो आहार वह चतुर्थीशसे रहित जिस भोजनमें शिवजी ( जीव वा ईश्वर ) के प्रीतिके अर्थ भक्षण किया जाय वह मिताहार कहा जाता है सोई इस वक्त्रसे पंडितोंने कहा है कि, उदरके दो भाग अन्नसे पूर्ण करै ( भरै ) और एक भागको जलसे पूर्णकरै और चौथे भागको प्राण वायुके चलनेके लिये शेष रखै और देव जो महेश्वर वह भोक्ता है देह नहीं ॥ ५८ ॥

**कटुम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरतिशाकसौवीरतैलतिलसर्षप-  
मद्यमत्स्यान् ॥ आजादिमांसदधितक्रकुलत्थकोलपि-  
प्याकहिंशुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ॥ ५९ ॥**

अथ योगिनामपथ्यमाह द्वाभ्याम्-कट्विति ॥ कटु कारवेल इत्यादि अम्लं चिच-  
फलादि तीक्ष्णं मरीचादि लवणं प्रसिद्धम् उष्णं गुडादि हरीतशाकं पत्रशाकं सौवीरं  
कांजिकं तैलं तिलसर्षपादिस्नेहः तिलाः प्रसिद्धाः सर्षपाः सिद्धार्थाः मद्यं सुरा मत्स्यो  
क्षयः । एषामितरेतरद्वंद्वः । एतानपथ्यानाहुः । अजस्येदमाजं तदादिर्यस्य सौकरादेस्त-  
दाजादि तच्च तन्मांसं चाजादिमांसं दधि दुग्धपीरणामविशेषः तक्रं गृहीतसारं दधि  
कुलत्थादिर्द्विदलविशेषः कोलं कोल्याः फलं बदरम् । 'कर्कधूर्वदरी कोलिः' इत्यमरः ।  
पिण्याकं तिलपिंडं हिंशु रामठं लशुनम् । एषामितरेतरद्वंद्वः । एतान्याद्यानि यस्य  
तत्तथा । आद्यशब्देन पलांडुगृज्जनमादकद्रव्यमाषान्नादिकं ग्राह्यम् । अपथ्यमहितम् ।  
योगिनामिते शेषः । आहुर्योगिन इत्यध्याहारः ॥ ५९ ॥

भाषार्थ-अब दो श्लोकोंसे योगियोंके अपथ्यको कहते हैं कि, करेला आदि कटु और  
इमली आदि अम्ल ( खट्टा ) और मिर्च आदि तीक्ष्ण लवण और गुड आदि उष्ण और हरित  
शाक ( पत्तोंका शाक ) सौवीर ( कांजी ) तैल तिल मदिरा मत्स्य इनको अपथ्य कहते हैं  
और अजा ( बकरी ) आदिका मांस दही तक्र ( मठा ) कुलथी कोल ( बेर ) पिण्याक  
( खल ) हींग लहसन ये सब हैं आद्य ( पूर्व ) जिनके ऐसे पलांडु ( सलज्जम ) गाजर  
मादक द्रव्य उडद ये सब योगीजनोंने योगियोंके अपथ्य कहे हैं ॥ ५९ ॥

**भोजनमहितं विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतं रुक्षम् ॥**

**अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम् ॥ ६० ॥**

भोजनमिति ॥ पश्चादग्निंसंयोगेनोष्णीकृतं यद्भोजनं सूपौदनरोटिकादि रुक्षं घृतादि  
हीनम् अतिशयितं लवणं यस्मिंस्तदतिलवणं यद्वा लवणमतिक्रान्तमतिलवणं चाकूबा  
इति लोके प्रसिद्धं शाकं यवक्षारादिकं च । लवणस्य सर्वथा वर्जनीयत्वादुत्तरपक्षः  
साधुः । तथा दत्तात्रेयः-‘अथ वर्ज्यानि वक्ष्यामि योगविघ्नकराणि च । लवणं सर्षपं  
चाम्लमुग्रं तीक्ष्णं च रुक्षकम् ॥ अतीव भोजनं त्याज्यमतिनिद्रातिभाषणम् ।’ इति

स्कंदपुराणेऽपि—‘त्यजेत्कट्वम्ललवणं क्षीरभोजी सदा भवेत्’ इति । अम्लयुक्तमम्लद्रव्येण युक्तम् । अम्लद्रव्येण युक्तमपि त्याज्यं किमुत साक्षादम्लम् । अत्र तृतीयपदं पल्लं वा तिलपिंडमिति केचित्पठन्ति तस्यायमर्थः । पल्लं मांसं तिलपिंडं पिण्याकं कदशनं कद्वं यावनालकोद्रवादि शाकं विहितेतरशाकमात्रम् । उत्कटं विदाहि मिरचीति लोके प्रसिद्धम् । मिरचा इति हिंदुस्थानभाषायां । कदशनादीनां समाहारद्वंद्वः । अतिलवणादिकं वर्ज्यं वर्जनाहम् । दुष्टमिति पाठे दुष्टं पूतिपर्युषितादि । अहितामिति योजनीयम् ॥ ६० ॥

भाषार्थ—और इस योगीको ये भोजन अहित है कि, अग्निके संयोगसे पुनः (द्वारा) उष्ण किया जो दाल चावल आदि और रूखा अर्थात् घृत आदिसे रहित जिसमें अधिक लवण हो वा जो लवणका भी अवलंबनकारी हो जैसे चाकूना नामका शाक वा जौका खार इन दोनों पक्षोंमें इससे उत्तरपक्ष श्रेष्ठ है कि, लवण सर्वथा वर्जित है सोई दत्तात्रेयने कहा है कि, इसके अनंतर वर्जितोंको और इस योगमें विघ्नकारियोंको कहता हूं कि लवण सरसों अम्ल उग्र (सौहांजना) तीक्ष्ण रूखा अत्यन्त भोजन ये भोजन और अत्यन्त निद्रा और अत्यन्त भाषण ये त्याज्य हैं । स्कंदपुराणमें भी लिखा है कि, कटु, अम्ल, लवण इनको त्यागदे और सदैव दूधका भोजन करे । अम्लसे युक्त भी पदार्थ त्यागने योग्य है तो साक्षात् अम्ल क्यों न होगा । इसमें तीसरा पद कोई यह पढ़ते हैं कि पल्लं वा तिलपिंडं उसका यह अर्थ है कि, मांस और खलको वर्जदे और कुस्ति अन्न (यावनाल कोद्रूआदि) और शास्त्रोक्तसे अन्न शाक और उत्कट (विदाहि) जिससे उदरमें जलन हो ऐसे मिर्च आदि ये सब अति लवण आदि वर्जित है । और वर्ज्य इसके स्थानमें दुष्टं यह पाठ होय तो वह दुष्ट पूति (दुर्गंध) और पर्युषित (बासी) आदिभी अहित है ॥ ६० ॥

**वह्निस्त्रीपथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ॥ ६१ ॥**

**तथाहि गोरक्षवचनम्—**

**“वर्जयेदुर्जनप्रातं वह्निस्त्रीपथिसेवनम् ।**

**प्रातःस्नानोपवासादि कायकृशवर्धि तथा” ॥**

एवं योगिनां सदा वर्ज्यान्युक्त्वाभ्यासकाले वर्ज्यान्याहर्धेन—बहोति ॥ वह्निश्च स्त्री च पंथाश्च तेषां सेवा वह्निसेवनस्त्रीसंगतीर्थयात्रागमनादिरूपारतासां वर्जनमादावभ्यासकाले आचरेत् । सिद्धेऽभ्यासे तु कदाचित् । शीते वह्निसेवनं गृहस्थस्य ऋतौ स्वभार्यागमनं तीर्थयात्रादौ मार्गगमनं च न निषिद्धमित्यादिपदेन सूच्यते । तत्र प्रमाणं गोरक्षवचनमवतारयति—तथाहीति । तत्पठति—वर्जयेति । दुर्जनप्रातं दुर्जनसमीपवासम् दुर्जनप्रीतिमिति कचित्पाठः । वह्निस्त्रीपथिसेवनं व्याख्यातं प्रातःस्नानं उपवासश्चादिर्यस्य फलाहारादेः तच्च तयोः समाहारद्वंद्वः । प्रथमाभ्यासिनः प्रातःस्नाने शीतविकारो-

त्पत्तेः । उपवासादिना पित्ताद्युत्पत्तेः । कायक्लेशविधिं कायक्लेशकरं विधिं क्रियां बहुसूर्यनमस्कारादिरूपां बहुभारोद्धहनादिरूपां च । तथा समुच्चये । अत्र प्रतिपदं वर्जयेदिति क्रियासंबंधः ॥ ६१ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार योगियोंको जो सदैव कालमें वर्जित हैं उनको कहकर योगके समयमें जो वर्जित हैं उनको कहते हैं कि, वह्नि स्त्री मार्ग इनकी सेवा अर्थात् अग्निकी सेवा स्त्रीसंग तीर्थयात्रागमन इनका वर्जन अभ्यासके समयमें करें और अभ्यासके सिद्ध होनेपर कदाचित्ही वर्जदे । शीतकालमें अग्निका सेवन गृहस्थको ऋतुके समय स्वभार्यागमन और तीर्थयात्रा आदिमें मार्ग गमन निषिद्ध नहीं है यह आदि पदसे सूचित किया । उसमें प्रमाणरूप गोरक्षका वचन कहते हैं कि, दुर्जनके समीपका वास और कही यह पाठ है कि, दुर्जनके संग प्रीति और अग्नि स्त्री मार्ग इनका सेवन और प्रातःकालस्नान और उपवास आदि । यहां आदि पदसे फलाहार और कायाके क्लेशकी विधिको अर्थात् अनेकवार सूर्यनमस्कार आदिको और अधिक भारका लेजाना आदिको वर्जदे । इस श्लोकमें तथा पद समुच्चयका बोधक है ६१ ॥

**गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं क्षीराज्यखंडनवनीत-  
सितामधूनि ॥ शुंठीपटोलकफलादिकपंचशाकं मुद्गादि-  
दिव्यमुदकं च यमीन्द्रपथ्यम् ॥ ६२ ॥**

अथ योगिपथ्यमाह—गोधूमेत्यादिना ॥ गोधूमाश्च शाल्यश्च यवाश्च षाष्टिकाः षष्ठ्या दिनैर्ये षच्यन्ते तंदुलविशेषास्ते शोभनमन्त्रं पवित्रान्नं श्यामाकनीवारादि तच्चैतेषां समाहारद्वंद्वः । क्षीरं दुग्धमाज्यं घृतं खंडः शर्करा नवनीतं मथितदधिसारं सिता तीव्रपदी खंडशर्करेति लोके प्रसिद्धा मिसरीति हिंदुस्थानभाषायाम् । मधु कौद्रमेषामितरेतरद्वंद्वः । शुंठी प्रसिद्धा पटोलफलं परवर इति भाषायां प्रसिद्धं शाकं तदादिर्यस्य कौशातक्यादेस्तत्पटोलकफलादिकं “शेषादिभाषा” इति कप्रत्ययः । पंचानां शाकानां समाहारः पंचशाकम् । तदुक्तं वैद्यके—‘सर्वशाकमचाक्षुष्यं चाक्षुष्यं शाकपंचकम् । जीवंतीवास्तुमूल्याक्षी मेघनादपुनर्नवा’ ॥ इति । मुद्गा द्विदलविशेषा आदिर्यस्य तन्मुद्गादि आदिपदेन आढकी ग्राह्या । दिव्यं निर्दोषमुदकं जलम् । यम एषामस्तीति यमिनः तेष्विन्द्रो देवश्रेष्ठो योगीन्द्रस्तस्य पथ्यं हितम् ॥ ६२ ॥

भाषार्थ—अब योगियोंके पथ्यका वर्णन करते हैं कि, गेहूँ शालि (चावल) जौ और षाष्टिक ( सांठी ) और पवित्र अन्न ( श्यामाक नीवार आदि ) दूध घी खंड नौनी घी सिता ( मिसरी ) मधुर (सहत) सूठ पटोल फल ( परवल ) आदि, पांच शाक मूंग आदि, आदि पदसे आढकी और दिव्य जल अर्थात् निर्दोष जल ये योगियोंमें जो इंद्र हैं उनके पथ्य हैं वैद्यकमें भी ये पांच शाक पथ्य कहे हैं कि, संपूर्ण शाक अचाक्षुष्य हैं अर्थात् नेत्रोंका हितकारी नहीं हैं किंतु ये पांच शाकही चाक्षुष्य हैं कि, जीवन्ती वास्तु ( बयुवा ) मूल्याक्षी मेघनाद और पुनर्नवा ॥ ६२ ॥

**पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ॥**

**मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥ ६३ ॥**

अथ योगिनो भोजननियममाह—पुष्टमिति ॥ पुष्टं देहपुष्टिकरमोदनादि सुमधुरं शर्करादिसहितं स्निग्धं सघृतं गव्यं गोदुग्धघृतादियुक्तं गव्यालाम्बे माहिषं दुग्धादि ग्राह्यम् । धातुप्रपोषणं लड्डुकापूपादि मनोभिलषितं पुष्टादिषु यन्मनोरुचिकरं तदेव योगिनां भोक्तव्यम् । मनोभिलषितमपि किमविहितं भोक्तव्यं नेत्याह—योग्यमिति । विहितमेवेत्यर्थः । योगी भोजनं पूर्वोक्तविशेषेण विशिष्टमाचरेत्कुर्यादित्यर्थः । न; तु सत्कुमार्जितान्नादिना निर्वाहं कुर्यादिति भावः ॥ ६३ ॥

भाषार्थ—अब योगीके भोजनोंका नियम कहते हैं कि ओदन आदि देहपुष्टिकारक और शर्करा आदि मधुर और घृतसहित भोजन और दुग्ध घृत आदि गव्य यदि मौके घृत आदि न मिले तो भैंसके ग्रहण करने और धातुपोषक (लड्डू पूआ आदि) इनमें जो अपने मनको वाञ्छित हो उस योग्य अर्थात् शास्त्रविहित भोजनको योगी करे और सत्तु मुने अन्न आदिसे निर्वाह न करे ॥ ६३ ॥

**युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ॥**

**अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः ॥ ६४ ॥**

योगाभ्यासिनो वयोविशेषारोग्याद्यपेक्षा नास्तीत्याह—युवेति ॥ युवा; तरुणः वृद्धो वृद्धावस्थां प्राप्तः अतिवृद्धोऽतिवृद्धकं गतो वा । अभ्यासादासनकुम्भकादीनामभ्यसनात्सिद्धिं समाधितत्फलरूपमाप्नोति । अभ्यासप्रकारमेव वदन्निशिनष्टि—सर्वयोगेष्विति । सर्वेषु योगेषु योगांगेष्वतन्द्रितोऽनलसः योगांगाभ्यासात्सिद्धिमाप्नोतीत्यर्थः । जीवनसाधने कृषिवाणिज्यादौ जीवनशब्दप्रयोगवत्साक्षात्परंपरया वा योगसाधनेषु योगांगेषु योगशब्दप्रयोगः ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—अब इस बातका वर्णन करते हैं कि, योगके अभ्यासीको अवस्था विशेष और दुर्बल आरोग्य आदिकी अपेक्षा नहीं है कि, युवा हो वृद्ध हो अतिवृद्ध हो रोगी हो वा दुर्बल हो अभ्याससे आसन कुम्भक आदिके करनेसे समाधि और उसके फलको प्राप्त होता है । अभ्यासके स्वरूपको कहते हैं कि, सम्पूर्ण जो योगके अंग उनमें आलस्य न करे, यहां योगके साधन योगांगोंमें इस प्रकार योग शब्दका प्रयोग है जैसे जीवनके साधन कृषि वाणिज्य आदिमें जीवनशब्दका प्रयोग होता है ॥ ६४ ॥

**क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ॥**

**न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥ ६५ ॥**

अभ्यासादेव सिद्धिर्भवतीति द्रव्यनाह द्वाभ्याम्—क्रियायुक्तस्येति ॥ क्रिया योगांगानुष्ठानरूपा तथा युक्तस्य सिद्धिर्योगसिद्धिः स्यात् । अक्रियस्य योगांगानुष्ठानरहितस्य

कथं भवेन्न कथमपीत्यर्थः । ननु योगशास्त्राध्ययनेन योगसिद्धिः स्यान्नेत्याह—नेति ॥  
शास्त्रस्य योगशास्त्रास्य पाठमात्रेण केवलेन पाठेन योगस्य सिद्धिर्न प्रजायते नैव  
जायत इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

भाषार्थ—अब अभ्याससे सिद्धि होती है इस बातको दृढ़ करनेके लिये दो २ श्लोकोंको कहते हैं कि, योगांगोंके करनेमें जो युक्त उस पुरुषको योगसिद्धि होती है और जो योगांगोंको नहीं करता उसको योगकी सिद्धि नहीं होती कदाचित् कहो कि, योगशास्त्रके पढ़नेसे सिद्धि होजायगी सो ठीक नहीं क्योंकि योगशास्त्रके केवल पढ़नेसे योगसिद्धि नहीं होती ॥ ६५ ॥

**न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा ॥**

**क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ॥ ६६ ॥**

नेति ॥ वेषस्य कापायवस्त्रदेः धारणं सिद्धेर्योगसिद्धेः कारणं न । तस्य योगस्य कथा वा कारणं न । किं तर्हि सिद्धेः कारणमित्यत आह—क्रियैवेति ॥ ६६ ॥

भाषार्थ—जेहूसे रंगे वस्त्र आदिका धारण सिद्धिका कारण नहीं और योगशास्त्रकी कथा भी सिद्धिका कारण नहीं यह सत्य है इसमें संशय नहीं ॥ ६६ ॥

**पीठानि कुम्भकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च ॥**

**सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि ॥ ६७ ॥**

**इति श्रीसहजानन्दसंतानचिन्तामणिस्वात्मारामयोगीन्द्र-**

**विरचितायां हठयोगप्रदीपिकायामासनविधिक-**

**यनं नाम प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥**

योगांगानुष्ठानस्यावधिमाह—पीठानीति ॥ पीठान्यासनानि चित्रा अनेकविधाः  
कुम्भकाः सूर्यभेदादयः दिव्यान्युत्कृष्टानि करणानि महामुद्रादीनि हठसिद्धौ प्रकृष्टोपक-  
रकत्वं कारणत्वं हठाभ्यासे सर्वाणि पीठकुम्भकरणानि राजयोगफलावधि राजयोग  
एव फलं तदवधि तत्पर्यंतं कर्तव्यानीति शेषः ॥ ६७ ॥

**इति श्रीहठयोगप्रदीपिकायां ब्रह्मानन्दकृतायां ज्योत्स्नाभिधायं टीकायां**

**प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥**

भाषार्थ—अब योगांगोंके करनेकी अवधिको कहते हैं कि, पूर्वोक्त आसन और अनेक प्रकारके कुम्भक आदि प्राणायाम महामुद्रा आदि दिव्य करण ये संपूर्ण हठयोगके अभ्यासमें राजयोगके फलपर्यंत करने योग्य हैं अर्थात् ये राजयोगमें प्रकृष्ट उपकारक हैं क्योंकि प्रकृष्ट जो उपकारक वही करण होता है ॥ ६७ ॥

**इति श्रीसहजानन्दसंतानचिन्तामणिस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितहठयोगप्रदीपिकायां**

**लौखग्रामनिवासि पं० मिहिरचन्द्रकृतभाषाविवृतिसहितायामासनविधिकथनं**

**नाम प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥**

अथ द्वितीयोपदेशः २.

**अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः ॥**

**गुरुपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥ १ ॥**

अथासनोपदेशानंतरं प्राणायामान्वक्तुमुपक्रमते—अथेति ॥ अथेति मंगलार्थः । आसने दृढे सति वशी जिताक्षः हितं पथ्यं च तन्मितं च पूर्वोपदेशोक्तलक्षणं तत्तद्दृशमशनं यस्य स हितमिताशनः गुरुणोपदिष्टो यो मार्गः प्राणायामाभ्यासप्रकारस्तेन प्राणायामान् वक्ष्यमाणान्सम्यगुत्साहसाहसधैर्यादिभिरभ्यसेत् । दृढे स्थिरे कुक्कुटादिविवर्जिते सिद्धासनादाविति वा योजना ॥ १ ॥

भाषार्थ—आसनोंके उपदेशको कहकर प्राणायामोंके कहनेका प्रारंभ करते हैं । इस श्लोकमें अथशब्द मंगलके लिये है वा अनंतरका वाचक है इसके अनंतर आसनोंकी दृढता होनेपर जीती हैं इन्द्रियें जिसने हित ( पथ्य ) और पूर्वोक्त प्रमित है भोजन जिसका ऐसा योगी गुरुके उपदेश किये मार्गसे आगे वर्णन किये प्राणायामोंका भलीप्रकार अभ्यास करे—अर्थात् उत्साह-साहस-धीरता आदिसे प्राणायामोंके करनेमें मनको लगावे ॥ १ ॥

**चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ॥**

**योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥ २ ॥**

‘प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते’ इति महदुक्तेः प्रयोजनाभावेन प्रवृत्त्यभावात् प्राणायामप्रयोजनमाह—चले वात इति ॥ वाते चले सति चित्तं चलं भवेत् । निश्चले वाते निश्चलं भवेच्चित्तमित्यत्रापि संबध्यते । वाते चित्ते च निश्चले योगी स्थाणुत्वं स्थिरदीर्घजीवित्वमिति यावत् । ईशत्वं वाप्नोति । ततस्तस्माद्वायुं प्राणं निरोधयेत्कुंभयेत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि, प्रयोजनके विना मंद भी प्रवृत्त नहीं होता—इस महान् पुरुषोंके वचनसे प्रयोजनके अभावसे प्राणायामोंमें योगीकी प्रवृत्ति नहीं होगी इसलिये प्राणायामोंका प्रयोजन कहते हैं कि, प्राणवायुके चलायमान होनेसे चित्तभी चलायमान होता है—और प्राणवायुके निश्चल होनेपर चित्त भी निश्चल होता है और प्राणवायु और चित्त इन दोनोंके निश्चल होनेपर योगी स्थाणुरूपको प्राप्त होता है अर्थात् स्थिर और दीर्घ कालतक जीता है तिससे योगी प्राणवायुका निरोध करे अर्थात् कुम्भकप्राणायामोंको करे ॥ २ ॥

**यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ॥**

**मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ३ ॥**

यावदिति ॥ देहे शरीरे यावत्कालं वायुः प्राणः स्थितः तावत्कालपर्यन्तं जीवनमुच्यते लोकैः । देहाप्राणसंयोगोऽस्यैव जीवनपदार्थत्वात् । तस्य प्राणस्य निष्क्रान्तिर्देहादियोगे मरणमुच्यते । ततस्तस्माद्वायुं निरोधयेत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जबतक शरीरमें प्राणवायु स्थित है तबतकही जगत् जीवनको कहता है क्योंकि देह और प्राणका जो संयोग है वही जीवन कहाता है और उस प्राणवायुका जो देहसे वियोग ( निकसना ) उसकोही मरण कहते हैं तिससे, जीवनके लिये प्राणवायुके निरोध ( रोकना ) रूप प्राणायामको करै ॥ ३ ॥

**मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः ॥**

**कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ॥ ४ ॥**

मलशुद्धेर्हठसिद्धिजनकत्वं व्यतिरेकेणाह—मलाकुलास्विति ॥ नाडीषु मलैराकुलासु व्याप्तासु सतीषु मारुतः प्राणो मध्यगः सुषुम्नामार्गवाही नैव स्यात् । अपि तु शुद्ध-मलास्वेव मध्यगो भवतीत्यर्थः । उन्मनीभाव उन्मन्याभावो भवनं कथं स्यान्न कथमपी-त्यर्थः । कार्यस्य कैवल्यरूपस्य सिद्धिर्निष्पत्तिः कथं भवेन्न कथंचिदपीत्यर्थः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—अब मलकी शुद्धि हठयोगसिद्धिका जनक है इस बातको निषेधमुखसे वर्णन करते हैं कि, जबतक नाडी मलसे व्याकुल ( व्याप्त ) हैं तबतक प्राण मध्यग नहीं होसकता अर्थात् सुषुम्ना नाडीके मार्गसे नहीं चल सकता किंतु मलशुद्धि होनेपर ही मध्यग होसकता है तो मलसेयुक्त नाडियोंके विद्यमान रहते उन्मनीभाव कैसे होसकता है और मोक्षरूप कार्यकी सिद्धि कैसे होसकती है अर्थात् नहीं होसकती । सुषुम्नानाडीके प्राणसंचार होनेको उन्मनीभावे कहते हैं ॥ ४ ॥

**शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ॥**

**तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ ५ ॥**

अन्वयेनापि मलशुद्धेर्हठसिद्धिहेतुत्वमाह—शुद्धिमेतीति ॥ यदा यस्मिन्काले मलैराकुलं व्याप्तं सर्वं समस्तं नाडीनां चक्रं समूहः शुद्धिं मलराहित्यमेति प्राप्नोति तदैव तस्मिन्नेव काले योगी योगाभ्यासी प्राणस्य ग्रहणे क्षमः समर्थो जायते ॥ ५ ॥

भाषार्थ—और मलोंसे व्याकुल संपूर्ण नाडियोंका समूह जब शुद्धिको प्राप्त होता है उसी कालमें योगी प्राणवायुके संग्रहण ( रोकना ) में समर्थ होता है, इस श्लोकसे यह बात वर्णन की कि, अन्वयसेही मलशुद्धि—हठयोग सिद्धिकी हेतु है अर्थात् इन पूर्वोक्त अन्वयव्यतिरेक कारणोंसे योगी मलशुद्धिकेलिये प्राणायामोंका सदैव अभ्यास करै ॥ ५ ॥

**प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्त्विकया धिया ॥**

**यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयांति च ॥ ६ ॥**

मलशुद्धिः कथं भवतीत्याकांक्षायां तच्छोधकं प्राणायाममाह—प्राणायाममिति ॥ यतो मलशुद्धिं विना प्राणसंग्रहणे क्षमो न भवति ततस्तस्मादीश्वरप्राणिधानोत्साहसाहसादिप्रयत्नाभिभूतविक्षेपालस्यादिराजसतामसधर्मया सात्त्विकया प्रकाशप्रसादशीलया धिया बुद्ध्या नित्यं प्राणायामं कुर्यात् यथा येन प्रकारेण सुषुम्नानाड्यां स्थाता मलाः शुद्धिमपगमं प्रयांति नश्यंतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—अब मलशुद्धिके हेतु प्राणायामको कहते हैं जिस कारण योगी मलशुद्धिके विना कारणोंके संग्रहणमें समर्थ नहीं होता तिससे सात्त्विक बुद्धिसे प्राणायामको 'नित्य करे' अर्थात् ईश्वरका प्रणिधान उत्साह साहस आदि यत्नोंसे तिरस्कारको प्राप्त भये हैं विक्षेप आलस्य आदि रजोगुणी धर्म जिसके ऐसी सात्त्विक अर्थात् प्रकाशमान और प्रसन्न बुद्धिसे सदैव प्राणायाममें उस प्रकार तत्पर रहै जिस प्रकारसे सुषुम्ना नाडीमें स्थित संपूर्ण मलशुद्धिको प्राप्त होय अर्थात् नष्ट होजाय ॥ ६ ॥

**बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चंद्रेण पूरयेत् ।**

**धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ ७ ॥**

मलशोधकप्राणायामप्रकारमाह द्वाभ्याम्—बद्धपद्मासन इति ॥ बद्धं पद्मासनं येन तादृशो योगी प्राणं प्राणवायुं चंद्रेण चंद्रनाड्येडया पूरयेत् । शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुंभयित्वा भूयः पुनः सूर्येण सूर्यनाड्या पिंगलया रेचयेत् । बाह्यवायोः प्रयत्नविशेषादुपादानं पूरकः । जालंधरादिबंधपूर्वकं प्राणनिरोधः कुंभकः । कुंभितस्य वायोः प्रयत्नविशेषोद्गमनं रेचकः । प्राणायामांगरेचकपूरकयोरेवेमे लक्षणे इति । 'भस्त्रावलोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ' इति गौणरेचकपूरकयोर्नाव्याप्तिः । तयोर्लक्ष्यत्वाभावात् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—अब मलके शोधक प्राणायामके प्रकारको कहते हैं कि, बांधा है पद्मासन जिसने ऐसा योगी प्राणवायुको चंद्रनाडी ( इडा ) से पूर्ण करै अर्थात् चढावे फिर उसको अपनी शक्तिके अनुसार धारण करके अर्थात् कुंभक प्राणायाम करके फिर सूर्यकी नाडी ( पिंगला ) से प्राणवायुका रेचन करै अर्थात् छोडदे । बाहरकी वायुका जो प्रयत्न विशेषसे ग्रहण उसे पूरक कहते हैं और जालंधर आदि बंधपूर्वक जो प्राणोंका निरोध उसे कुंभक कहते हैं, और कुंभित प्राणवायुका जो प्रयत्न विशेषसे गमन उसे रेचक कहते हैं ये रेचक और पूरकके लक्षण उन्हीं रेचक पूरकोंके हैं जो प्राणायामोंके अंग है इससे वचनमें गौण रेचक पूरक कहे हैं उनमें अव्याप्ति नहीं क्योंकि वे लक्ष्यही नहीं कि लोहकारकी भस्त्राके समान रेचक और पूरकको संभ्रमसे करै ॥ ७ ॥

**प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ॥**

**विधिवत्संतभकं कृत्वा पुनश्चंद्रेण रेचयेत् ॥ ८ ॥**

प्राणमिति ॥ सूर्येण सूर्यनाड्या पिंगलया प्राणमाकृष्य गृहीत्वा शनैर्मंदमंदमुदरं जठरं पूरयेत् । विधिवद्बंधपूर्वकं कुंभकं कृत्वा पुनर्भूयश्चंद्रेणैडया रेचयेत् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—और सूर्यकी नाडी पिंगलासे प्राणका आकर्षण ( खींचना ) करके शनैः शनैः उदरको पूरणकरे फिर विधिसे कुंभक ( धारण ) करके चंद्रमाकी इडा नामकी नाडीसे रेचन करै अर्थात् प्राणवायुको छोडदे ॥ ८ ॥

**येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः ॥**

**रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः ॥ ९ ॥**

उक्ते प्राणायामे विशेषमाह-येनेति ॥ येन चंद्रेण 'वा। त्यजेद्रेचयेत्तेन पीत्वा पूरयित्वा । अतिरोधतोऽतिशयितेन रोधेन स्वेदकंपादिजननपर्यन्तेन । सार्वविभाक्तिकस्तसिह । येन पूरकस्ततोऽन्येन शनैरेचयेन्न तु वेगतः वेगाद्रेचने बलहानिः स्यात् । येन पूरकः कृतस्तेन रेचको न कर्तव्यः । येन रेचकः कृतस्तेनैव पूरकः कर्तव्य इति भावः ॥ ९ ॥

भाषार्थ-अब उक्त प्राणायाममें विशेष विधिको कहते हैं कि, जिस चन्द्रमा वा सूर्यकी नाडीसे प्राणवायुका त्याग ( रेचन ) करै उसी नाडीसे पान ( पूरण ) करके अत्यंतरोधन ( रोकना ) से अर्थात् स्वेद और कम्पके पर्यंत धारण करै । फिर जिससे पूरक किया हो उससे अन्य नाडीसे शनैः शनैः रेचन करै वेगसे नहीं क्योंकि वेगसे रेचन करनेमें बलकी हानि होती है अर्थात् जिस नाडीसे पूरक किया हो उससे रेचक न करै और जिससे रेचक किया हो उसीसे पूरकको तो करले ॥ ९ ॥

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यथा रेचये-  
त्पीत्वा पिंगलया समीरणमथो बद्धा त्यजेद्दामया ॥

सूर्याचंद्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां

शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥ १० ॥

बद्धपद्मासन इत्याद्युक्तमर्धं पिंडीकृत्यानुवदन्प्राणायामस्यावांतरफलमाह-प्राणमिति ॥ चेदिडया वामनाड्या प्राणं पिबेत्पूरयेत्तर्हि नियमितं कुंभितं, प्राणं भूयः पुनरन्यथा पिंगलया रेचयेत् । पिंगलया दक्षिणाड्या समीरणं वायुं पीत्वा पूरयित्वाथो पूरणानंतरं बद्धा कुंभयित्वा वामयेडया त्यजेद्रेचयेत् । सूर्यश्च चंद्रमाश्च सूर्याचंद्रमसौ तयोः “ देवताद्वे च ” इत्यानङ् । अनेनोक्तेन विधिना प्रकारेण सदा नित्यमभ्यासं चंद्रेणापूर्य कुंभयित्वा सूर्येण रेचयेत्सूर्येणापूर्य कुंभयित्वा च चंद्रेण रेचयेदित्याकारकं तन्वतां विस्तारयतां यमिनां नाडीगणा नाडीसमूहा मासत्रयादूर्ध्वतो मासानां त्रयं तस्मादुपरि शुद्धा मलरहिता भवन्ति ॥ १० ॥

भाषार्थ-पूर्वोक्त आठ श्लोकोंसे वर्णन किये तात्पर्यको एकत्र करके अनुवाद करते हुए ग्रन्थकार प्राणायामके अवान्तर फलको कहते हैं, यदि योगी इडासे अर्थात् वामनाडीसे प्राणका पान ( पूरण ) करै तो नियमित कुंभित उस प्राणको फिर दूसरी पिंगला नाडीसे रेचन करै और यदि पिंगलासे प्राणको पीवै अर्थात् दक्षिण नाडीसे वायु पूरण करे तो उस प्राणवायुको बांधकर अर्थात् कुंभित करके इडारूप वामनाडीसे प्राणवायुका रेचन करै । इस पूर्वोक्त सूर्य और चंद्रमाकी विधिसे अर्थात् चंद्रमासे पूरण और कुम्भक करके सूर्यसे रेचन करै और सूर्यसे पूरण और कुम्भक करके चंद्रमासे रेचन करै इस पूर्वोक्त विधिसे सदैव अभ्यास करते हुए योगिजनोंके नाडियोंके गण तीन मासके अनंतर शुद्ध होते हैं अर्थात् निर्मल होजाते हैं ॥ १० ॥

**प्रातर्मध्यादिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकाच्च ॥**

**शनैरशीतिपर्यंतं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ ११ ॥**

अथ प्राणायामाभ्यासकालं तदवधिं चाह—प्रातरिति ॥ प्रातरुणोदयमारभ्य सूर्यो-  
दयाद्वटिकात्रयपर्यन्ते प्रातःकाले मध्यंदिने मध्याह्ने पंचधा विभक्तस्य दिनस्य मध्यभागे  
सायंसंध्या त्रिनाडीप्रमितार्कास्तादधस्तादूर्ध्वं चेत्युक्तलक्षणे सन्ध्याकाले रात्रेर्धर्मर्ध-  
रात्रं तस्मिन्नर्धरात्रे रात्रेर्मध्ये मुहूर्तद्वये च शनैरशीतिपर्यंतमशीतिसंख्यावाधि चतुर्वारं  
वारचतुष्टयं 'कालाध्वनोरत्यंतसंयोगे' इति द्वितीया । चतुर्षु कालेष्वेकैकस्मिन्काले  
अशीतिप्राणायामाः कार्याः । अर्धरात्रे कर्तुमशक्तश्चेत्त्रिसंध्यं कर्तव्या इति संप्रदायः ।  
चतुर्वारं कृताश्चेद्दिनेदिने ३२० विंशत्याधिकशतत्रयपरिमिताः प्राणायामा भवंति । वार-  
त्रयं कृताश्चेच्चवारंशदाधिकशतद्वय २४० परिमिता भवंति ॥ ११ ॥

भाषार्थ—अव प्राणायामके अभ्यास काल और उसकी अवधिको कहते हैं—कि, प्रातःकाल  
अर्थात् अरुणोदयसे लेकर सूर्योदयसे तीन घड़ी दिनचढ़े तक और मध्याह्नमें अर्थात् पांच  
भाग किये दिनके मध्य भागमें और सायंकाल अर्थात् सूर्यास्तसे पूर्व और सूर्यास्तके अनंतर  
तीन घड़ीरूप संध्याके समयमें और अर्द्धरात्रमें अर्थात् रात्रिके मध्यभागके दो मुहूर्तोंमें शनैः  
शनैः इन पूर्वोक्त चारों कालोंमें चार वार अशीति ( ८० ) प्राणायाम करै यदि अर्द्धरात्रमें कर-  
नेको असमर्थ होय तो तीन कालमेंही अस्सी २ प्राणायाम करे, चारवार करे तो ( ३२० )  
तीनसौ बीस प्राणायाम होते हैं—तीनवार करै तो ( २४० ) दोसौचालीस होते हैं ॥ ११ ॥

**कनीयसि भवेत्स्वेदः कंपो भवति मध्यमे ॥**

**उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत् ॥ १२ ॥**

कनिष्ठमध्यमोत्तमानां प्राणायामानां क्रमेण व्यापकविशेषमाह—कनीयसीति ॥ कनी-  
यसि कनिष्ठे प्राणायामे स्वेदः प्रस्वेदो भवेद्भवति । स्वेदानुमेयः कनिष्ठः । मध्यमे  
प्राणायामे कंपो भवति । कंपानुमेयो मध्यमः । उत्तमे प्राणायामे स्थानं ब्रह्मरंध्रमा-  
प्नोति । स्थानप्राप्त्यनुमेय उत्तमः । ततस्तस्माद्वायुं प्राण निबन्धयेन्नितरां  
बन्धयेत् । कनिष्ठादीनां लक्षणमुक्तं लिंगपुराणे—'प्राणायामस्य मानं नु मात्रा-  
द्वादशकं स्मृतम् । नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्धात ईरितः । मध्यमस्तु द्विरुद्धातश्च-  
तुर्विंशतिमात्रकः । मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्धातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते ॥ प्रस्वेदकंपनोत्था-  
नजनकश्च यथाक्रमम् । आनंदो जायते चात्र निद्रा धूमस्तथैव च ॥ रोमांचो ध्वनि-  
संविज्ञरंगमोदनकंपनम् । श्रमणस्वेदजल्पाद्यं संविन्मूर्छा जयेद्यदा ॥ तदोत्तमः' इति  
प्रोक्तः प्राणायामः सुशोभनः ।" इति ॥ धूमश्चित्तांशोलनम् । गोरक्षोऽपि—'अधमे  
द्वादश प्रोक्ता मध्यमे द्विगुणाः स्मृताः । उत्तमे त्रिगुणा मात्राः प्राणायामे द्विजोत्तमैः ॥  
उद्धातलक्षणं तु—'प्राणेनोत्सर्पमाणेन अपानः पीड्यते यदा । गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत

एतदुद्धातलक्षणम् ।' मात्रामाह याज्ञवल्क्यः--'अंगुष्ठांगुलिमोक्षं त्रिद्विजानुपरिमार्जनम् । तालत्रयमपि प्राज्ञा मात्रासंज्ञां प्रचक्षते ॥' स्कंदपुराणे-एकश्वासमयी मात्रा प्राणायामो निगद्यते ।' एतद्व्याख्यातं योगचिंतामणौ--'निद्रावशंगतस्य पुंसो यावता कालेनैकः श्वासो गच्छत्यागच्छति च तावत्कालः प्राणायामस्य मात्रेत्युच्यत इति ॥ अर्धश्वासाधिकद्वादशश्वासावच्छिन्नः कालः प्राणायामकालः । षड्भिः श्वासैरेकं पलं भवति । एवं च सार्धश्वासपलद्वयात्मकः कालः प्राणायामकालः सिद्धः सार्धद्वादशमात्राभितः प्राणायामो यः स एवोत्तमः प्राणायाम इत्युच्यते । न च पूर्वोदाहृतलिंगपुराणगोरक्षवाक्यविरोधः । तत्र द्वादशमात्रकस्य प्राणायामस्याथमत्वोक्तोक्तिरिति शंकनयिं 'जानु प्रदक्षिणीकुर्वाणं द्रुतं न विलंबितम् । प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते ॥' इति स्कंदपुराणात् । 'अंगुष्ठांगुलिमोक्षं च जानोश्च परिमार्जनम् । प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते ॥' इति च स्कंदपुराणात् । 'अंगुष्ठो मात्रा संख्यायते तदा' ॥ इति दत्तात्रेयवचनाच्च । लिंगपुराणगोरक्षादिवाक्येष्वेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वेन विवक्षितत्वात् । याज्ञवल्क्यादिवाक्येषु छोटिकात्रयावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वेन विवक्षणात् त्रिगुणस्याधमस्योत्तमत्वं तत्राप्युक्तमित्यविरोधः । सर्वेषु योगसाधनेषु प्राणायामो मुख्यस्तत्सिद्धौ प्रत्याहारादीनां सिद्धेः । तदसिद्धौ प्रत्याहाराद्यसिद्धेश्च । वस्तुतस्तु प्राणायाम एव प्रत्याहारादिशब्दैर्निगद्यते । तथा चोक्तं योगचिंतामणौ-प्राणायाम एवाभ्यासक्रमेण वर्धमानः प्रत्याहारध्यानधारणासमाधिशब्दैरुच्यत इति । तदुक्तं स्कंदपुराणे--'प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृतः । प्रत्याहारद्विषट्केन धारणा परिकीर्तिता ॥ भवेदीश्वरसंश्रुत्यै ध्यानं द्वादशधारणम् । ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥ यत्समाधौ परं ज्योतिरनंतं स्वप्रकाशकम् । तस्मिन्दृष्टे क्रियाकांडयातायातं निवर्तते ॥' इति ॥ तथा--'धारणा पंचनाडीभिर्ध्यानिं स्यात्षष्टिनाडिकम् । दिनद्वादशकेनैव समाधिः प्राणसंयमात् ॥' इति च । गोरक्षादिभिरप्येवमेवोक्तम् । अत्रैवं व्यवस्था । किंचिदूनद्विचत्वारिंशद्विपलात्मकः कनिष्ठप्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया द्वादशमात्रकः कालः । किंचिदूनचतुरशीतिविपलात्मको मध्यमप्राणायामकालः अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया चतुर्विंशतिमात्रकः कालः । पंचविंशत्युत्तरशतविपलात्मक उत्तमः प्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया षट्त्रिंशन्मात्रककालः । छोटिकात्रयावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया तु द्वादशमात्रक एव । बंधपूर्वकं पंचविंशत्युत्तरशतविपलपर्यंतं यदा प्राणायामस्यैर्यं भवति तदा प्राणो ब्रह्मरंध्रं गच्छति । ब्रह्मरंध्रं गतः प्राणो यदा पंचविंशतिपलपर्यंतं तिष्ठति तदा प्रत्याहारः । यदा पंचघटिकापर्यंतं तिष्ठति तदा धारणा । यदा षष्टिघटिकापर्यंतं तिष्ठति तदा ध्यानम् । यदा द्वादशदिनपर्यंतं तिष्ठति तदा समाधिर्भवतीति सर्वरमणीयम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—अब कनिष्ठ मध्यम उत्तम रूप तीन प्रकारके प्राणायामोंमें क्रमसे व्यापक जो विशेष उसका वर्णन करते हैं—कि कनिष्ठ प्राणायाममें स्वेद होता है अर्थात् प्राणायाम करते पसीना आजाय तो वह प्राणायाम कनिष्ठ ( निष्कृष्ट ) जानना और मध्यम प्राणायाममें कम्प होता है अर्थात् देहमें कम्प हो जाय तो वह प्राणायाम मध्यम होता है—और उत्तम प्राणायाम करनेसे योगी ब्रह्मरूप उत्तम स्थानको प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्मरूपमें वायु पहुँचजाय तो उत्तम प्राणायाम जानना तिससे प्राणवायुका निरंतर बंधन करे अर्थात् रोके । कनिष्ठ आदि प्राणायामोंका लक्षण लिङ्गपुराणमें कहा है कि, प्राणायामका प्रमाण द्वादश १२ मात्राका कहाँ है, एकबार है प्राणवायुका उद्घात ( उठाना ) जिसमें ऐसा द्वादशमात्राका प्राणायाम नीच होता है और जिसमें दोबार उद्घात हो वह चौबीस मात्राका प्राणायाम मध्यम होता है और जिसमें तीनबार उद्घात होय वह छत्तीस ३६ मात्राका प्राणायाम मुख्य होता है और तीनोंमें क्रमसे प्रस्वेद, कम्पन और उत्थान होते हैं । और प्राणायामोंमें आनन्द निद्रा और चित्तका आंदोलन रोमांच ध्वनिका ज्ञान अंगका मोटन और कम्पन होते हैं और जब योगी श्रम स्वेद भाषण संवित् ( ज्ञान मूर्च्छा ) इनको जीतले तब वह शोभन प्राणायाम उत्तम कहा है । गोरक्षने भी कहा है कि, अधमप्राणायाम द्वादश, मध्यममें चौबीस, उत्तममें ३६ छत्तीस मात्रा द्विजोत्तमोंने कही है । उद्घातका लक्षण तो यह कहा है कि, ऊपरको चढतेहुए प्राणसे जब अपानवायु पीडित होता है और ऊपरको गया प्राण लोटता है यह उद्घातका लक्षण है, मात्राकी संज्ञा याज्ञवल्क्यने यह कही है कि; अंगुष्ठ और अंगुलीको तीनबार मोक्ष ( बजाना वा. त्याग ) और तीनबार जानुका मार्जन अर्थात् गोडेपर हाथफेरना और तीनताल इनको बुद्धिमान मनुष्य मात्रा कहते हैं । स्कंदपुराणमें लिखा है कि, एक श्वासकी जो मात्रा उसे प्राणायाम कहते हैं अर्थात् शयन करते हुए मनुष्यका श्वास जितने कालसे आवे वा जाय उतना काल प्राणायामकी मात्रा कहाता है । आधे श्वाससहित द्वादश श्वासके कालको प्राणायामका काल कहते हैं । छः श्वासका एक पल होता है इससे आधे श्वाससहित दो पलका जो काल वही प्राणायामका काल सिद्ध हुआ साढे बारह मात्रा है प्रमाण जिसका वही प्राणायाम उत्तम प्राणायाम कहाता है, कदाचित् कोई शंका करे कि, जिस पूर्वोक्तलिङ्गपुराणके वचनमें द्वादशमात्राका अधम प्राणायाम कहा है उसका विरोध होगया सो ठीक नहीं क्योंकि जानुको न शीघ्र न विलम्बसे प्रदक्षिणा करके एक चुटकी बजावे इतनेमें जितना काल लगे उतने कालको मात्रा कहते हैं, अंगुष्ठ और अंगुलिका मोक्ष जानुका मार्जन और चुटकी बजाना जितने कालमें होय उसे मात्रा कहते हैं । अंगुष्ठ जो है सो मात्राका बोधक है । इन स्कंदपुराण और दत्तात्रेयके वचनोंसे एक छोटिका (शिखा) युक्त जो काल वह मात्रा प्रतीत होता है और याज्ञवल्क्य आदिके वचनोंमें तीन छोटिक युक्त कालको मात्रा कहाँ है इससे त्रिगुणितको त्रिगुणित अधमको उत्तमता वहां भी कही है इससे कुछ विरोध नहीं । संपूर्ण योगके साधनोंमें प्राणायाम मुख्य है क्योंकि प्राणायामकी सिद्धिमें प्रत्याहार आदि सिद्ध होते हैं और प्राणायामकी असिद्धिमें प्रत्याहार सिद्ध नहीं होते सिद्धान्त तो यह है कि प्राणायामही प्रत्याहार शब्दोंसे कहा जाता है । सोई योगचिन्तामणिमें कहा है कि, अभ्यासके क्रमसे बढ़ता हुआ प्राणायामही प्रत्याहार ध्यान धारणा समाधि शब्दसे कहा जाता है सोई स्कंदपुराणमें कहा है कि, द्वादशप्राणायामोंका प्रत्याहार और द्वादश

प्रत्याहारोंकी धारणा और ईश्वरके संगमके लिये द्वादश धारणाओंका एक ध्यान होता है और द्वादशध्यानोकी समाधि इसलिये कहाती है कि, समाधिमें अनंत स्वप्रकाशक ज्योति (ब्रह्म) दीखता है जिसके दीखनेसे कर्मकाण्ड और जन्म मरण निवृत्त होजाते हैं । और पांच नाडियोंकी धारणा और ६० नाडि ( घाडि ) योंका ध्यान होता है । और बारह दिन प्राणायाम करनेसे समाधि होती है इस वचनसे गोरक्षआदिनेभी ऐसेही कहा है । यहां यह व्यवस्था है कि जिसमें कुछ कम ४२ विपल हों यह कनिष्ठ प्राणायामका काल है और यही एक छोटि काके कालको जब मात्रा कहते हैं तब द्वादश पलरूप होता है और कुछ कम चौराशी ८४ विपलका मध्यम प्राणायामका काल है और यही पूर्वोक्त मात्राके प्रमाणसे २४ चौकी समात्राका होता है और १२५ सवासौ विपलका उत्तम प्राणायामका काल होता है और पूर्वोक्त मात्राके प्रमाणसे छत्तीस ३६ मात्राका होता है और जब तीन छोटिकाके कालको मात्रा मानते हैं तबतो यहभी द्वादश मात्राका होता है । जब बन्धपूर्वक सवासौ विपल पर्यंत प्राणायामकी स्थिरता होजाय तब प्राणब्रह्मरन्ध्रमें चला जाता है । ब्रह्मरन्ध्रमें गया प्राण जब २५ पल पर्यंत टिकजाय तब प्रत्याहार होता है और जब पांचघाटिका पर्यंत टिकजाय तब धारणा होती है और जब ६० घडी पर्यंत टिकजाय तब ध्यान होता है और जब प्राण १२ बारह दिन तक ब्रह्मरन्ध्रमें टिकजाय तब समाधि होती है इससे सम्पूर्ण रमणिय है अर्थात् पूर्वोक्त कोई दोष नहीं । भावार्थ यह है कि कनिष्ठ प्राणायाममें स्वद मध्यममें कम्प होता है और उत्तम प्राणायाममें प्राण ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचता है इससे योगी प्राणायामका बन्धन करे ॥ १२ ॥

**जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ॥**

**दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥ १३ ॥**

प्राणायामानभ्यसतः स्वेदे जाते विशेषमाह—जलेनेति ॥ श्रमात्प्राणायामाभ्यासश्रमाज्जातं तेन जलेन प्रस्वेदेन गात्रस्य शरीरस्य मर्दनं तैलाभ्यंगवदाचरेत्कुर्यात् । तेन मर्दनेन गात्रस्य दृढता दाढ्यं लघुता जाड्याभावो जायते प्रादुर्भवाति ॥ १३ ॥

भाषार्थ—अब प्राणायामके अभ्याससे स्वेद होनेपर विशेष कहते हैं कि प्राणायामके परिश्रमसे उत्पन्न हुआ जो जल उससे अपने गात्रोंका मर्दन करे उससे शरीरकी दृढता और लघुता होती है अर्थात् जडता नहीं रहती ॥ १३ ॥

**अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ॥**

**ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥ १४ ॥**

अथ प्रथमोत्तराभ्यासयोः क्षीरादिनियमानाह—अभ्यासकाल इति ॥ क्षीरं दुग्धमाज्यं घृतं तद्युक्तं भोजनं क्षीराज्यभोजनम् । शाकपार्थिवादिवत्समासः । केवले कुम्भके सिद्धेऽभ्यासो दृढो भवति । स्पष्टमन्यत् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—अब पहिले और पिछले अभ्यासोंमें दुग्ध आदिके नियमोंका वर्णन करते हैं कि, पहिले अभ्यासकालमें दुग्ध और घीसहित भोजन श्रेष्ठ कहा है फिर अभ्यासके दृढ होनेपर अर्थात् कुम्भके सिद्ध होनेपर पूर्वोक्त नियममें आग्रह न करे ॥ १४ ॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ॥

तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥ १५ ॥

सिंहादिवच्छनैरेव प्राणं वश्येन्न सहसेत्याह—यथेति ॥ यथा येन प्रकारेण सिंहो मृगेंद्रो गजो वनहस्ती व्याघ्रः शार्दूलः शनैः शनैरेव वश्यः स्वाधीनो भवेन्न सहसा तथैव तेनैव प्रकारेण सेवितोऽभ्यस्तो वायुः प्राणो वश्यो भवेत् । अन्यथा सहसा गृह्यमाणः साधकम् अभ्यासिनं हन्ति सिंहादिवत् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—सिंह आदिके समान शनैः २ प्राणको वशमें करै शीघ्र न करै इस बातका वर्णन करते हैं जैसे सिंह गज ( वनका हार्थी ) व्याघ्र ( शार्दूल ) ये शनैः २ ही वशमें होसकते हैं शीघ्र नहीं किसी प्रकार अभ्यास किया प्राण शनैः २ ही वशमें होता है शीघ्रता करनेसे सिंह आदिके समान साधकको अपने समान नष्ट करदेता है ॥ १५ ॥

प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ॥

अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥ १६ ॥

युक्तयुक्तयोः फलमाह—प्राणायामेति ॥ आहारादियुक्तिपूर्वको जालंधरादिवंधयुक्तिविशिष्टः प्राणायामो युक्त इत्युच्यते । तेन सर्वरोगक्षयः सर्वेषां रोगाणां क्षयो नाशो भवेत् । अयुक्त उक्तयुक्तिरहितो योऽभ्यासस्तद्युक्तेन प्राणायामेन सर्वरोगसमुद्भवः सर्वेषां रोगाणां सम्यगुद्भव उत्पत्तिर्भवेत् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—अब युक्त और अयुक्त प्राणायामोंके फल कहते हैं । आहार आदि और जालंधर आदि बंध इनकी युक्तियोंसहित जो प्राणायाम उसे युक्त कहते हैं । उस युक्त प्राणायामके करनेसे संपूर्ण रोगोंका क्षय होजाता है और अयुक्त प्राणायामके अभ्याससे अर्थात् पूर्वोक्त युक्तिरहित प्राणायामके करनेसे संपूर्ण रोगोंकी उत्पत्ति होती है ॥ १६ ॥

हिकका श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ॥

भवंति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ॥ १७ ॥

अयुक्तेन प्राणायामेन के रोगा भवन्तीत्यपेक्षायामाह—हिकेति ॥ हिककाश्वासकासा रोगविशेषाः शिरश्च कर्णौ चाक्षिणी च शिरःकर्णाक्षिशिरःकर्णाक्षिणि वेदनाः शिरःकर्णाक्षिवेदनाः विविधा नानाविधा रोगा ज्वरादयः पवनस्य वायोः प्रकोपतो भवंति ॥ १७ ॥

भाषार्थ—अब अयुक्त प्राणायाम करनेसे जो रोग होते हैं उनका वर्णन करते हैं कि हिकका ( डुचकी ) श्वास कास और शिर नेत्र कर्ण इनकी पीडा और ज्वर आदि नानाप्रकारके रोग प्राण वायुके कोपसे होते हैं ॥ १७ ॥

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ॥

युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥

यतः एवमस्य प्रकोपतो विविधा रोगा भवन्त्यतः, किं कर्तव्यमत आह-युक्तं युक्तं मिति ॥ वायुं युक्तं त्यजेत् । रेचकाले शनैः शनैरेव रेचनयेन्न वेगत इत्यर्थः । युक्तं युक्तं न चाल्पं नाधिकं च पूरयेत् । युक्तं युक्तं च जालंधरबंधादियुक्तं बध्ना-यात्कुंभयेत् । एवमभ्यसेच्चैत्सिद्धिहठसिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥

भाषार्थ-जिससे वायुके कोपसे अनेक रोग होते हैं इससे जो योगीको कर्तव्य है उसका वर्णन करते हैं कि युक्तयुक्त प्राणवायुको त्यागै अर्थात् रेचनके समयमें शनैः २ ही प्राणका रेचन करै शीघ्र न करै और युक्त २ ही वायुको पूर्ण करै अर्थात् न अल्प न अधिक और जालंधर बंध आदि युक्त वायुको युक्त २ ही बांधे अर्थात् कुंभक करै इस प्रकार योगी अभ्यास करै तो हठ-योगकी सिद्धिको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

**यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ॥**

**कायस्य कृशता कांतिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥ १९ ॥**

युक्तं प्राणायाममभ्यसतो जायमानाया नाडीशुद्धेर्लक्षणमाह द्वाभ्याम्-यदा त्विति ॥ यदा तु यास्मिन्काले तु नाडीनां शुद्धिमलराहित्यं स्यात्तदा बाह्यतो बाह्यानि । सार्वविभक्तिकस्तसिः । चिह्नानि लक्षणानि तथाशब्देनांतराण्यापि चिह्नानि भवन्तीत्यर्थः । तान्येवाह-कायस्योति ॥ कायस्य देहस्य कृशता काश्यं कांतिः सुरुचिर्निश्चितं जायेत ॥ १९ ॥

भाषार्थ-युक्त प्राणायामके अभ्यासीको जो सिद्धि होती है उसके लक्षण दो श्लोकोंसे कहते हैं कि जिस कालमें नाडियोंकी शुद्धि होती है उस समय बाह्य और भीतरके ये चिह्न होते हैं कि कायाकी कृशता और कांति ( तेज ) उस समय निश्चयसे होते हैं ॥ १९ ॥

**यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ॥**

**नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥ २० ॥**

यथेष्टमिति ॥ वायोः प्राणस्य यथेष्टं बहुवारं धारणं कुंभकेषु । अनलस्य जठराग्नेः प्रदीपनं प्रकृष्टा दीप्तिर्नादस्य ध्वनेराभिव्यक्तिः प्राकट्यमारोग्यमरोगता नाडिशोधनान्नाडीनां शोधनान्मलराहित्याज्जायते ॥ २० ॥

भाषार्थ-यथेष्ट ( अनेकवार ) वायुका जो धारण है वह जठराग्निको भली प्रकार दीपन है अर्थात् जठराग्निके दीपनसे यथेष्ट वायुके धारणके अनुमान करना और नादकी जो अभिव्यक्ति अर्थात् अन्तर्धानिकी प्रतीति और रोगोंका अभाव यह नाडियोंके शोधनसे अर्थात् मलराहित करनेसे होता है ॥ २० ॥

**मेदःश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ॥**

**अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥ २१ ॥**

मेदश्चाद्याधिक्ये उपायांतरमाह-मेदःश्लेष्माधिक इति ॥ मेदश्च श्लेष्मा च मेदः श्लेष्माणौ तावधिकौ यस्य स तादृशः पुरुषः । पूर्वं प्राणायामाभ्यासात्प्राद्वन्तु प्राणा-

यामाभ्यासकाले । षट् कर्माणि वक्ष्यमाणानि समाचरेत्सम्यगाचरेत् । अन्यस्तु मेदः  
श्लेष्माधिक्यरहितस्तु तानि षट् कर्माणि नाचरेत् तत्र हेतुमाह—दोषाणां वातपित्तक-  
फानां समस्य भावः समभावः समत्वं तस्माद्दोषाणां समत्वादित्यर्थः ॥ २१ ॥

भाषार्थ—मेदा आदि जिस पुरुषके अधिक हों उसके लिये अन्य उपायका वर्णन करते हैं  
कि, जिस पुरुषके मेदा और श्लेष्मा अधिक हों वह पुरुष प्राणायामके अभ्याससे पहिले छः  
कर्मोंको करे । और मेदा और श्लेष्माकी अधिकतासे जो रहितहो वह उन छः ६ कर्मोंको  
दोषोंकी समानता होनेसे न करे ॥ २१ ॥

**धौतिर्वास्तिस्तथा नेतिघ्राटकं नौलिकं तथा ॥**

**कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥ २२ ॥**

षट् कर्माण्युपदिशति—धौतिरिति ॥ स्पष्टम् ॥ २२ ॥

भाषार्थ—छः कर्मोंको वर्णन करतेहैं कि, धौती १ वस्ति २ नेति ३ घ्राटक ४ नौलिक  
५ और कपालभाति ६ बुद्धिमानोंने ये छः कर्म योगमार्गमें कहे हैं ॥ २२ ॥

**कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम् ॥**

**विचित्रगुणसंधायि पूज्यते योगिपुंगवैः ॥ २३ ॥**

इदं रहस्यमित्याह—कर्मषट्कमिति ॥ घटस्य शरीरस्य शोधनं मलापनयनं करो-  
तीति घटशोधनकारकमिदमुद्दिष्टं कर्मणां षट्कं धौत्यादिकं गोप्यं गोपनीयम् । यतः ॥  
विचित्रगुणसंधायीति ॥ विचित्रं विलक्षणं गुणं षट्कर्मरूपं संधातुं कर्तुं शीलमस्येति  
विचित्रगुणसंधायि योगिपुंगवैर्योगिश्रेष्ठैः पूज्यते सत्क्रियते । गोपनाभावे तु षट्कर्मक-  
मन्यैरपि विदितं स्यादिति योगिनः पूज्यत्वाभावः प्रसज्येतेति भावः ॥ एतेनेदमेव कर्म-  
षट्कस्य मुख्यं फलमिति सूचितम् । मेदःश्लेष्मादिनाशस्य प्राणायामैरपि संभवात् ।  
तदुक्तम् । 'षट्कर्मयोगमाप्नोति पवनाभ्यासतत्परः ।' इति पूर्वोत्तरग्रंथस्याप्येवमेव  
स्वारस्याच्च ॥ २३ ॥

भाषार्थ—ये छः कर्म गुप्त करने योग्य हैं और देहको शुद्ध करते हैं और विचित्रगुणके संधा-  
नको करतेहैं इससे योगियोंमें श्रेष्ठ इनकी प्रशंसा करते हैं यदि ये गुप्त न रक्खे जाँय तो अन्यभी  
इनको करसकेंगे तो योगियोंकी पूज्यता न रहेगी—इससे योगियोंको सर्वोत्तम बनानाही षट्-  
कर्मका फल है—क्योंकि मेदा श्लेष्माका नाश तो प्राणायामोंसेभी होसकता है सोई इस वचनमें  
लिखा है कि प्राणायामके अभ्यासमें तत्पर मनुष्य षट्कर्मके योगको प्राप्त होताहै । पूर्व और  
उत्तर ग्रंथकीभी इसी प्रकार संगति होसकती है ॥ २३ ॥

तत्र धौतिः ।

**चतुरंगुलविस्तारं हस्तपंचदशायतम् ॥**

**गुरूपदिष्टमार्गेण सितं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥**

**पुनः प्रत्याहरञ्चेत्तदुदितं धौति कर्म तत् ॥ २४ ॥**

धौतिकर्माह-चतुरंगुलामेति ॥ चतुर्णामंगुलानां समाहारश्चतुरंगुलं चतुरंगुलं विस्तारो यस्य तादृशं हस्तानां पंचदशैरायतं दीर्घं सित्तं जलाद्र्द्रं किंचिदुष्णं वस्त्रं पटं तच्च सूक्ष्मं नूतनोष्णीषादेः खंडं ग्राह्यम् । गुरुणोपदिष्टो यो मार्गो वस्त्रप्रसनप्रकारस्तेन शनैर्मंदं किंचित्किंचिद्गतेत् । द्वितीये दिने हस्तद्वयं तृतीये दिने हस्तत्रयम् । एवं दिनवृद्ध्या हस्तमात्रमधिकं ग्रसेत् । पुनरिति ॥ तस्य प्रांतं राजदंतमध्ये हठे संलग्नं कृत्वा नौलीकर्मणोदरस्थवस्त्रं सम्यक् चालयित्वा । पुनः शनैः प्रत्याहरेच्च तद्वस्त्रमुद्दिरेन्निष्कासयेच्च । तद्धौतिकर्मोदितं कथितं सिद्धैः ॥ २४ ॥

भाषार्थ-अब छःमें धौति कर्मको कहते हैं कि चार अंगुल-जिसका विस्तार हो और १५ पंद्रह हाथ जो आयत ( दीर्घ ) हो-अर्थात् चार अंगुल चौड़ा और पंद्रह हाथ लंबा जो वस्त्र उसको उष्ण जेलसे सींचकर-गुरुके उपदेश किये मार्गसे शनैः २ ग्रसै अर्थात् प्रथम दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन हाथ, इस प्रकार एक २ हाथकी वृद्धिसे उसके ग्रसनेका अभ्यास करै और वह वस्त्र भी सूक्ष्म लेना उचित है उस वस्त्रके प्रान्त ( छोर ) को अपनी डाढ़ोंमें भलीप्रकार दावकर नौली कर्मसे उदरमें टिकै उस वस्त्रको भलीप्रकार चलाकर उस वस्त्रका शनैः २ प्रत्याहरण करै अर्थात् निकाले । यह सिद्धोंने धौतिकर्म कहा है ॥ २४ ॥

**कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः ॥**

**धौतिकर्मप्रभावेन प्रयात्येव न संशयः ॥ २५ ॥**

**नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ॥**

**आधाराकुञ्चनं कुर्यात्क्षालनं वस्तिकर्म तत् ॥ २६ ॥**

धौतिकर्मणः फलमाह-कासश्वासेति ॥ कासश्च श्वासश्च प्लीहश्च कुष्ठं च । समाहारद्वन्द्वः । कासादयो रोगविशेषाः विंशतिसंख्याकाः कफरोगाश्च । धौतीति । धौतिकर्मणः प्रभावेन गच्छत्येव न संशयः । निश्चितमेतदित्यर्थः । अथ वस्तिकर्ममाह । नाभिदघ्नेति ॥ नाभिपरिमाणं नाभिदघ्नम् । परिमाणे दघ्नच् प्रत्ययः । तस्मिन्नाभिदघ्ने नाभिपरिमाणे जले नद्यादितोये पायुर्गुदं तस्मिन्न्यस्तो नालो वंशनालो येन कनिष्ठिकाप्रवेशयोग्यरंघ्रयुक्तं षडंगुलदीर्घं वंशनालं गृहीत्वा चतुरंगुलं पायौ प्रवेशयेत् अंगुलिद्वयमितं बहिः स्थापयेत् । उत्कटमासनं यस्य स उत्कटासनः । पार्ष्णिद्वये स्फिचौ विन्यस्य पादांगुलिभिः स्थितिरुत्कटासनम् । आधारस्याकुञ्चनं यथा जलमंतः प्रविशेत्तथा संकोचनं कुर्यात् । अन्तः प्रविष्टं जलं नौलिकर्मणा चालयित्वा त्यजेत् । क्षालनं वस्तिकर्मोच्यते । धौतिवस्तिकर्मद्वयं भोजनात्प्रागेव कर्तव्यम् । तदनंतरं भोजने विलंबोऽपि न कार्यः । केचित्तु । पूर्वं मूलाधारेण वायोराकर्षणमभ्यस्य जले स्थित्वा पायौ नालप्रवेशनमंतरेणैव वस्तिकर्मोभ्यसंति तथा करणे सर्वं जलं बहिर्नायाति । अतो नाना रोगधातुक्षयादिसंभवाच्च तथा वस्तिकर्मनैव विधेयम् । किमन्यथा स्वात्मारामः पायौ न्यस्तनाल इति ब्रूयात् ॥ २५ ॥ २६ ॥

भाषार्थ—अब धौतीकर्मके फलको कहते हैं—कास-धास प्लीहा-कुष्ठ-और बीस प्रकारके कफरोग धौतीकर्मके प्रभावसे नष्ट होते हैं इसमें संशय नहीं । अर्थात् यह निश्चित है । अब वस्तीकर्मको कहते हैं कि, नाभिप्रमाणका जो नदी आदिका जल उसमें स्थित गुदाके मध्यमें ऐसे बाँसके नालको रखें जिसका छिद्र कनिष्ठिका अंगुलिके प्रवेश योग्य हो और छः अंगुल उस बाँसके नालको लेकर चार अंगुल उसको गुदामें प्रवेश करै और दो अंगुल बाहिर रखे और उत्कट आसन रखे अर्थात् दो पार्श्वोंसे ऊपर अपने स्निग्ध ( चूतड ) पादोंकी अङ्गुलियोंसे बैठनेको उत्कृष्ट आसन कहते हैं । उक्त आसनमें वैठाहुआ मनुष्य आधाराकुंचन करै अर्थात् जैसे वंशनालके द्वारा वंशनालमें जल प्रविष्ट हो तैसे आकुंचन करै । भीतर प्रविष्ट हुए जलको नौली कर्मसे चलाकर त्याग दे-इस उदरके क्षालन ( घोना ) को वस्तिकर्म कहते हैं ये धौति वस्ति दोनों कर्म भोजनसे पूर्वही करने और इनके करनेके अनन्तर भोजनमें विलंबभी न करना । कोई तो पहिले मूलाधारसे प्राणवायुके आकर्षण ( खींचना ) का अभ्यास करके और जलमें स्थित होकर गुदामें नाल प्रवेशके विनाही वस्तिकर्मका अभ्यास करते हैं—उस प्रकार वस्तिकर्म करनेसे उदरमें प्रविष्टहुआ संपूर्ण जल बाहर नहीं आसक्ता और उसके न आनेसे घातुक्षय आदि नानारोग होते हैं—इससे उस प्रकार वस्तिकर्म न करना क्योंकि अपनी गुदामें रक्खा है नाल जिसने ऐसे स्वात्माराम अन्यथा क्यों कहते ? ॥ २५ ॥ २६ ॥

**गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ॥**

**वस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः ॥ २७ ॥**

वस्तिकर्मगुणानाह द्वाभ्याम्—गुल्मप्लीहोदरमिति ॥ गुल्मश्च प्लीहश्च रोगविशेषावुदरजलोदरं च तेषां समाहारद्वन्द्वः । वातश्च पित्तं च कफश्च तेभ्यो उद्भवा एकैकस्माद्द्वाभ्यां सर्वेभ्यो वा जाताः सकलाः सर्व आमया रोगा वस्तिकर्मणः प्रभावः सामर्थ्यं तेन क्षीयन्ते नश्यन्ति ॥ २७ ॥

भाषार्थ—अब वस्तिकर्मके गुणोंको दो श्लोकोंसे वर्णन करते हैं—कि वस्तिकर्मके प्रभावसे गुल्म ( गुम ) प्लीहा-उदर- ( जलोदर ) और वात-पित्त-कफ इनके द्वन्द्व वा एकसे उत्पन्न हुए संपूर्ण रोग नष्ट होते हैं ॥ २७ ॥

**धातिवद्वियांतःकरणप्रसादं दद्याच्च कांतिं दहनप्रदीप्तिम् ॥**

**अशेषदोषोपचयं निहन्त्यादभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म ॥ २८ ॥**

धातिविति ॥ अभ्यस्यमानमनुष्ठीयमानं जले वस्तिकर्म जलवस्तिकर्म ॥ कर्तुं । दद्यादनुष्ठानुरिति शेषः । धातवो ' रतासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः ' इत्युक्ताः इंद्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पंच कर्मेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि पंच ज्ञानेन्द्रियाणि च अंतःकरणानि मनोबुद्धिचित्ताहंकाररूपाणि तेषां परितापविक्षेपशोकमोहगौरवावरणदैर्घ्यादिराजसतामसधर्मविनिवर्तनेन सुखप्रकाशलाघवादिसात्त्विकधर्माविर्भावः प्रसादस्तं कांतिं द्युतिं दहनस्य जठराग्नेः प्रदीप्तिं प्रकृष्टां दीप्तिं च तथा ।

अशेषाः समस्ता ये दोषा वातपित्तकफास्तेषामुपचयम् । एतदपचयस्याप्युपलक्षणम् । उपचयापचयौ निहन्यान्नितरां हन्यात् । दोषसाम्यरूपमारोग्यं कुर्यादित्यर्थः ॥ २८ ॥

भाषार्थ—अभ्यास किया हुआ यह वस्तिकर्म करनेवाले पुरुषके धातु अर्थात् रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, शुक्र और वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, ये पांच कर्मेन्द्रिय, श्रोत्र, त्वक्, जिह्वा-घ्राण-चक्षु ये पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन बुद्धि चित्त अहंकार रूप अंतःकरण इनकी प्रसन्नताको करताहै अर्थात् इनके परिताप विक्षेप शोक मोह गौरव आवरण दैन्य आदि रजोगुण. तमोगुण धर्मोंको दूर करके सुखका प्रकाश लाघव आदि सात्विक-धर्मोंको प्रकट करताहै और देहकी कांति और जठराग्निकी दीप्तिको देताहै और संपूर्ण जो वात पित्त कफ आदि दोष हैं उनकी वृद्धिको नष्ट करताहै और इन दोषोंके अपचय (न्यूनता) को भी नष्ट करताहै अर्थात् दोषोंकी साम्य-रूप आरोग्यताको करताहै ॥ २८ ॥

अथ नेतिः ।

**सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ॥**

**मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥ २९ ॥**

अथ नेतिकर्माह—सूत्रमिति ॥ वितस्ति वितस्तिमितं वितस्तिरित्युपलक्षणमधिक-स्यापि । यावता सूत्रेण सम्यक् नेतिकर्म भवेत्तावद्ब्राह्मम् । सुस्निग्धं सुष्ठु स्निग्धं ग्रंथ्यादिरीहितं सूत्रं तच्च नवधा दशधा पंचदशधा वा गुणितं सुदृढं ब्राह्मम् । नासा नासिका सैव नालः सच्छिद्रश्चात्तस्मिन्प्रवेशयेत् । मुखान्निर्गमयेन्निष्कासयेत् । तत्प्रकार-स्त्वेवम् । सूत्रप्रांतं नासानाले प्रवेश्येतरनासापुटमंगुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात् । पुनश्च मुखेन रेचयेत् । पुनःपुनरेवं कुर्वतो मुखे सूत्रप्रांतमायाति । तत्सूत्रप्रांतं नासावहिः स्थसूत्रप्रांतं च गृहीत्वा शनैश्चालयेदिति । चंकारादेकस्मिन्नासानाले प्रवेश्येतरस्मिन्निर्गमयेदित्युक्तं तत्प्रकारत्स्वेकस्मिन्नासामाले सूत्रप्रांतं प्रवेश्येतरनासापुटमंगुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात्पश्चादितरनासानालेन रेचयेत् । पुनःपुनरेवं कुर्वत इतरनासानाले सूत्रप्रांत-मायाति तस्य पूर्ववाच्चालनं कुर्यादिति अयं प्रकारस्तु बहुवारं कुर्वतः कदाचिद्भवाति । एषोक्ता सिद्धैराणिमादिगुणसंपन्नैः तदुक्तम्—‘अवासाष्टगुणैश्वर्याः सिद्धाः सिद्धिर्निरूपिताः’ इति । नेतिर्निगद्यते नेतिरिति कथ्यते ॥ २९ ॥

भाषार्थ—अव नेतिकर्मका वर्णन करते हैं कि वितस्ति ( विलायद् ) परिमित-भली-प्रकार स्निग्ध ( चिकने ) सूत्रको नासिकाके नालमें प्रविष्ट करके मुखमेंको निकाल दे यह सिद्धाने नेति कही है । यहां जितने सूत्रसे नेतिकर्म होसके उतना सूत्र लेना कुछ वितस्तिका नियम नहीं । और वह सूत्र नव दश वा पंद्रह तारकां लेना-उस नेति करनेका प्रकार तो इस प्रकार है कि, सूत्रके प्रान्तभागको नासाके नालमें प्रविष्ट करके और दूसरी नासाके पुटको अंगुलिसे रोककर पूरकप्राणायाम करे फिर मुखसे वायुका रेचन करे वारंवार इस प्रकार करते हुए मनुष्यके मुखमें सूत्रका प्रान्त आजाता है मुखमें आये, सूत्रके प्रान्त ( छोर ) को और नासिकाके

बाहर टिके सूत्रप्रान्तको शनैः २ चलवे इसको नेति कर्म कहते हैं और चकारके पढनेसे एक नासिकाके नालमें प्रवेश करके दूसरी नासिकाके नालमें प्रवेश करके यह समझना उसका प्रकार यह है कि, एक नासिकाके नालमें सूत्रके तांतको प्रवेश करके इतर नासिकाके पुटको अंगुलिसे दाबकर पूरक प्राणायाम करै फिर इतर नासिकाके नालसे प्राणका रेचन करे । बारंबार इसप्रकार करते हुए मनुष्यकी दूसरी नासिकाके नालमें सूत्रका प्रांत आजाता है उसका पूर्वके समानही चालन करै परन्तु यह प्रकार बहुतबार करनेवाले पुरुषको कदाचित्ही होता है । अणिमा आदि गुणोंसे युक्त सिद्धोंने यह नेति कही है सोई इस वचनसे कहा है कि, जिनको अणिमा आदि आठ प्रकारका ऐश्वर्य होवे वे सज्जनोंने सिद्ध कहे हैं ॥ २९ ॥

**कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ॥**

**जन्तूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु लिहन्ति च ॥ ३० ॥**

नेतिगुणानाह—कपालशोधिनीति॥ कपालं शोधयति शुद्धं मलराहितं करोतीति कपालशोधिनी । चकारान्नासानालादीनामपि । एवशब्दोऽवधारणे । दिव्यां सूक्ष्मपदार्थग्राहिणीं दृष्टिं प्रकर्षेण ददातीति दिव्यदृष्टिप्रदायिनी नेतिक्रियां जन्तुणो स्कंधसंघ्योरुर्ध्वमुपरिभागे जातो जन्तूर्ध्वजातः स चासौ रोगाणामोघश्च तमाशु शदिति निहन्ति । चकारः पादपूरणे । ‘स्कंधो भुजाशिरोऽसोऽस्त्री संधी तस्यैव जन्तुणि ।’ इत्यमरः ॥ ३० ॥

भाषार्थ—अब नेतिके गुणोंको कहते हैं कि, यह नेतिक्रिया कपालको शुद्ध करती है और चकारसे नासिका आदिके मलको दूर करती है और दिव्य दृष्टिको देती है और जन्तुके अर्थात् स्कंधकी संधिके उपरले भागके रोगोंका जो समूह उसको शीघ्र नष्ट करती है, क्योंकि इस अमरकोशमें स्कंध भुजा शिर इनकी संधिको जन्तु कहा है ॥ ३० ॥

अथ त्राटकम् ।

**निरीक्षेत्रिश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ॥**

**अश्रुसंपातपर्यंतमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥ ३१ ॥**

त्राटकमाह—निरीक्षेदिति ॥ समाहितः एकाग्रचित्तः निश्चला चासौ दृक् च दृष्टिस्तथा सूक्ष्मं च तल्लक्ष्यं च सूक्ष्मलक्ष्यमश्रूणां सम्यक् पातः । पतनं तत्पर्यंतम् । अनेन निरीक्षणस्यावधिरुक्तः । निरीक्षेत्पश्येत् । आचार्यैर्मत्स्येन्द्रादिभिरेवं त्राटकं त्राटककर्म स्मृतं कथितम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—अब त्राटकका वर्णन करते हैं कि, समाहित अर्थात् एकाग्रचित्त हुआ मनुष्य निश्चल दृष्टिसे सूक्ष्म लक्ष्यको अर्थात् लघुपदार्थको तबतक देखे जबतक अश्रुपात न होवे यह मत्स्येन्द्र आदि आचार्योंने त्राटक कर्म कहा है ॥ ३१ ॥

**मोचने नेत्ररोगाणां तंद्रादीनां कपाटकम् ॥**

**यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥ ३२ ॥**

त्राटकगुणानाह-मोचनामिति ॥ नेत्रस्य रोगा नेत्ररोगास्तेषां मोचनं नाशकं तंद्रा, आदिर्येषामालस्यादीनां तेषां कपाटकं कपाटवदंतर्धायकमभिभावकमित्यर्थः । तंद्रा तामसश्चित्तवृत्तिविशेषः । त्राटकं त्राटकार्ख्यं कर्म यत्नतः प्रयत्नाद्रोप्यं गोपनीयम् । गोपने दृष्टान्तमाह-यथेति ॥ त्राटकस्य सुवर्णस्य पेटकं पेटो इति लोके प्रसिद्धं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ-अब त्राटकके गुण कहते हैं कि, यह त्राटक कर्म नेत्रके रोगोंका नाशक है और तंद्रा आलस्य आदिका कपाट है अर्थात् कपाटके समान तंद्रा आदिका अन्तर्धान ( तिरस्कार ) करता है तमोगुणी जो चित्तकी वृत्ति उसे तंद्रा कहते हैं । यह त्राटककर्म इस प्रकार यत्नसे गुप्त करने योग्य है जैसे सुवर्णकी पेटि जगत्में गुप्त करने योग्य होती है ॥ ३२ ॥

अथ नौलिः ।

अमंदावर्तवेगेन तुंदं सव्यापसव्यतः ।

नतांसो भ्रामयेद्वा नौलिः सिद्धैः प्रचक्षते ॥ ३३ ॥

अथ नौलिकर्माह-अमंदेति ॥ नतौ नग्रीभूतावंसौ स्कंधौ यस्य स नतांसः पुमानमंदोऽतिशयितो य आवर्तस्तस्येव जलभ्रमस्येव वेगो ज्वस्तेन तुंदमुदरम् । 'पिचंडकुक्षी जठरोदरं तुंदं स्तनौ कुक्षौ' । इत्यमरः । सव्यं चापसव्यं च सव्यापसव्ये दक्षिणवामभागौ तयोः सव्यापसव्यतः । सम्यर्थे तसिः । भ्रामयेद् भ्रमतं प्रेरयेत् । सिद्धैरेषा नौलिः प्रचक्षते कथ्यते ॥ ३३ ॥

भाषार्थ-अब नौलिका वर्णन करते हैं कि, नवाये हैं कांधे जिसने ऐसा मनुष्य अत्यन्त है वेग जिसका ऐसे आवर्त ( जलभ्रम ) के समान वेगसे अपने तुंद ( उदर ) को सव्य और अपसव्य ( अर्थात् ) दक्षिणवामभागोंसे भ्रमावै सिद्धोंने यह नौलिकर्म कहा है ॥ ३३ ॥

मंदाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानंदकरी सदैव ॥

अशेषदोषामय शोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ॥ ३४ ॥

नौलिगुणानाह-मंदाग्नीति ॥ मंदाग्नावाग्निर्जठराग्निस्तस्य दीपनं सम्यग्दीपनं च पाचनं च भुक्तान्नपरिपाकश्च मंदाग्निसंदीपनपाचने ते आदिनी यस्य तन्मंदाग्निसंदीपनपाचनादि तस्य संधापिका विधात्री । आदिशब्देन मलशुद्ध्यादि । सदैव सर्वदेवानंदकरी सुखकरी अशेषाः समस्ताश्च ते दोषाश्च वातादय आमयाश्च रोगास्तेषां शोषणी शोषणकर्त्री । हठस्य क्रियाणां धौत्यादीनां मौलिमौलिरिवोत्तमा धौतिवस्त्यो-नौलिसापेक्षत्वात् । इयमुक्ता नौलिः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ-अब नौलिके गुणोंको कहते हैं कि, मंदाग्निका भली प्रकार दीपन और अन्न आदिका पाचन और सर्वदा आनंद इनको यह नौलि करती है और अशेष ( समस्त ) जो वात

( ५४ )

हठयोगप्रदीपिका ।

[ उपदेशः ]

आदि दोष और रोग इनका शोषण ( नाश ) करती है और यह नौलि घौति आदि जो हठयोगकी क्रिया है उन सबकी नौलि ( उत्तम ) रूप है ॥ ३४ ॥

**भस्त्रावलोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ॥**

**कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥ ३५ ॥**

अथ कपालभातिं तद्गुणं चाह—भस्त्रावदिति ॥ लोहकारस्य भस्त्राग्नेर्धमनसाधनी-  
मूतं चर्म तद्वत्संभ्रमेण सह वर्तमानौ ससंभ्रमावमंदौ यै रेचपूरौ रेचकपूरकौ कपाल-  
भातिरिति विख्याता । कीदृशी कफदोषविशोषणी कफस्य दोषा विंशतिमेदमिच्छाः ।  
तदुक्तं निदाने—‘ कफरोगाश्च विंशतिः ’ इति । तेषां विशोषणी विनाशिनी ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—अब कपालभाति और उसके गुणोंको कहते हैं कि, लोहकारकी भस्त्राके समान  
संभ्रमसे अर्थात् एकबार अत्यन्त शीघ्रतासे रेचक पूरक प्राणायामको करना वह योगशास्त्रमें  
कफदोषका नाशक कपालभाति विख्यात है ॥ ३५ ॥

**षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ॥**

**प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥ ३६ ॥**

षट्कर्मणां प्राणायामत्वोपकारकत्वमाह—षट्कर्मेति ॥ षट्कर्मभिर्धौतिप्रभृतिभि-  
र्निर्गताः । स्थौल्यं स्थूलस्य भावः स्थूलत्वम् । कफदोषा विंशतिसंख्याका मलादयश्च  
यस्य स तथा ‘ शेषाद्विभाषा ’ इति कप्रत्ययः । आदिशब्देन पित्तादयः । प्राणायामं  
कुर्यात् । ततस्तस्मात्षट्कर्मपूर्वकात्प्राणायामादनायासेनाश्रमेण सिद्ध्यति । योग इति  
शेषः । षट्कर्माकरणे तु प्राणायामे श्रमाधिक्यं स्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—अब इन छः पूर्वोक्त कर्मोंको प्राणायामकी उपकारकताका वर्णन करते हैं कि,  
घौति आदि छः कर्मोंसे दूर भये हैं स्थूलता बीस प्रकारके कफदोष और मल पित्त आदि  
जिसके ऐसा पुरुष षट्कर्म करनेके अनंतर प्राणायाम करे तो अनायासेसे ( विनापरिश्रम )  
प्राणायाम सिद्ध होता है । यदि षट्कर्मोंको न करके प्राणायामको करे तो आधिक परिश्रम  
होताहै इससे षट्कर्मके अनंतरही प्राणायाम करना उचित है ॥ ३६ ॥

**प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति ॥**

**आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम् ॥ ३७ ॥**

मतमेदेन षट्कर्मणामनुपयोगमाह—प्राणायामैरिति ॥ प्राणायामैरेव । एवशब्दः  
षट्कर्मव्यवच्छेदार्थः । सर्वे मलाः प्रशुष्यन्ति । मला इत्युपलक्षणं स्थौल्यकफपित्ता-  
दीनाम् इति हेतोः केषांचिदाचार्याणां याज्ञवल्क्यादीनामन्यत्कर्म षट्कर्म न संमतं  
नाभिमतम् । आचार्यलक्षणमुक्तं बायुपुराणे । ‘ आचिनोति च शास्त्रार्थमाचरेत्स्थापये-  
त्क्षपि । स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते ॥ ’ इति ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—अब मतभेदसे छः कर्मके अनुपयोगको कहते हैं कि, प्राणायामके करनेसेही संपूर्ण मल शुष्क होते हैं और स्थूल्य कफ आदिकी निवृत्तिभी प्राणायामोंसेही होसकती है इससे किन्ही किन्ही आचार्योंको प्राणायामोंसे अन्य जो धौति आदि कर्म हैं वे सम्मत नहीं हैं । वायुपुराणमें आचार्यका लक्षण यह कहाहै कि, जो शास्त्रके अर्थका संग्रह करै और शास्त्रोक्तको स्वयं करै और अन्योंसे करावै वह आचार्य कहाता है ॥ ३७ ॥

**उदरगतपदार्थमुद्धमंति पवनमपानमुदीर्य कंठनाले ॥**

**क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः ३८ ॥**

गजकरणीमाह—उदरगतमिति ॥ अपानं पवनमपानवायुं कंठनाले कंठो नाल इव कंठनालस्तस्मिन्नुदीर्योत्क्षिप्योदरे गतः प्राप्तः स चासौ पदार्थश्च भुक्तपीतान्नजलादिस्तं परयोद्धमंत्युद्धिरंति यथा योगिन इत्यध्याहारः । क्रमेण यः परिचयोऽभ्यासस्तेनावश्यं स्वाधीनं नाडीनां चक्रं यस्यां सा तथा । सा क्रिया हठज्ञैर्हठयोगाद्यभिज्ञैर्गजकरणीति निगद्यते कथ्यते । क्रमपरिचयवश्यनाडिमार्ग इति क्वचित्पाठस्तस्यायमर्थः क्रमपरिचयेन वश्यो नाड्यः शंखिन्याः मार्गः कंठपर्यंतो यस्यां सा तथा ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—अब गजकरणीका वर्णन करते हैं कि, अपान वायुको ऊपरको उठाकर अर्थात् कंठके नालमें पहुँचाकर उदरमें प्राप्त हुये अन्न जल आदि पदार्थको जिससे योगीजन उद्धमन करते हैं इसका क्रमसे जो अभ्यास तिससे वशीभूत ( स्वाधीन ) है नाडियोंका समूह जिसके ऐसी उस क्रियाका नाम हठयोगके ज्ञाता आचार्योंने गजकरणी कहा है और कहीं, क्रमपरिचय वश्य नाडिमार्ग यहभी पाठ है । उसका यह अर्थ है कि, क्रमसे किये अभ्याससे वशीभूत है शंखिनी नाडीका कंठपर्यंत मार्ग जिसमें ऐसी गजकरणी कहाती है ॥ ३८ ॥

**ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ॥**

**अभूवन्नंतकभयात्तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥**

प्राणायामोऽवश्यमभ्यसनीयः सर्वोत्तमैरभ्यस्तत्त्वान्महाफलत्वाच्चेति सूचयन्नाह चतुर्भिः—ब्रह्मादय इति ॥ ब्रह्मा आदिर्येषां ते ब्रह्मादयस्तेऽपि । किमुतान्य इत्यर्थः । त्रिदशाः देवाः अंतयतीत्यंतकः कालस्तस्माद्भयमंतकभयं तस्मात्पवनस्य प्राणवायो-रभ्यासो रेचकपूरककुम्भकभेदभिन्नप्राणायामानुष्ठानरूपस्तस्मिंस्तत्परा अवहिता अभूवन्नासच् । तस्मात्पवनमभ्यसेत्प्राणमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—अब प्राणायामके अवश्य अभ्यास और सर्वोत्तमोंके कर्तव्य और फलका वर्णन करते हैं कि, ब्रह्मा आदि देवताभी अन्तकके भयसे अर्थात् काल जीतनेके लिये प्राणवायुके अभ्यासमें तत्पर हुए अर्थात् रेचक कुम्भक पूरक भेदोंसे भिन्न २ जो प्राणायाम उनके करनेमें सावधान रहे तिससे प्राणायामके अभ्यासको अवश्य करै ॥ ३९ ॥

**यावद्ब्रह्म मरुद्देहं यावच्चित्तं निराकुलम् ॥**

**यावद्दृष्टिर्भुवोर्मध्ये तावत्कालमयं कुतः ॥ ४० ॥**

यावदिति ॥ यावद्यावत्कालपर्यंतं मरुत्प्राणानिलो देहे शरीरे बद्धः श्वासोच्छ्वास-  
क्रियाशून्यः । यावाच्चतमंतःकरणं निराकुलमविक्षिप्तं समाहितम् । यावद्भ्रुवोर्मध्ये  
दृष्टिरंतःकरणवृत्तिः । दृष्टिरत्र ज्ञानसामान्यार्थः । तावत्तावत्कालपर्यंतं कलयतीति  
कालोऽतस्तस्माद्भयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ तथा च वक्ष्यति—‘स्वाधत्ते न च  
कालेन बाध्यते न च कर्मणा । साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥’  
इति । स्वाधीनो भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

भाषार्थ—यावत्कालपर्यंतं प्राणवायु शरीरमें बद्ध है अर्थात् श्वास और उच्छ्वास क्रियासे  
शून्य है और इतने अन्तःकरण निराकुल अर्थात् विक्षेपराहित वा सावधान है और इतने भ्रुवु-  
टियोंके मध्यमें अन्तःकरणकी वृत्ति है तावत्कालपर्यंत कालसे भय किसी प्रकार नहीं होसकता  
है अर्थात् योगी स्वाधीन होजाता है सोई आगे कहेंगे कि, उस योगीको कोई खा नहीं  
सकता न कोई कर्म बांध सकता न कोई उसे साधसकता जो योगी समाधिसे युक्त है ॥ ४० ॥

**विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ॥**

**सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखादिशति मारुतः ॥ ४१ ॥**

विधिबदिति ॥ विधिवत्प्राणसंयामैरासनजालंधरबंधादिविधियुक्तप्राणायामैर्नाडीचक्रं  
नाडीनां चक्रं समूहस्तस्मिन्विशोधिते निर्मले सति मारुतो वायुः सुषुम्ना इडापिंगल-  
योर्मध्यस्था नाडी तस्या वदनं मुखं भित्त्वा सुखादनायासादिशति । सुषुम्नांतरिति  
शेषः ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—विधिपूर्वक अर्थात् आसन जालंधरबन्ध आदि पूर्वक किये हुए प्राणायामोंसे नाडी-  
योंके समूहके भलीप्रकार शोधन हुयेपर प्राणवायु इडा और पिंगलके मध्यमें वर्तमानः सुषुम्ना-  
नाडीके मुखको भली प्रकार भेदन करके सुषुम्नाके मुखमें मुखसे प्रविष्ट होजाता है ॥ ४१ ॥

**मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ॥**

**यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥ ४२ ॥**

मारुत इति ॥ मारुते प्राणवायौ मध्ये सुषुम्नामध्ये संचारः सम्यक्चरणं गमनं  
मूर्धपर्यंतं यस्य स मध्यसंचारस्तस्मिन् सति मनसः स्थैर्यं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो जायते  
प्रादुर्भवति । यो मनसः सुस्थिरीभावः सुष्ठु स्थिरीभवनं सैव मनोन्मन्यवस्था । मनो-  
न्मनीशब्द उन्मनीपर्यायः तथात्रे वक्ष्यति—‘राजयोगः समाधिश्च’ इत्यादिना ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—जब प्राणवायुका सुषुम्नाके मध्यमें संचार होनेपर मनकी स्थिरता होजाती है अर्थात्  
त ध्यान करने योग्य वस्तुके आकारकी वृत्तियोंका प्रवाह होजाता है वह जो मनका भली-  
प्रकार स्थिर होजाना है उसकोही मनोन्मनी अवस्था कहते हैं यहां मनोन्मनी शब्द उन्म-  
नीका पर्याय है यही बात राजयोग और समाधियोगसे आगे कहेंगे ॥ ४२ ॥

तत्सिद्धये विधानज्ञाश्चित्रान्कुर्वीति कुम्भकान् ॥

विचित्रकुम्भकाभ्यासाद्विचित्रां सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ४३ ॥

विचित्रेषु कुम्भकेषु प्रवृत्तिं जनयितुं तेषां मुख्यफलमवांतरफलं चाह—तत्सिद्धये इति ॥ विधानं कुम्भकानुष्ठानप्रकारस्तज्जानंतीति विधानज्ञास्तत्सिद्धये उन्मन्यवस्थासिद्धये चित्रान्सूर्यभेदनादिभेदेन नानाविधानकुम्भकान्कुर्वीति । विचित्राश्च ते कुम्भकाश्च विचित्रकुम्भकास्तेषामभ्यासादनुष्ठानाद्विचित्रामणिमादिभेदेन नानाविधां विलक्षणां वा जन्मौषधिमंत्रतपोजाताम् । तदुक्तं भागवते—‘जन्मौषधितपोमंत्रैर्यावतीरिह सिद्धयः । योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत् ॥’ इति । आप्नुयात्प्रत्याहारदिपरंपरयेति भावः ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—विचित्र कुम्भकप्राणायामोंमें प्रवृत्ति होनेके लिये उनके मुख्य फल और अवान्तरफलको कहते हैं कुम्भक प्राणायामकी विधिके ज्ञाता योगीजन उन्मनी अवस्थाकी सिद्धिके लिये अनेक प्रकारके अर्थात् सूर्यभेदन आदिसे भिन्न २ प्राणायामोंको करते हैं, क्योंकि विचित्र कुम्भकप्राणायामोंके अभ्याससे विचित्रही सिद्धिको प्राप्त होजाता है अर्थात् जन्म, औषधी, मंत्र, तप इनसे उत्पन्न हुई विलक्षण सिद्धि कुम्भक प्राणायामोंसे होती है । सोई भागवतमें कहा है कि, उत्तम जन्म औषधि तप और मंत्र इनसे जितनी सिद्धि होती है उन सबको योगी योगसे प्राप्त होता है और अन्य कर्मोंसे योगकी गति प्राप्त नहीं होती और उस गतिकी प्राप्ति प्रत्याहार आदिकी परम्परासे समझनी ॥ ४३ ॥

अथ कुम्भकभेदाः ।

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा ।

भस्त्रिका भ्रामरी मूच्छा प्लाविनीत्यष्टकुम्भकाः ॥ ४४ ॥

अथाष्टकुम्भकानामभिर्निर्दिशति—सूर्यभेदनमिति ॥ स्तष्ट्व ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—अब आठ कुम्भक प्राणायामोंको नाम लेलेकर दिखाते हैं कि, सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूच्छा, प्लाविनी ये आठ प्रकारके कुम्भकप्राणायाम जानने ॥ ४४ ॥

पूरकांते तु कर्तव्यो बंधो जालंधराभिधः ॥

कुम्भकांते रेचकादौ कर्तव्यस्तूडियानकः ॥ ४५ ॥

अथ हठासिद्धावनन्यासिद्धां पारमहंसीं सर्वकुम्भकसाधारणयुक्तिमाह 'त्रिमिः—पूरकांते इति ॥ जालंधर इत्यभिधा नाम यस्य स जालंधराभिधो बंधो बध्नाति प्राणवायुमिति बंधः कंठाकुंचनपूर्वकं चिबुकस्य हृदिस्थापनं जालंधरबंधः पूरकांते पूरकास्यांते पूरकानंतरं शटिति कर्तव्यः । तुशब्दात्कुम्भकादाबुडियानकस्तु कुम्भकांते कुम्भकस्यांते किंचित्कुम्भकशेषे रेचकस्यादौ रेचकादौ रेचकात्पूर्वं कर्तव्यः । प्रयत्नविशेषेण नाभिप्रदेशस्य पृष्ठत आकर्षणमुडियानबंधः ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—अब हठसिद्धिके विषे परमहंसोंकी उस सर्वकुंभक साधारण युक्तिको तीन श्लोकोंसे कहते हैं जो अन्यसे सिद्ध न होसकें कि, पूरकप्राणायामके अंतमें जालंधर है, नाम जिसका वह बंध करना अर्थात् कंठके आकुंचनको करके चिबुकको हृदयमें स्थापनरूप जालंधरबंधसे प्राणवायुका बंधन करै और तुशब्दसे कुंभककी आदिमें भी जालंधर बंध करै और कुंभकके अंतमें अर्थात् कुंभकके किंचित् शेष रहनेपर और रेचकप्राणायामकी आदिमें उड्डियान बंधको करै प्रयत्न विशेषसे नाभिप्रदेशका पीठसे जो आकर्षण उसे उड्डियानबंध कहते हैं ॥ ४५ ॥

**अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते ॥**

**मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ ४६ ॥**

अधस्तादिति ॥ कंठस्य संकोचनं कंठसंकोचनं तस्मिन्कृते सति जालंधरबंधे कृते सतीत्यर्थः । आश्वव्यवहितोत्तरमेवाधस्तादधःप्रदेशादाकुंचनेनाधाराकुंचनेन मूलबंधेनेत्यर्थः । मध्ये नाभिप्रदेशे पश्चमतः पृष्ठतस्तानं ताननमाकर्षणं तेनोड्डियानबंधेनेत्यर्थः । उक्तीत्या कृतेन बंधत्रयेण प्राणो वायुर्ब्रह्मनाडीं सुषुम्नां गच्छतीति ब्रह्मनाडिगः सुषुम्नानाडिगामी स्यादित्यर्थः । अत्रेदं रहस्यम् । यदि श्रीगुरुमुखाजिह्वाबंधः सम्यक् परिज्ञातस्तर्हि जिह्वाबंधपूर्वकेन जालंधरबंधेनैव प्राणायामः सिध्यति । शायुप्रकोपेनैवमधातुवपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नतेत्यादीनि सर्वाणि लक्षणानि जायंत इति मूलबंधोड्डियानबंधौ नोपयुक्तौ । तयोर्जिह्वाबंधपूर्वकेण जालंधरबंधेनान्यथा सिद्धत्वात् । जिह्वाबंधो न विदितश्चेदधस्तात्कुंचनेनेति श्लोकोक्तीत्या प्राणायामाः कर्तव्याः । त्रयोऽपि बंधा गुरुमुखाज्ज्ञातव्याः । मूलबंधस्तु सम्यग्ज्ञातो नानारोगोत्पादकः । तथा हि । यदि मूलबंधे कृते धातुक्षयो विष्टंभोऽग्निमांशं नादमांशं गुटिकासमूहाकारमजस्येव पुरीषं स्यात्तदा मूलबंधः सम्यक् न जात इति बोध्यम् । यदि तु धातुपुष्टिः सम्यक् मलशुद्धिरग्निदीप्तिः सम्यक् नादाभिव्यक्तिश्च स्यात्तदा ज्ञेयं मूलबंधः सम्यक् जातः इति ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—कंठका संकोचन करनेपर अर्थात् जालंधर बंध किये पीछे शीघ्रही नीचेके प्रदेशसे आकुंचन होनेसे अर्थात् आकुंचनसे मूलबंध होनेसे हुआ जो मध्यमें पश्चिमतान अर्थात् पृष्ठसे नाभिप्रदेशमें प्राणका आकर्षण रूप उड्डियान बंधसे प्राण ब्रह्मनाडीगत होजाता है । सुषुम्ना नाडीमें पहुँच जाता है, यहां यह रहस्य अर्थात् गोप्य वस्तु है कि, यदि गुरुमुखसे, जिह्वाबंध भली प्रकार जानलिया होय तो जिह्वाबंधके करनेके अनंतरही जालंधर बंधसे प्राणायाम सिद्ध होताहै अर्थात् वायुके प्रकोपनसेही धातुओंकी प्रसन्नता देहमें कृशता और मुखकी प्रसन्नता आदि संपूर्ण लक्षण होजाते हैं इससे मूलबंध उड्डियान बंध करनेका कुछ उपयोग नहीं और जिह्वाबंध न जाना होय तो इस श्लोकमें उक्त रीतिसे प्राणायाम करने और ये तीनों बंध गुरुमुखसे जानने योग्य हैं, क्योंकि भली प्रकार न जाना हुआ मूलबंध नानारोगोंको पैदा करता है सोई दिखाते हैं कि, यदि मूलबंध कियेपर धातुका क्षय विष्टंभ मंदाग्नि नादकी मंदता और गुटिकाके समूहकेसा है आकार जिसका ऐसा बकरीके समान पुरीष ( मल ) होय तो

यह जानना कि, मूलबंध भली प्रकार नहीं हुआ और यदि धातुओंकी पुष्टि भली प्रकार मल-  
शुद्धि और अग्निका दीपन और भली प्रकार नादकी प्रकटता होय तो यह जानना कि, मूलबंध  
भलीप्रकार हुआ है. भावार्थ यह है कण्ठके संकोच कियेपर नीचेके प्रदेशसे प्राणके आकुं-  
चनसे पश्चिमतान करनेपर नाभिप्रदेशमें पृष्ठसे प्राणके आकर्षणसे प्राण सुषुम्नामें पहुँच  
जाता है ॥ ४६ ॥

**अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कंठादधो नयेत् ॥**

**योगी जराविमुक्तः स षोडशाब्दवयो भवेत् ॥ ४७ ॥**

अपानमिति ॥ अपानमपानवायुमूर्ध्वमुत्थाप्याधाराकुंचनेन प्राणं प्राणवायुं कंठा-  
दधः अधोभागे नयेत्प्रापयेद्यः स योगी योगोऽस्यास्ति अभ्यस्यत्वेनेति योगी योगा-  
भ्यासी। जराया वार्धक्येन विमुक्तो विशेषेण मुक्तः सन् । षोडशानामब्दानां समाहारः  
षोडशाब्दं षोडशाब्दं वयो यस्य स तादृशो भवेत् । यद्यपि 'पूरकांते तु कर्तव्यः'  
इत्यादिना त्रयाणां श्लोकानामेक एवार्थः पर्यवस्यति तथापि 'पूरकांते तु कर्तव्यः'  
इत्यनेन बंधानां काल उक्तः । 'अधस्तात्कुंचनेन' इत्यनेन बंधानां स्वरूपमुक्तम् ।  
'अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य' इत्यनेन बंधानां फलमुक्तमिति विशेषः । जालंधरबंधे मूलबंधे च  
कृते नाभेरधोभाग आकर्षणाख्यो बंध उड्डियानबंधो भवत्येवेत्यास्मिञ्श्लोके नोक्तः ।  
तथाचोक्तं ज्ञानेश्वरेण गीताषष्ठाध्यायव्याख्यायाम् 'मूलबंधे जालंधरबंधे च कृते  
नाभेरधोभाग आकर्षणाख्यो बंधः स्वयमेव भवति' इति ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—अपानवायुको ऊर्ध्व ( ऊपर ) को उठाकर आधाराकुंचनसे प्राणवायुको जो कंठके  
अधोभागमें स्थापन करै वह योगी जरासे विमुक्त होता है और षोडश वर्षका है देह जिसका  
ऐसा होता है. यद्यपि पूर्वोक्त तीनों श्लोकोंका अंतमें एकही अर्थ होता है तथापि ( पूरकान्ते )  
इस प्रथम श्लोकसे वन्धोंका समय कहाहै और ( अधस्तात्कुंचनेन ) इस दूसरे श्लोकसे वन्धों-  
का स्वरूप कहा ( अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य ) इस तीसरे श्लोकसे वन्धोंका फल कहाहै यह विशेष  
जानना और जालंधरबंध मूलबंध करनेपर नाभिके भागमें आकर्षण नामका बंध जो उड्डियान  
बंध है वह स्वयंही होजाता है इससे इस श्लोकमें नहीं कहा, सोई ज्ञानेश्वरने गीतामें छठे  
अध्यायकी व्याख्यामें कहाहै मूलबंध जालंधर किये पीछे आकर्षण नामका बंध स्वयंही  
होजाता है ॥ ४७ ॥

**अथ सूर्यभेदनम् ।**

**आसने सुखदे योगी बद्धा चैवासनं ततः ॥**

**दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः ॥ ४८ ॥**

“योगाभ्यासक्रमं वक्ष्ये योगिनां योगसिद्धये । उषःकाले समुत्थाय प्रातःकालेऽ-  
थवा बुधः ॥ १ ॥ गुरुं संस्मृत्य शिरसि हृदये स्वेष्टदेवताम् । शौचं कृत्वा दंतशुद्धिं  
विदध्याद्भस्मधारणम् ॥ २ ॥ शुचौ देशे मठे रम्ये प्रतिष्ठाप्यासनं मृदु । तत्रोप-

विश्य संस्मृत्य मनसा गुरुमीश्वरम् ॥ ३ ॥ देशकालौ च संकीर्त्य संकल्प्य विधि-  
पूर्वकम् । अद्येत्यादि श्रीपरमेश्वरप्रसादपूर्वकं समाधितत्फलसिद्धयर्थमासनपूर्वकान् प्राणा-  
यामादीन् करिष्ये । अनन्तं प्रणमेद्देवं नागेशं पीठसिद्धये ॥ ४ ॥ मणिभ्राजत्फणास-  
हस्रविधृतविश्वंभरामंडलायानंताय नागराजाय नमः । ततोऽभ्यसेदासनानि श्रमे जाते  
शवासनम् । अन्ते समभ्यसेत्तत्तु श्रमाभावे तु नाभ्यसेत् ॥ ५ ॥ करणीं विपरीताख्यां  
कुंभकात्पूर्वमभ्यसेत् । जालंधरप्रसादार्थं कुंभकात्पूर्वयोगतः ॥ ६ ॥ विधायाचमनं  
कृत्वा कर्माणि प्राणसंयमम् । योगीन्द्रादीन्मस्कृत्य कौर्माच्च शिववाक्यतः ॥ ७ ॥  
कुर्मपुराणे शिववाक्यम्—“नमस्कृत्याथ योगीन्द्रान्सशिष्यांश्च विनम्यकम् । गुरुं चैवाथ  
मां योगी युंजीत सुसमाहितः ॥ ८ ॥” बद्ध्वाभ्यासे सिद्धपीठं कुंभका बंधपूर्वकम् ।  
प्रथमे दश कर्तव्याः पंचवृद्ध्या दिनेदिने ॥ ९ ॥ कार्या अशीतिपर्यंतं कुंभकाः सुस-  
माहितैः । योगीन्द्रः प्रथमं कुर्यादभ्यासं चंद्रसूर्ययोः ॥ १० ॥ अनुलोमविलोमाख्य-  
मेतं प्राहुर्मनीषिणः । सूर्यभेदनमभ्यस्य बंधपूर्वकमेकधीः ॥ ११ ॥ उज्जायिनं ततः  
कुर्यात्सीतकारिं शीतलीं ततः । भस्त्रिकां च समभ्यस्य कुर्यादन्यान्नवापरान् ॥ १२ ॥  
मुद्राः समभ्यसेद्बद्ध्वा गुरुवक्त्राद्यथाक्रमम् ॥ ततः पद्मासनं बद्ध्वा कुर्यान्नादानुचित-  
नम् ॥ १३ ॥ अभ्यासं सकलं कुर्यादीश्वरार्पणमादृतः । अभ्यासादुत्थितः स्नानं  
कुर्यादुष्णेन वारिणा ॥ १४ ॥ स्नात्वा समापयेन्नित्यं कर्म संक्षेपतः सुध्धिः । मध्याह्ने  
ऽपि तथाभ्यस्य किंचिद्विश्रम्य भोजनम् ॥ १५ ॥ कुर्वीत योगिनां पथःपमपथ्यं न  
कदाचन । पलां वापि लवंगं वा भोजनांते च भक्षयेत् ॥ १६ ॥ केचित्कर्पूरमिच्छन्ति  
तांबूलं शोभनं तथा । चूर्णेन गृहितं शस्तं पवनाभ्यासयोगिनाम् ॥ १७ ॥ इति चिंता-  
मणेर्वीक्यं स्वारस्यं भजते नहि । केचित्पदेन यस्मात्तु तयोः शीतोष्णहेतुना ॥ १८ ॥  
भोजनानंतरं कुर्यान्मोक्षशास्त्रावलोकनम् । पुराणश्रवणं वापि नामसंकीर्तनं विभोः ॥ १९ ॥  
सायंसंध्याविधिं कृत्वा योगं पूर्ववदभ्यसेत् ॥ यदा त्रिघटिकांशेषो दिवसोऽभ्यासमा-  
चरेत् ॥ २० ॥ अभ्यासानंतरं कार्या सायंसंध्या सदा बुधैः । अर्धरात्रे हठाभ्यासं  
विदध्यात्पूर्ववद्यमी ॥ २१ ॥ विपरीतां तु करणीं सायंकालार्धरात्रयोः । नाभ्यसेद्भोज-  
नादूर्ध्वं यतः सा न प्रशस्यते ॥ २२ ॥ ” अथोद्देशानुक्रमणं कुंभकान्विवक्षुस्तत्र प्रथ-  
मोदितं सूर्यभेदनं तदगुणांश्चाह त्रिभिः—आसन इति ॥ सुखं ददातीति सुखदं तस्मिन्सु-  
खदे । ‘ शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः । नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिन-  
कुशोत्तरम् ॥ ’ इत्युक्तलक्षणे विविक्तदेशे सुखासनस्थः शुचिः ‘ समग्रीवशिरःशरीरम् ’  
इति श्रुतेश्च चैलाजिनकुशोत्तर आसने । आस्तेऽस्मिन्नित्यासनम् । आस्यतेऽनेनेति वा  
तस्मिन् योगी योगाभ्यासी । आसनं स्वस्तिकवीरसिद्धपद्माद्यन्यतमं मुख्यत्वात्सिद्धा-  
सनमेव वा बद्ध्वा बंधनेन संपादैव कृत्वैवेत्यर्थः । तत आसनबंधानंतरं दक्षा दक्षिण-

मागस्था या नाडी पिंगला तथा बहिःस्थं देहाद्बहिर्वर्तमानं पवनं वायुं शनैर्मंदमंदमा-  
कृष्य पिंगलया मन्दमन्दं पूरकं कृत्वेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

भाषार्थ--अब सूर्यभेदन आदि आठ कुम्भकोंके वर्णन करनेके अभिलाषी आचार्य सबसे प्रथम जो सूर्यभेदन उसका वर्णन करते हैं और हम कुछ योगाभ्यासका क्रम यहांपर लिखते हैं कि, योगियोंकी योगसिद्धिके लिये योगाभ्यासको कहते हैं उससे अर्थात् प्रातःकालमें उठकर और शिरपर अपने गुरुका और हृदयमें अपने इष्टदेवका वर्णन करके दंतधावन और भस्मधारण करै शुद्धदेश और रमणीय मठमें कोमल आसन बिछाकर उसपर बैठकर और ईश्वर और गुरुका मनसे स्मरण करके देश और कालका कथन करके अर्थात् विधिपूर्वक संकल्प करके कि, अद्येत्यादि श्रीपरमेश्वरकी प्रसन्नतापूर्वक समाधि और उसके फलकी सिद्धिके लिये आसनपूर्वक प्राणायामोंको करताहूँ और आसनकी सिद्धिके लिये अनंत जो नागेश देव हैं उनको प्रणाम करै कि, मणियोंसे शोभायमान सहस्रों फणोंपर धारण किया है विश्वमंडल जिसने ऐसे अनंत नागराजको नमस्कार है । फिर आसनोंका अभ्यास करै और परिश्रम होय तो श्वासन करै और उसका अन्तमें अभ्यास करै श्रम न होय तो श्वासनका अभ्यास न करै और विपरीत है नाम जिसका ऐसी करणीका कुम्भकसे पूर्व अभ्यास करै जालंधरकी प्रसन्नता ( सिद्धि ) के लिये कुम्भकसे पूर्व आचमन करके कर्मका अंग जो प्राणसंयम उसको करै । कूर्मपुराणमें शिवके वचनानुसार योगीन्द्रोंको नमस्कार करके, कूर्मपुराणमें शिवका वाक्य यह है कि, शिष्योंसहित और गणेश गुरु और मुझ शिवजीको नमस्कार करके भली प्रकार सावधान हुआ योगी योगाभ्यास करै और अभ्यासके समय कुम्भकसे बंधपूर्वक सिद्ध पीठ ( आसन ) बांधकर पहिलेदिन दश प्राणायाम करै । फिर दिन दिनमें ( प्रतिदिन ) पांच २ की बुद्धिसे प्राणायाम करै इस प्रकार अस्सी प्राणायामोंको भली प्रकार सावधान मनुष्य करै । प्रथम योगीन्द्र चंद्र और सूर्यका अभ्यास करै और बुद्धिमान् मनुष्योंने यह अनुलोम विलोम रूपसे दो प्रकारका कहाहै और एकाग्रबुद्धि होकर बंधपूर्वक सूर्यभेदनका अभ्यास करके फिर उज्जायीको करै फिर सीत्कारी और शीतलीको करै फिर भस्त्रिकाका अभ्यास करके अन्य प्राणायामको करै वा न करै और प्राणोंको बांधकर गुरुमुखसे कहे क्रमके अनुसार मुद्राओंका भली प्रकार अभ्यास करै फिर पद्मासनको बांधकर नादकी अनुचितन ( स्मरण ) करै और आदरपूर्वक ईश्वरार्पणबुद्धिसे संपूर्ण अभ्यासको करे और अभ्याससे उठकर उष्ण जलसे स्नान करै और संक्षेपसे किये नित्यके कर्मको स्नान करके बुद्धिमान् मनुष्य समाप्त करै और मध्याह्नमें भी तिसी प्रकार अभ्यास करनेके अनंतर कुछ विश्राम करके भोजन करै । योगियोंको पथ्य भोजन करावे अपथ्य कदापि न करावे । इलायची वा लौंग भोजनके अंतमें भक्षण करै और कोई आचार्य कपूर और सुंदर तांबूलके भोजनको कहते हैं और प्राणायामके अभ्यासी योगियोंको चूनेसे रहित तांबूल श्रेष्ठ होता है केचित्पदके पढनेसे यह चिंतामणिका वचन उत्तम नहीं है क्योंकि चंद्र और सूर्य शीत उष्णके हेतु हैं भोजनके अनंतर मोक्षशास्त्रको देखै ( विचारै ) और जब तीन घटी दिन शेष रहै तब फिर अभ्यास करै और अभ्यासके अनंतर बुद्धिमान् मनुष्य सायंसन्ध्याको करै फिर योगी अर्द्धरात्रके समय पूर्वके समान हठयोगका अभ्यास करै और सायंकाल और अर्द्धरात्रके समयमें विपरीत करणीका अभ्यास न करै, क्योंकि भोजनके

अनन्तर विपरीतकरणी श्रेष्ठ नहीं कही है । अब प्रासंगिकको समाप्त करके श्लोकार्थको कहते हैं कि, सुखदायी आसनपर योगी पूर्वोक्त अर्थात् शुद्ध देशमें न अत्यंत ऊंचा और न अत्यंत नीचा और, जिसपर क्रमसे वस्त्र मृगचर्म बिछेहों ऐसे आसनको बांधकर जिसमें “ ग्रीवा शरीर शिर ये समान रहें ” इस श्रुतिके अनुसार ऐसे आसनको बांधकर अर्थात् स्वास्तिक वीर सिद्ध पद्म कोईसे आसनसे बैठकर फिर दक्षिण नाडी ( पिंगला ) से देहसे बाहर वर्तमान जो पवन उसको शनैः २ खींचकर अर्थात् पिंगला नाडीसे पूरकप्राणायामको करके ॥ ४८ ॥

**आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत् ॥**

**ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः ॥ ४९ ॥**

आकेशादिति ॥ केशानामर्यादीकृत्याकेशं तस्मान्नखाग्रानामर्यादीकृत्येत्यानखाग्रं तस्माच्च विरोधस्य वायोरवरोधस्यावधिर्मर्यादा यस्मिन्कर्मणि तत्तथा कुंभयेत् । केशपर्यंतं नखाग्रपर्यंतं च वायोनिरोधो यथा भवेत्तथातिप्रयत्नेन कुंभकं कुर्यादित्यर्थः । ननु ‘हठान्निरुद्धः प्राणोऽयं रोमकूपेषु निःसरेत् । देहं विदारयत्येष कुष्ठादि जनयत्यपि ॥ ततः प्रत्यापितव्योऽसौ क्रमेणारण्यहस्तिवत् । वन्यो गजो गजारिर्वा क्रमेण मृदुतामियात् । करोति शास्त्रनिर्देशाच्च तं परिलंघयेत् । तथा प्राणो हृदिस्थोऽयं योगिनां क्रमयोगतः ॥ गृहीतः सेव्यमानस्तु विश्रममुपगच्छति ’ इति वाक्यविरुद्धमिति प्रयत्नेन कुंभकं कुर्यादिति कथमुक्तमिति चेन्न । ‘हठान्निरुद्धः प्राणोऽयम् ’ इति वाक्यस्य बलादचिरेण प्राणजयं कारिष्यामीति बुद्धचारंभः ॥ एवं च बद्धभ्यासासत्तपरत्वात्क्रमेणारण्यहस्तिवदिति दृष्टान्तस्वारस्याच्च । अत एव सूर्याचंद्रमसोरभ्यासे धारयित्वा यथाशक्ति निधारयेदिति निरोधत इति चोक्तं संगच्छते । तस्मात्कुंभकस्त्वतिप्रयत्नपूर्वकं कर्तव्यः । यथायथातिप्रयत्नेन कुंभकः क्रियते तथातथा तस्मिन्गुणाधिक्यं भवेत् । यथायथा च शिथिलः कुंभकः स्यात्तथातथा गुणाल्पत्वं स्यात् । अत्र योगिनामनुभवोऽपि मानम् । पूरकस्तु शनैः शनैः कार्यः वेगाद्वा कर्तव्यः । वेगादपि कृते पूरके दोषाभावात् । रेचकस्तु शनैः शनैरेव कर्तव्यः । वेगात्कृते रेचके बलहानिप्रसंगात् । ‘ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्न तु वेगतः ।’ इत्याद्यनेकधा ग्रंथकारोक्तेश्च । ततो निरोधावधि कुंभकानन्तरं शनैःशनैर्मंदमंदं सव्ये वामभागे स्थिता नाडी सव्यनाडी तथा सव्यनाड्या इड्या पवनं वायुं रेचयेद्बहिर्निःसारयेत् । पुनः शनैरित्युक्तिस्तु शनैरेव रेचयेदित्यवधारणार्था । तदुक्तं—‘विस्मये च विषादे च दैन्ये चैवावधारणे । तथा प्रसादने हर्षे वाक्यमेकं द्रिरुच्यते ॥’ इति ॥ ४९ ॥

साधार्थ—और नखाग्रसे लेकर केशोंपर्यंत जबतक निरोध होय अर्थात् संपूर्ण शरीरमें पवन रुकजाय तावत्पर्यंत कुंभकप्राणायाम करै कदाचित् कोई शंका करै कि, हठसे रोका यह प्राण रोमकूपोंके द्वारों निकसजायगा देह कटजायगा वा कुष्ठ आदि रोग होजायेंगे तिससे इसको यत्नसे प्रतीतिके द्वारा इस प्रकार रखना चाहिये जैसे वनके हस्तीको वशमें रखते हैं कि, वनका

हाथी वा सिंह क्रमसे मृदु होजाताहै और स्वाभीकी आज्ञाका उल्लंघन नहीं करता और शास्त्रोक्त अपने स्वाभीकी आज्ञाको करता है तिसी प्रकार हृदयमें स्थित यह प्राण भी क्रमसेही योगियोंको ग्रहण करना चाहिये क्योंकि सेवा करनेसे प्राण विश्वासको प्राप्त होजाता है । इस वाक्यके विरुद्ध आपका कथन है इससे कैसे कहतेहो कि, यत्नसे कुंभकको करै यह किसीकी शंका ठीक नहीं क्योंकि 'हठसे रोकाहुआ प्राण' इस वाक्यका इस बुद्धिसे आरंभ है कि, बलसे शिघ्रिही मैं प्राणका जय करूंगा इससे उसके लियेही यह वचन है कि, जो बहुत अभ्यास करनेमें असमर्थ है इसीसे क्रमसे वनके हस्तीके समान यह दृष्टान्त भी ठीक लगसक्ता है इसीसे सूर्य और चंद्रमा नाडीके अभ्याससे धारण करके ( रोककर ) यथाशक्ति धारण करै यह भी पूर्वोक्त संगत होता है तिससे अत्यंत प्रयत्नसे कुंभकप्राणायाम करना क्योंकि जैसे २. प्रयत्नसे कुंभक किया जाता है तैसा २ ही उसमें अधिक गुण होता है और जैसा २ शिथिल होता है तैसा तैसा ही अल्पगुण होता है और इसमें योगियोंका अनुभव भी प्रमाण है पूरकप्राणायाम तो शनैः वा वेगसे करना क्योंकि वेगसे किये भी पूरकमें दोष नहीं-और रेचक तो शनैः करना क्योंकि वेगसे रेचक करनेमें वलकी हानि होती है तिससे शनैः २ ही रेचक करै वेगसे न करै-इत्यादि अनेक ग्रंथकारोंकी युक्तिसे पूर्वोक्त शंका ठीक नहीं है-फिर प्राणके निरोध पर्यंत कुंभकके अनंतर सव्य नाडीसे अर्थात् वामभागमें स्थित-इडानाडीके द्वारा प्राणवायुका शनैः २ रेचन करै इस श्लोकमें पुनः जो शनैः पद पडा है वह अवधारणके लिये है सोई इस वचनमें कहा है कि, विस्मय विषाद दीनता और अवधारण ( निश्चय ) इनमें एक शब्दका दोवार निश्चय किया जाता है । भावार्थ यह है कि नखके अग्रभागसे लेकर केशोंपर्यंतकी पवनको रोककर कुंभक करै फिर वामभागमें स्थित इडा नाडीसे शनैः २ पवनका रेचन करै ॥ ४९ ॥

**कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत् ॥**

**पुनःपुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥ ५० ॥**

कपालशोधनमिति ॥ कपालस्य मस्तकस्य शोधनं शुद्धिकरं वातजा दोषा वातदोषा ब्रूयतिप्रकारास्तान् हंतीति वातदोषघ्नं कृमीणामुदरे जातानां दोषो विकारस्तं हरतीति कृमिदोषहृत् । पुनःपुनर्भूयोभूयः कार्यम् । सूर्येणापूर्य कुंभयित्वा चन्द्रेण रेचनमिति रीत्येदमुत्तममुत्कृष्टं सूर्यभेदनं सूर्यभेदनारत्यमुत्तमम् । योगिमिरिति शेषः ॥ ५० ॥

भाषार्थ-यह सूर्यभेदन नामका कुंभक मस्तकको शुद्ध करता है और अस्ती प्रकारके वात-दोषोंको हरता है और उदरमें पैदाहुआ जो कृमि उनको नष्ट करता है, इससे यह उत्तम सूर्य भेदन वारंवार करना अर्थात् सूर्यनाडीसे पूरक और कुंभक करके चंद्रनाडीसे रेचन करै-इस रीतिसे किया हुआ यह सूर्यभेदन योगीजनोंने उत्तम कहाहै ॥ ५० ॥

अथोज्ञायी ।

**मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ॥**

**यथा लगति कंठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥ ५१ ॥**

उज्जायिनमाह सार्धेन-मुखमिति ॥ मुखमाख्यं संयम्य संयतं कृत्वा मुद्रयित्वे-  
त्यर्थः । कंठात् कंठादारभ्य हृदयावधि हृदयमवधिर्यस्मिन्कर्माणि तत्तथा स्वनेन  
सहितं यथा स्यात्तथा । उभे क्रियाविशेषणे । लगति श्लिष्यते पवन इत्यर्थात् । तथा  
तेन प्रकारेण नाडीभ्यामिडापिगलाभ्यां पवनं वायुं शनैर्मदमाकृष्याकृष्टं कृत्वा पूरयि-  
त्वैत्यर्थः ॥ ५१ ॥

भाषार्थ-अब डेढ़ श्लोकसे उज्जायी नामके कुंभकको कहते हैं मुखका संयमन ( दाबना )  
करके और इडा और पिंगला नाडीसे शनैः शनैः इस प्रकार पवनका आकर्षण करै जिस प्रकार  
वह पवन कण्ठसे हृदय पर्यंत शब्द करती हुई लगे ॥ ५१ ॥

**पूर्ववत्कुंभयेत्प्राणं रेचयेद्विडया ततः ॥**

**श्लेष्मदोषहरं कंठे देहानलविवर्धनम् ॥ ५२ ॥**

पूर्वादिति ॥ प्राणं पूर्ववत्पूर्वेण सूर्यभेदेन तुर्यं पूर्ववत् । 'आकेशादानखाग्राच्च  
निरोधावधि कुंभयेत्' इत्युक्तरीत्या कुंभयेद्रोधयेत् । ततः कुंभकानंतरमिडया वाम-  
नाड्या रेचयेत्यजेत् । उज्जायिगुणानाह सार्धश्लोकेन-श्लेष्मदोषहरमिति । कंठे कंठप्र-  
देशे श्लेष्मणो दोषाः श्लेष्मदोषाः कासादयस्तान् हरतीति श्लेष्मदोषहरस्तं देहानलस्य  
देहमध्यगतानलस्य जाठरस्य विवर्धनं विशेषेण वर्धनं दीपनमित्यर्थः ॥ ५२ ॥

भाषार्थ-फिर सूर्यभेदनके समान प्राणका कुंभक करै फिर कुंभक करनेके अनंतर इडा  
वामनाडीसे प्राणका रेचन करै अर्थात् मुखके द्वारा बाहिर देशमें पवनको निकासे । अब डेढ़  
श्लोकसे उज्जायीके गुणोंको कहते हैं कि कण्ठमें जो श्लेष्म-कफके दोषहैं उनको हरता है  
और जठराग्निको बढ़ाताहै-अर्थात् दीपन करता है ॥ ५२ ॥

**नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् ॥**

**गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुंभकम् ॥ ५३ ॥**

नाडीति ॥ नाडी शिरा जलं पीतमुदकमुदरं तुंदमासमंताद्देहे वर्तमाना धातव  
आधातवः । एषामितरेतरद्वंद्वः । तेषु गतः प्राप्नो यो दोषो विकारस्तं विशेषेण नाश-  
यतीति नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् । गच्छता गमनं कुर्वता तिष्ठता स्थितेन  
वापि पुंसा उज्जाय्याख्यमुज्जायीत्याख्या यस्य तत् । तु इत्यनेन नास्य वैशिष्ट्यं द्योत-  
यति । कार्यं कर्तव्यम् । उज्जापीति क्वचित्पाठः । गच्छता तिष्ठता तु बंधराहितः  
कर्तव्यः । कुंभकशब्दस्त्रिलिङः । पुंलिङ्गपाठे तु विशेषणेष्वपि पुंलिङ्गः पाठः कार्यः ५३

भाषार्थ-नाडी जलोदर और संपूर्ण देहमें वर्तमान जो धातु इनमें जितने दोषहैं उनको नष्ट  
करताहै-और यह उज्जायी नामका कुंभक, गमन करते हुए वा बैठे हुए-मनुष्यको भी करने  
योग्य है अर्थात् इसमें पूर्वोक्त बंधोंकी आवश्यकता नहीं ॥ ५३ ॥

अथ सीत्कारी ।

**सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम् ॥**

**एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ ५४ ॥**

सीत्कारीकुम्भकमाह--सीत्कामिति ॥ वक्त्रे मुखे सीत्कां सीदेव सीत्का सीदिति शब्दः सीत्कारस्तां कुर्यात् । ओष्ठयोरन्तरे संलग्नया जिह्वया सीत्कारपूर्वकं मुखेन पूरकं कुर्यादित्यर्थः । घ्राणेनैव नासिकयैवेत्यनेनोभाभ्यां नासापुटाभ्यां रेचकः कार्य इत्युक्तम् । एवशब्देन वक्त्रस्य व्यवच्छेदः वक्त्रेण वायोर्निःसारणं त्वभ्यासानन्तरमपि न कार्यम् । बलहानिकरत्वात् । विजृम्भिकां रेचकं कुर्यादित्यत्रापि संबध्यते । कुम्भकस्त्वनुक्तोऽपि सीत्कार्याः कुम्भकत्वादेवावगंतव्यः । अथ सीत्कार्याः प्रशंसा । एवमुक्तप्रकारेणाभ्यासः पौनःपुन्येनानुष्ठानं स एव योगः योगसाधनत्वेन द्वितीय एव द्वितीयकः कामदेवः कंदर्पः । रूपलावण्यातिशयेन कामदेवसादृश्यात् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ--अब सीत्कारी कुम्भकका वर्णन करते हैं--तिसी प्रकार सीतका ( सीत्कार ) को करें अर्थात् दोनों ओष्ठोंके मध्यमें लगीहुई-जिह्वासे-सीत्कार करताहुआ मुखसे प्राणायाम करें और घ्राणसेही अर्थात् नासिकाके दोनों पुटोंसे रेचक करें-यहां एव शब्दसे यह सूचन किया है कि, मुखसे रेचन न करें और मुखसे वायुका निकासना तो अभ्यासके अनन्तर भी न करें क्योंकि उससे बलकी हानि होतीहै-यहां विजृम्भिका शब्दसे रेचक प्राणायामका ग्रहण है-अब सीत्कारीकी प्रशंसाको कहते हैं कि, इस पूर्वोक्त प्रकारके अभ्याससे अर्थात् वारम्बार करनेसे रूपयोगसे योगी ऐसा होजाता है मानो दूसरा कामदेव है अर्थात् रूप और शोभामें काम-देवके समान होजाता है ॥ ५४ ॥

**योगिनीचक्रसामान्यसृष्टिसंहारकारकः ॥**

**न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ॥ ५५ ॥**

योगिनीति ॥ योगिनीनां चक्रं योगिनीचक्रं योगिनीसमूहः तस्य सामान्यः संसेव्यः । सृष्टिः प्रपंचोत्पत्तिः संहारस्तल्लयः तयोः कारकः कर्ता । क्षुधा भोजुमिच्छा न । तृषा जलपानेच्छा न । निद्रा सुषुप्तिर्न । आलस्यं कायचित्तगौरवात्प्रवृत्त्यभावः । कायगौरवं कफादिना चित्तगौरवं तमोगुणेन । नैव प्रजायते नैव प्रादुर्भवति । एवमभ्यासयोगेनेति प्रजायत इति च प्रतिवाक्यं संबध्यते ॥ ५५ ॥

भाषार्थ--योगिनीयोंका जो समूह उसके भलीप्रकार सेवने योग्य होता है और सृष्टिकी उत्पत्ति और लय ( संसार ) इनका कर्ता होताहै और सीत्कारी प्राणायामके करनेवालेको क्षुधा तृष्णा और निद्रा आलस्य अर्थात् देह और चित्तके गौरवसे कार्यमें प्रवृत्तिका अभाव उनमें देहका गौरव कफ आदिसे और चित्तका गौरव तमोगुणसे जानना नहीं होते हैं ॥ ५५ ॥

**भवेत्सत्त्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः ॥**

**अनेन विधिना सत्यं योगीन्द्रो भूमिमण्डले ॥ ५६ ॥**

भवेदिति ॥ देहस्य शरीरस्य सत्त्वं बलं च भवेत् । अनेनोक्तेन विधिनाभ्यासाविधिना योगीन्द्रो योगिनामिन्द्र इव योगीन्द्रो भूमिमंडले सर्वैरुपद्रवैर्वर्जितः सर्वोपद्रववर्जितो भवेत्सत्यम् । सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायाद्यदुक्तं फलं तत्सत्यमेवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—और देहका बल बढ़ता है इस पूर्वोक्त विधिके करनेसे योगीजनोंमें इंद्र और भूमिके मंडलमें संपूर्ण उपद्रवोंसे रहित होता है यह सीत्कारी कुंभक प्राणायामका फल सत्य है अर्थात् इसमें संदेह नहीं है ॥ ५६ ॥

अथ शीतली ।

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुंभसाधनम् ॥

शनकैर्ग्राणरंध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः ॥ ५७ ॥

शीतलीकुंभकमाह—जिह्वयेति ॥ चिह्नयोष्ठयोर्वहिर्निर्गतया विहंगमाधरचंचुसदृशया वायुमाकृष्य शनैः पूरकं कृत्वेत्यर्थः । पूर्ववत्सूर्यभेदनवत्कुंभस्य कुंभकस्य साधनं विधानं कृत्वेत्यध्याहारः । सुधीः शोभना धीर्यस्य सः घ्राणस्य रंध्रे ताभ्यां नासापुटाववराभ्यां शनकैः शनैरेव । 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राकटेः' इत्यकच् । पवनं वायुं रेचयेत् ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—अब शीतली कुंभकका वर्णन करते हैं कि, ओष्ठोंसे बाहिर निकली हुई उस जिह्वासे जो पक्षीकी चंचुके समान हो वायुका आकर्षण करके अर्थात् शनैः २ पूरक प्राणायामको करके और फिर सूर्यभेदनके समान कुंभकके साधन विधिको करके शोभन है बुद्धि जिसकी ऐसा योगी नासिकाके छिद्रोंमेंसे शनैः २ पवनका रेचन करे अर्थात् रेचक प्राणायामको करे ॥ ५७ ॥

गुल्मप्लीहादिकात्रोगाञ्ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम् ॥

विषाणि शीतली नाम कुंभिकेयं निहन्ति हि ॥ ५८ ॥

शीतलीगुणानाह—गुल्मेति ॥ गुल्मश्च प्लीहश्च गुल्मप्लीहौ रोगविशेषावादी येषां ते गुल्मप्लीहादिकास्तान् रोगानामयान् ज्वरं ज्वराख्यं रोगं पित्तं पित्तविकारं क्षुधां भोक्तृमिच्छां तृषां जलपानेच्छां विषाणि सर्पादिविषजनितविकारान् । शीतली नामेति प्रसिद्धार्थकमव्ययम् । इयमुक्ता कुंभिका निहन्ति नितरां हन्ति । कुंभशब्दः स्त्रीलिङ्गोऽपि । तथा च श्रीहर्षः—'उदस्य कुंभीरय शतकुंभजा' इति ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—अब शीतलीके गुणोंको कहते हैं कि, शीतली है नाम जिसका ऐसा यह कुंभक प्राणायाम गुल्म प्लीहा आदि रोग ज्वर पित्त क्षुधा तृषा और सर्प आदिका विष इन सबको नष्ट करता है अर्थात् इसके कर्ताका देह स्वाभाविक शीतल रहता है ॥ ५८ ॥

अथ भस्त्रिका ।

ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे ॥

पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५९ ॥

भस्त्राकुम्भकस्य पद्मासनपूर्वकमेवानुष्ठानात्तदादौ पद्मासनमाह-ऊर्वोरिति ॥ उपर्यु-  
त्ताने शुभे शुद्धे उभे द्वे पादयोस्तलेऽधः प्रदेशे ऊर्वोः संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा  
बसेत् । एतत्पद्मासनं भवेत् । कीदृशं सर्वेषां पापानां प्रकर्षण नाशनम् । अत्रोपरीत्य-  
व्ययमुत्तानवाचकम् । तथा च कारकेषु मनोरमायाम्-‘उपर्युपरिबुद्धीनाम्’ इत्यत्रो-  
परिबुद्धीनामित्यस्योत्तानबुद्धीनामिति व्याख्यानं कृतम् ॥ ५९ ॥

भाषार्थ-अब पद्मासन और भस्त्रिका नामसे कुम्भक प्राणायामको कहते हैं कि, जंघाओंके  
ऊपर दोनों पादोंके शुभ ( सीधे ) तलोंको भली प्रकार स्थापन करके जो टिकला वह पद्मासन  
सब पापोंका नाशक होता है यहां उपरि यह अव्यय उत्तानका वाची है इसीसे कारककी  
मनोरमामें कहा है कि, ‘उपर्युपरि बुद्धीनां’ इसके व्याख्यानमें उत्तानबुद्धियोंके ऊपर २ ईश्व-  
रकी बुद्धि चरती है ॥ ५९ ॥

सम्यक्पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरं सुधीः ॥

मुखं संयम्य यत्नेन त्राणं त्राणेन रेचयेत् ॥ ६० ॥

भस्त्रिकाकुम्भकमाह-सम्यगिति ॥ ग्रीवा च उदरं च ग्रीवोदरम् । प्राण्यंगत्वादेक-  
बद्धावः । समं ग्रीवोदरं यस्य स समग्रीवोदरः सुस्थिता धीर्यस्य स सुधीः पद्मासनं  
सम्यक् स्थिरं बद्ध्वा मुखं संयम्य संयतं कृत्वा यत्नेन प्रयत्नेन त्राणेन त्राणस्यै-  
कतरेण रंध्रेण त्राणं शरीरांतःस्थितं वायुं रेचयेत् ॥ ६० ॥

भाषार्थ-भलीप्रकार ऐसे पद्मासनको बांधकर जिसमें ग्रीवा और उदर समान ( बराबर )  
हों बुद्धिमान् मनुष्य मुखका संयम ( वीचन ) करके त्राणके द्वारा अर्थात् नासिकाके एक  
छिद्रमेंसे प्राणवायुका रेचन करे ॥ ६० ॥

यथा लगाति हृत्कंठे कपालावधि सस्वनम् ॥

वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम् ॥ ६१ ॥

रेचकंप्रकारमाह-यथेति ॥ हृत् कंठश्च हृत्कंठं तस्मिन् हृत्कंठे । समाहारद्वंद्वः ।  
कपालावधि कपालपर्यंतं स्वेनेन सहितं सस्वनं यथा स्यात्तथा येन प्रकारेण लगाति ।  
प्राण इति शेषः । तथा रेचयेत् । हृत्पद्ममवधिर्यस्मिन् कर्मणि तत् हृत्पद्मावधि वेगेन  
तरसा मारुतं वायुं पूरयेत् । चापीति पादपूरणार्थम् ॥ ६१ ॥

भाषार्थ-उस प्राणका इस प्रकार रेचन करे जैसे वह प्राण शब्द सहित हृदय और कंठमें  
कपालपर्यंत लगे फिर वेगसे हृदयके कमलपर्यंत वायुको वारंवार पूर्ण करे अर्थात् पूरक प्राण-  
याम करे ॥ ६१ ॥

पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनःपुनः ॥

यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चालयते ॥ ६२ ॥

पुनरिति ॥ तद्वत्पूर्ववत्पुनर्विरेचयेत्पुनःपुनः पूरयेच्चेत्यन्वयः । उक्तेऽर्थे दृष्टान्तमाह—  
यथैवेति ॥ लोहकारेण लोहविकाराणां कर्त्रा भस्त्रामेधमनसाधनीभूतं चर्म यथैव येन  
प्रकारेण वेगेन चालयते ॥ ६२ ॥

भाषार्थ—फिर तिसीप्रकार प्राणवायुका वेगसे रेचन करै और तिसीप्रकार पूर्ण कर अर्थात्  
सूक करै और वेभी बारंवार इस प्रकार वेगसे पूरक रेचक करने जैसे लोहकार भस्त्राको चला-  
ता है ॥ ६२ ॥

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया ॥

यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ॥ ६३ ॥

तथैवेति ॥ तथैव तेनैव प्रकारेण स्वशरीरस्थं स्वशरीरे स्थितं पवनं प्राणं धिया  
बुद्ध्या चालयेत् । रेचकपूरकयोर्निरंतरावर्तनेन चालनस्यावधिमाह—यदा श्रम इति ॥  
यदा यस्मिन् काले देहे शरीरे श्रमो रेचकपूरकयोर्निरंतरावर्तनेनायासो भवेत्तदा तस्मिन्  
काले सूर्येण सूर्यनाड्या पूरयेत् ॥ ६३ ॥

भाषार्थ—तैसेही अपने शरीरमें स्थित पवनको बुद्धिसे चलावै और रेचक और पूरककी  
अवधि यह है कि, जब रेचक पूरकके करनेसे शरीरमें श्रम हो तब सूर्यनाडीसे पूर्ण करै ६३ ॥

यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु ॥

धारयेन्नासिकां मध्यतर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥ ६४ ॥

यथेति ॥ यथा येन प्रकारेण पवनेन वायुना लघु क्षिप्रमेवोदरं पूर्णं भवेत्तथा तेन  
प्रकारेण सूर्यनाड्या पूरयेत् । 'लघुक्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः । पूरकानंतरं यत्कर्तव्यं  
तदाह—धारयेदिति ॥ मध्यतर्जनीभ्यां मध्यमातर्जनीभ्यां विनांगुष्ठानामिकाकानिष्ठिका-  
मिर्नासिकां दृढं धारयेत् । अंगुष्ठेन दक्षिणनासापुटं निरुध्यानामिकाकानिष्ठिकाभ्यां  
वामनासापुटं निरुध्य नासिकां दृढं गृहीयादित्यर्थः ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार पवनसे शीघ्रही उदर पूर्ण हो ( भर ) जाय है तिसीप्रकार सूर्यनाडी-  
से पूर्ण करै । अब पूरकके अनंतर जो कर्तव्य है उसका वर्णन करते हैं कि मध्यमा और  
तर्जनी अंगुलियोंके विना अर्थात् अंगुष्ठ अनामिका कानिष्ठिका इन तीनोंसे वाम नासिकाके  
पुटको दृढतासे रोककर प्राणवायुको ग्रहण करै अर्थात् कुंभक प्राणायामसे धारण करै ॥ ६४ ॥

विधिवत्कुंभकं कृत्वा रेचयोर्दंडयानलम् ॥

वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ ६५ ॥

विधिवदिति ॥ बंधपूर्वकं कुंभकं कृत्वेडया चन्द्रनाड्याऽनिलं वायुं रेचयेत् ।  
 भस्त्राकुंभकस्यैवं परिपाटी । वामनासिकापुटं दक्षिणभुजानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां  
 निरुध्य दक्षिणनासिकापुटेन भस्त्रावद्गेन रेचकपूरकाः कार्याः । श्रमे जाते तेनैव  
 नासापुटेन पूरकं कृत्वागुष्ठेन दक्षिणं नासापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुंभकं  
 धारयेत् । पश्चादिडया रेचयेत् । पुनर्दक्षिणनासापुटमंगुष्ठेन निरुध्य वामनासि-  
 कापुटेन भस्त्रावज्जाटिति रेचकपूरकाः कर्तव्याः । श्रमे जाते तेनैव नासिकापुटेन पूरकं  
 कृत्वानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासिकापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुंभकं कृत्वा पिंग-  
 लया रेचयेदित्येका रीतिः । वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां दक्षिणनासिका-  
 पुटेन पूरकं कृत्वा झटित्यंगुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन रेचयेत् ॥ एवं शतधा कृत्वा  
 श्रमे जाते तेनैव पूरयेत् । बंधपूर्वकं कृत्वेडया रेचयेत् ॥ पुनर्दक्षिणनासापुटमंगुष्ठेन  
 निरुध्य वामनासापुटेन पूरकं कृत्वा झटिति वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां  
 निरुध्य पिंगलया रेचयेद्ब्रह्मवत् । पुनःपुनोर्वं कृत्वा रेचकपूरकावृत्तिश्रमे जाते वामना-  
 सापुटेन पूरकं कृत्वानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां धृत्वा कुंभकं कृत्वा पिंगलया रेचयेदिति  
 द्वितीया रीतिः । भस्त्रिकागुणानाह वातपित्तेति ॥ वातश्च पित्तं च श्लेष्मा च वातपित्त-  
 श्लेष्माणस्तान्हरतीति तादृश शरीरे देहे योऽग्निर्जठरानलस्तस्य विशेषेण वर्धनं  
 दीपनम् ॥ ६९ ॥

भाषार्थ—विधिपूर्वकं कुंभकको करके इडानामकी चन्द्रनाडीसे वायुका रेचन करै इस भस्त्रा-  
 कुंभककी यह परिपाटी ( क्रम ) है. कि वाम नासिकाके पुटको दक्षिणभुजाकी अनामिका  
 कनिष्ठिकाओंसे रोककर दक्षिण नासिकाके पुटसे भस्त्राके समान वेगपूर्वक रेचक पूरक करने  
 फिर श्रम होनेपर उसी नासिकाके पुटसे पूरक करके अँगूठेसे दक्षिण नासिकाके पुटको रोक-  
 कर यथाशक्ति कुंभक प्राणायामसे वायुको धारण करै फिर इडासे रेचन करै फिर दक्षिण  
 नासिकाके पुटको अँगूठेसे रोककर वामनासा पुटसे भस्त्राके समान शीघ्र २ रेचक पूरक कर-  
 नेसे श्रम होनेपर तिसी नासिकाके पुटसे पूरक करके अनामिका कनिष्ठिकासे नासिकाके वाम-  
 पुटको रोककर यथाशक्ति कुंभकको कर पिंगल नाडीसे प्राणका रेचन करै एक तो यह रीति  
 है और नासिकाके वामपुटको अनामिका कनिष्ठिकासे रोककर नासिकाके दक्षिण पुटसे पूरक  
 करके शीघ्र अँगूठेसे रोककर नासिकाके वामपुटसे रेचन करै इस प्रकार शत १०० बार करके  
 श्रम होनेपर उससे ही पूरण करै और बंधपूर्वक करके इडानाडीसे रेचन करै फिर नासिकाके  
 दक्षिण पुटको अँगूठेसे रोककर नासिकाके वामपुटसे पूरक करके शीघ्रही नासिकाके वामपुटको  
 अनामिका कनिष्ठिकासे रोककर पिंगलासे भस्त्राके समान रेचन करै बारंवार इस प्रकार करके  
 रेचक पूरककी आवृत्तिमें जब श्रम होजाय अर्थात् थकावट होजाय तब वामनासिका पुटसे  
 पूरक करके अनामिका और कनिष्ठिकासे धारण करनेके अनंतर कुंभक प्राणायामको करके  
 पिंगलासे रेचन करै यह दूसरी रीति है अब भस्त्रिका कुंभकके गुणोंको कहते हैं कि वात पित्त  
 श्लेष्मा ( कफ ) इनको हरती है और शरीरकी अग्नि ( जठराग्नि ) को बढ़ाती है ॥ ६९ ॥

कुंडलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ॥

ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ ६६ ॥

कुंडलीति ॥ क्षिप्रं शीघ्रं कुंडल्याः सुप्ताया बोधकं बोधकर्तृ पुनातीति पवनं पवि-  
त्रकारकं सुखं ददातीति सुखदं हितं त्रिदोषहरत्वात्सर्वेषां हितं सर्वदा च हितं सर्वेषां  
कुंभकानां सर्वदा हितत्वेऽपि सूर्यभेदोऽज्जायिनावुष्णौ प्रायेण हितौ । सीत्कारीशी-  
तल्यौ शीतले प्रायेणोष्णे हिते । भस्त्राकुंभकः समशीतोष्णः सर्वदा हितः सर्वेषां  
कुंभकानां सर्वरोगहरत्वेऽपि सूर्यभेदनं प्रायेण वातहरम् । उज्जायी प्रायेण श्लेष्महरः ।  
सीत्कारीशीतल्यौ प्रायेण पित्तहरे । भस्त्राख्यः कुंभकः त्रिदोषहरः इति बोध्यम् ।  
ब्रह्मनाडी सुषुम्ना ब्रह्मप्रापकत्वात् । तथा च श्रुतिः—शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-  
स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वगन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥  
इति । तस्या मुखेऽग्रभागे संस्थः सम्यक् स्थितो यः कफादिरूपोऽर्गलः प्राणगतिप्र-  
तिबंधकस्तस्य नाशनं नाशकर्तृ ॥ ६६ ॥

भाषार्थ—और शीघ्रही सोती हुई कुंडलीका बोधक है और पवित्र करता है और सुखका  
दाता है और हित है यद्यपि संपूर्ण कुंभक सब कालमें हित होते हैं तथापि सूर्यभेदन और  
उज्जायी ये दोनों उष्ण हैं इससे शीतके समय हितकारी हैं और सीत्कारी शीतली ये दोनों  
शीतल हैं इससे उष्णकालमें हित हैं और भस्त्रा कुंभक न शीतल है न उष्ण है इससे सब का-  
लमें हित है । यद्यपि संपूर्ण कुंभक सब रोगोंको हरते हैं तथापि सूर्यभेदन प्रायसे वातको  
हरता है और उज्जायी प्रायसे कफको हरता है और सीत्कारी शीतली ये दोनों प्रायसे पित्तको  
हरते हैं और भस्त्रा नामका कुंभक त्रिदोष (संनिपात) को हरता है यह और ब्रह्मलोक प्राप्त कर-  
नेवाली जो सुषुम्ना नामकी ब्रह्मनाडी है सोई इस श्रुतिमें लिखा है कि एक सौ एक १०१ हृद-  
यकी नाडी हैं उनमेंसे एक नाडी मूर्द्धा और मस्तकके सम्मुख गयी है उस नाडीके द्वारा जो  
ऊर्ध्व लोकमें जाता है वह मोक्षको प्राप्त होता है और अन्य सब नाडी जहां तहां  
क्रमको छोड़कर गयी हैं उस ब्रह्मनाडीके मुख (अग्रभाग) में भली प्रकार स्थित जो कफ  
आदि अर्गल अर्थात् प्राणकी गतिका प्रतिबंधक उसका नाशक है ॥ ६६ ॥

सम्यग्गात्रसमुद्भूतं ग्रंथित्रयविभेदकम् ॥

विशेषणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभकं त्विदम् ॥ ६७ ॥

सम्यगिति ॥ सम्यग्द्विभूतं गात्रे गात्रमध्ये सुषुम्नायामेव सम्यगुद्भूतं समुद्भूतं  
जातं यद्ग्रंथीनां त्रयं ग्रंथित्रयं ब्रह्मग्रंथिविष्णुग्रंथिरुद्रग्रंथिरूपं तस्य विशेषेण भेदज-  
नकम् । अत एव इदं भस्त्रा इत्याख्या यस्येति भस्त्राख्यं कुंभकं तु विशेषेणैव कर्त-  
व्यमवश्यकर्तव्यमित्यर्थः । सूर्यभेदनादयस्तु यथासंभवं कर्तव्याः ॥ ६७ ॥

भाषार्थ-भलीप्रकार ( दृढ ) जो गात्र ( सुषुम्ना ) नाडीके मध्यमें भलीप्रकार उत्पन्न हुई जो तीन ग्रंथि अर्थात् ब्रह्मग्रंथि विष्णुग्रंथि रुद्रग्रंथिरूप जो तीन गाँठ हैं उनका विशेषकर भेदजनक है इसीसे यह भस्त्रा नामका कुम्भक प्राणायाम विशेषकर करने योग्य है और सूर्य-भेदन आदि यथासंभव ( जब तब ) करने योग्य हैं अर्थात् आवश्यक नहीं हैं ॥ ६७ ॥

अथ भ्रामरी ।

वेगाद्घोषं पूरकं भृंगनादं भृंगानादं रेचकं मंदमंदम् ॥

योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानंदलीला ॥ ६८ ॥

भ्रामरीकुम्भकमाह-वेगादिति ॥ वेगात्तरसां घोषं सशब्दं यथा स्यात्तथा भृंगस्य भ्रमरस्य नाद इव नादो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा पूरकं कृत्वा । भृंग्यो भ्रमर्यस्तासां नाद इव नादो यस्मिन्तस्यां मंदमंदं रेचकं कुर्यात् । पूरकानंतरं कुम्भकस्तु भ्रामर्याः कुम्भकत्वादेव सिद्धो विशेषाच्च नोक्तः । पूरकरेचकयोस्तु विशेषोऽस्तीति तावेषोक्तौ । एवमुत्तरीत्याभ्यासनमभ्यासस्तस्य योगो युक्तिस्तस्माद्योगीन्द्राणां चित्ते काचिदनिर्वाच्या आनन्दे लीला क्रीडा आनंदलीला जातोत्पन्ना भवति ॥ ६८ ॥

भाषार्थ-अब भ्रामरी कुम्भकका वर्णन करते हैं कि, वेगसे शब्दसाहित जैसे हो तैसे भ्रमरके समान है शब्द जिसमें उस प्रकारसे कुम्भक प्राणायामको करके फिर भ्रमरीके समान है शब्द जिसमें उस प्रकार मंद २ रेचक प्राणायामको करे यहाँ पूरकके अनंतर कुम्भकको भी करे कदाचित् कहो कि, वह कहा क्यों नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि वह बिना कहे भी इससे सिद्ध है कि, भ्रामरी भी कुम्भक ही है इससे विशेषकर कुम्भक नहीं कहा है और पूरक रेचक इन दोनोंमें तो विशेष है इससे वे दोनोंही कहे हैं इस पूर्वोक्त रीतिके द्वारा जो अभ्यास योग ( करने ) से योगीन्द्रोंको चित्तमें कोई ( अपूर्व ) आनंदमें लीला ( क्रीडा ) उत्पन्न होती है अर्थात् इस भ्रामरी कुम्भकके अभ्याससे योगियोंके चित्तमें आनंद होता है ॥ ६८ ॥

अथ मूर्च्छा ।

पूरकांते गाढतरं बद्धा जालंधरं शनैः ॥

रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छां सुखप्रदा ॥ ६९ ॥

मूर्च्छाकुम्भकमाह-पूरकान्त इति । पूरकस्यांतोऽवसानेऽतिशयेन गाढतरं जालंधराख्यं बंधं बद्ध्वा शनैर्मंदमंदं रेचयेत् । इयं कुम्भिका मूर्च्छनाख्या मूर्च्छना इत्याख्या यत् इति मूर्च्छनाख्या कीदृशी मनोमूर्च्छयतीति मनोमूर्च्छा एतेन मूर्च्छनाया विग्रहदर्शनपूर्वकं फलमुक्तम् । पुनः कीदृशी सुखप्रदा सुखं प्रददातीति सुखप्रदा ॥ ६९ ॥

भाषार्थ-अब मूर्च्छा नामके कुम्भकको कहते हैं कि, पूरक प्राणायामके अन्तमें ( पीछे ) अत्यंत गाढरीतिसे पूर्वोक्त जालंधर बंधको बांधकर शनैः २ प्राणवायुका रेचन करे यह कुम्भिका मूर्च्छना नामकी कहाती है और मनकी मूर्च्छाको करती है और उत्तम सुखको देती है ॥ ६९ ॥

अथ प्लाविनी ।

अन्तः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः ॥

पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत् ॥ ७० ॥

प्लाविनीकुम्भकमाह—अन्तरिति ॥ अन्तः शरीरांतः प्रवर्तितः पूरित उदारोऽतिशयितो यो मारुतः समीरस्तेनासमन्तात्पूरितमुदरं येन स पुमानगाधेऽप्यतलस्पर्शेऽपि पयसि जले पद्मपत्रवत्पद्मपत्रेण तुल्यं सुखादनायासात् प्लवते तरति गच्छति ॥ ७० ॥

भाषार्थ—अब प्लाविनी नामके कुम्भकका वर्णन करते हैं कि, शरीरके मध्यमें प्रवृत्त किया ( भरा ) उदार ( अधिक ) जो पवन उससे चारों ओरसे पूर्ण है उदर जिसका ऐसा योगी अगाधजलमें भी इस प्रकार प्लवता ( तरता ) है जैसे कमलका पत्र अर्थात् विना आश्रयकेही जलके ऊपर तर जाता है ॥ ७० ॥

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ॥

सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः ॥ ७१ ॥

अथ प्राणायामभेदानाह—प्राणायाम इति ॥ प्राणस्य शरीरांतः संचारिवायोरायमनं निरोधनमायामः प्राणायामः । प्राणायामलक्षणमुक्तं गौरक्षनाथेन—‘प्राणः स्वदेहजीवायुरायामस्ताज्जिरोधनम्’ इति । रेचकश्च पूरकश्च कुम्भकश्च तैर्भेदैस्त्रिधा त्रिप्रकारक रेचकप्राणायामः पूरकप्राणायामः कुम्भकप्राणायामश्चेति । रेचकलक्षणमाह याज्ञवल्क्यः—‘बाहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः’ इति । रेचकप्राणायामलक्षणम्—‘निष्क्रम्य नासाविवरदक्षेणं प्राणं बाहिः शून्यमिवानिलेन । निरुध्य संतिष्ठति रुद्धवायुः स रेचको नाम महानिरोधः ॥’ पूरकलक्षणम्—वाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः ।’ पूरकप्राणायामलक्षणम्—‘बाह्ये स्थितं प्राणपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समन्तात् । नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद्यः स पूरको नाम महानिरोधः ॥’ कुम्भकलक्षणम्—‘संपूर्य कुम्भवद्वायोर्धारणं कुम्भको भवेत् ।’ अथ कुम्भकस्तु पूरकप्राणायामादभिन्नः । भिन्नस्तु । ‘न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुम् । सुनिश्चलं धारयते क्रमेण कुम्भाख्यमेतत्प्रवर्दति तज्ज्ञाः’ । अथ प्रकारांतरेण प्राणायामं विभजते—सहित इति ॥ कुम्भको द्विविधः सहितः केवलश्चेति । मतोऽभिमतो योगिनामिति शेषः । तत्र सहितो द्विविधः । रेचकपूर्वकः कुम्भकपूर्वकश्च । तदुक्तम्—‘आरेच्यापूर्य वा कुर्यात्स वै सहितकुम्भकः ।’ तत्र रेचकपूर्वको रेचकप्राणायामादभिन्नः । पूरकपूर्वकः कुम्भकः पूरकप्राणायामादभिन्नः केवलकुम्भकः कुम्भकप्राणायामादभिन्नः । प्राणुक्ताः सूर्यभेदनादयः पूरकपूर्वकस्य कुम्भकस्य भेदा ज्ञातव्याः ॥ ७१ ॥

भाषार्थ—अब प्राणायामके भेदोंको कहते हैं कि, रेचक प्राणायाम पूरक प्राणायाम कुम्भक प्राणायाम इन भेदोंसे प्राणायाम तीन प्रकारका योगियोंने कहा है प्राणायामका लक्षण गौरक्ष-

नाथने यह कहा है कि, अपने देहकी जो जीवनकी अवस्था उसको प्राण कहते हैं और उस अवस्थाके अवरोधको आयाम कहते हैं अर्थात् अवस्थाके अवरोधका नाम प्राणायाम है और रेचकका लक्षण याज्ञवल्क्यने यह कहा है कि उदरसे बाहिर जो वायुका रेचन उसको रेचक कहते हैं और रेचक प्राणायामका यह लक्षण है कि संपूर्ण प्राणको नासिकाके छिद्रमेंसे बाहिर निकास और प्राणवायुको रोककर इस प्रकार ठिकै कि मानो देह प्राणवायुसे शून्य है यह महान् निरोध रेचकनाम प्राणायाम कहाता है और पूरकका लक्षण यह है कि बाहिरसे जो उदरमें वायुका पूरण वह पूरक होता है और पूरक प्राणायामका लक्षण यह है कि, बाहिर टिकी हुई पवनको नासिकाके पुटसे आकर्षण करके उसी नासिकाके पुटसे शनैः २ संपूर्ण नाडियोंको जो पूर्ण करदे उस महानिरोधको पूरकनाम प्राणायाम कहते हैं । कुंभकका लक्षण यह है कि कुंभ ( घट ) के समान वायुको पूर्ण करके जो धारण वह कुंभक होता है यह कुंभक प्राणायाम तो पूरक प्राणायामसे अभिन्न अर्थात् दोनों एकही है भिन्न तो यह है कि न रेचक करै न पूरक करै किंतु नासिकाके पुटमें ठिके हुए वायुकोही भलीप्रकार निश्चल रीतिपूर्वक क्रमसे जो धारण करना प्राणायामके ज्ञाता इसको कुंभक कहते हैं । अब अन्यप्रकारसे प्राणायामके विभाग करते हैं कि, कुंभक दो प्रकारका योगीजनोंने माना है एक सहित और दूसरा केवल अर्थात् रेचकपूरक और पूरकपूर्वक सोई कहाँ कि वायुका आसमंतात् रेचन वा पूरणकरके जो प्राणायाम करै वह सहितकुंभक होता है उन तीनोंमें रेचकपूर्वक प्राणायाम रेचकप्राणायाम रूप है और पूरकपूर्वक कुंभक पूरकप्राणायामसे अभिन्नरूप है और केवल कुंभक कुंभकप्राणायामसे अभिन्नरूप है पूर्वोक्त सूर्यभेदन आदि जो प्राणायाम हैं वे पूरकपूर्वक कुंभकके भेद जानने । भावार्थ यह है कि, रेचकपूरक कुंभकके भेदसे प्राणायाम तीन प्रकारका है और सहित केवलके भेदसे कुंभक दो प्रकारका है ॥ ७१ ॥

**यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ॥**

**रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ॥ ७२ ॥**

सहितकुंभकाभ्यासस्यावधिमाह—यावदिति ॥ केवलस्य केवलकुंभकस्य सिद्धिः केवलसिद्धिर्यावत्पर्यंतं स्यात्तावत्पर्यंतं रहितकुंभकं सूर्यभेदादिकमभ्यसेदनुतिष्ठेत् । सुषुम्नाभेदानंतरं यदा सुषुम्नांतर्घटशब्दा भवन्ति तदा केवलकुंभकः सिद्धयति तदनंतरं सहितकुंभका दश विंशतिर्वा कार्याः अशीतिसंख्यापूर्तिः केवलकुंभकेव कर्तव्या । सति सामर्थ्ये केवलकुंभका अशीतेराधिकाः कार्याः । केवलकुंभकस्य लक्षणमाह—रेचकामेति ॥ रेचकं पूरकं मुक्त्वा त्यक्त्वा सुखमनायासं यथा स्यात्तथा वायोर्धारणं वायुधारणं यत् ॥ ७२ ॥

भावार्थ—अब सहित कुंभकके अभ्यासकी अवधिको कहते हैं कि, केवल कुंभकप्राणायामकी सिद्धि जबतक होय तबतक सूर्यभेदन आदि सहित कुंभकका अभ्यास करै सुषुम्नानाडीके भेदके अनंतर सुषुम्नाके अनंतर जब जलपूरित घटके समान शब्द होय तब केवल कुंभक सिद्ध होता है उसके अनंतर दश वा बीस सहितकुंभक करने अस्सी संख्याका पूरण केवल

कुंभकोसेही करना सामर्थ्य होय तो अस्सीसे अधिकभी केवल कुंभक करमे । अब केवल कुंभकके लक्षणोंको कहते हैं कि, रेचक और पूरकको छोडकर सुखसे जो वायुका धारण उसे केवलकुंभक कहते हैं ॥ ७२ ॥

**प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुंभकः ॥**

**कुंभके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥ ७३ ॥**

प्राणायाम इति ॥ स वै मिश्रितः केवलकुंभकः प्राणायाम इत्ययमुक्तः । केवलं प्रशंसति ॥ केवल इति ॥ रेचो रेचकः रेचश्च पूरकश्च रेचपूरकौ ताभ्यां वर्जिते रहिते केवले कुंभके सिद्धे सति ॥ ७३ ॥

भाषार्थ—वह मिश्रितप्राणायाम और केवल कुंभकप्राणायाम इस पूर्वोक्त प्रकारसे कहा रेचक और पूरकसे वर्जित ( विना ) केवल कुंभकके सिद्ध होनेपर ॥ ७३ ॥

**न तस्य दुर्लभं किंचिन्निषु लोकेषु विद्यते ॥**

**शक्तः केवलकुंभेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ ७४ ॥**

नेति ॥ तस्य योगिनस्त्रिषु लोकेषु दुर्लभं दुष्प्रापं किंचित्किमापि यथेष्टं यथेच्छं वायोर्धारणं वापि न विद्यते । तस्य सर्वं सुलभमित्यर्थः ॥ शक्त इति ॥ केवलकुंभकेन कुंभकाभ्यासेन शक्तः समर्थो यथेष्टं यथेच्छं वायोर्धारणं तस्माद्वायुधारणात् ७४ ॥

भाषार्थ—उस केवल कुंभक प्राणायाम करनेवाले योगीको तीनों लोकोंमें कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है अर्थात् त्रिलोकीकी संपूर्ण वस्तु सुलभ हैं—और केवल कुंभकके अभ्यासमें जो समर्थ है वह अपनी इच्छाके अनुसार प्राणवायुके धारणसे ॥ ७४ ॥

**राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ॥**

**कुंभकात्कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत् ॥ ७५ ॥**

राजेति ॥ राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं लभते । अत्र संशयो न । निश्चितमेतदित्यर्थः । कुंभकाभ्यासस्य परंपरया कैवल्यहेतुत्वमाह । कुंभकादिति ॥ कुंभकात्कुंभकाभ्यासात्कुण्डल्याधारशक्तिस्तस्या बोधो निद्रामंगो भवेत् । कुण्डल्या बोधः कुण्डलीबोधस्तस्मात्कुण्डलीबोधतः ॥ ७५ ॥

भाषार्थ—राजयोगपदको भी योगी प्राप्त होता है इसमें संशय नहीं अब कुम्भकप्राणायामके अभ्यासको परम्परासे मोक्षका हेतु वर्णन करते हैं—कि कुम्भक प्राणायामके अभ्याससे आधारशक्तिरूप कुण्डलीका बोध होता है—अर्थात् निद्राका भंग होता है और कुण्डलीके बोधसे ७५ ॥

**अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ॥**

**हठं विना राजयोगं राजयोगं विना हठः ॥**

**न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥ ७६ ॥**

अनर्गलेति ॥ सुषुम्नानाड्यनर्गल कफाद्यर्गलरहिता भवेत् । हठस्य हठाभ्या-  
सस्य सिद्धिः प्रत्याहारादिपरंपरया कैवल्यरूपा सिद्धिर्जायते । हठयोगराजयोगसाध-  
नयोः परस्परोपकार्योपकारकत्वमाह-हठं विनेति ॥ हठं हठयोगं विना राजयोगो न  
सिध्यति राजयोगं विना हठो न सिध्यति ततोऽन्यतरस्य सिद्धिर्नास्ति । तस्मान्नि-  
ष्पत्तिं राजयोगसिद्धिमामर्यादीकृत्य या निष्पत्तिस्तस्या राजयोगसिद्धिपर्यंतं युग्मं  
हठयोगराजयोगद्वयमभ्यसेदनुतिष्ठेत् । हठातिरिक्ते साक्षात्परंपरया वा राजयोगसाधनेऽत्र  
राजयोगशब्दः । जीवनसाधने लांगले जीवनशब्दप्रयोगवत् । राजयोगसाधनं चतुर्थो-  
पदेशे वक्ष्यमाणमुन्मनीशांभवीमुद्रादिरूपमपरोक्षानुभूतावुक्तं पंचदशांगरूपं दशांगरूपं  
च । वाक्यसुधायामुक्तं दृश्यानुविद्धादिरूपं च ॥ ७६ ॥

भाषार्थ-सुषुम्नानाडी अनर्गल होजाती है अर्थात् कफ आदि बंधनसे रहित होजाती है  
और हठयोगके अभ्यासकी सिद्धि प्रत्याहार आदिकी परम्परासे होजाती है अर्थात् मोक्षसिद्धि  
होजाती है । अब हठयोग और राजयोगके जो साधन हैं उनका परस्पर उपकार्य उपकारक  
भावका वर्णन करते हैं किं, हठयोगके विना राजयोग सिद्ध नहीं होता और राजयोगके विना  
हठयोग सिद्ध नहीं होता जिससे एकके विना एककी सिद्धि नहीं होती तिससे राजयोगसिद्धि-  
पर्यंत हठयोग और राजयोग दोनोंका अभ्यास करै अर्थात् राजयोगसिद्धिका यत्न करै यहाँ  
राजयोगपर उस राजयोगके साधन ( हेतु ) का वाचक है जो हठयोगसे भिन्न हो और साक्षात्  
वा परम्परासे राजयोगका कारण हो जैसे जीवनके साधन लांगलमें जीवन शब्दका प्रयोग  
होता है वह राजयोगका साधन उन्मनी और शाम्भवी मुद्रामें कहेंगे और अपरोक्षानुभूतिमें  
पंचदशांग और दशांग रूप कहाहै और वाक्यसुधामें दृश्यानुविद्ध आदिरूप कहाहै ॥ ७६ ॥

**कुंभकप्राणरोधांते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ॥**

**एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥ ७७ ॥**

हठाभ्यासाद्राजयोगप्राप्तिप्रकारमाह-कुंभकोति ॥ कुंभकेन प्राणस्य यो रोधस्तः  
स्यांते मध्ये चित्तमंतःकरणं निराश्रयं कुर्यात् । संप्रज्ञातसमाधौ जातायां ब्रह्माकार-  
स्थितेः परं वैराग्येण विलयं कुर्यादित्यर्थः । एवमुक्तरीत्याभ्यासस्य योगो युक्तिस्तेन  
'योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इति कोशः । राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं  
व्रजेत्प्राप्नुयात् ॥ ७७ ॥

भाषार्थ-अब हठयोगके अभ्याससे राजयोगप्राप्तिका प्रकार कहते हैं कि, कुंभकप्राणायाम-  
से प्राणका रोध करनेके अंत ( मध्य ) में अन्तःकरणको निराश्रय करदे अर्थात् सम्प्रज्ञात  
समाधिके होनेपर ब्रह्माकार स्थितिके अनन्तर वैराग्यसे चित्तका लय करदे इस पूर्वोक्त रीतिसे  
किये अभ्यासके योगसे राजयोग पदको प्राप्त होता है यहाँ योगपद इस कोशके अनुसार  
युक्तिका बोधक है ॥ ७७ ॥

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ॥

अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ॥ ७८ ॥

इति हठयोगप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

हठसिद्धिज्ञापकमाह—वपुःकृशत्वमिति ॥ वपुषो देहस्य कृशत्वं कार्यं वदने मुखे प्रसन्नता प्रसादो नादस्य ध्वनेः स्फुटत्वं प्राकट्यं नयने नेत्रे सुष्ठु निर्मले अरोगस्य भावोऽरोगता आरोग्यं बिन्दोर्धातोर्जयः क्षयाभावरूपः अग्नौर्दयस्य दीपनं दीप्तिर्नाडीनां विशेषेण शुद्धिर्मलापगमः एतद्धठस्य हठाभ्यासासिद्धेर्भाविन्या लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् ॥ ७८ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां उद्योत्सनाभिधायी ब्रह्मा-

नन्दकृतायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

भाषार्थ—अब हठयोगसिद्धिके लक्षणोंको कहते हैं कि देहकी कृशता मुखमें प्रसन्नता नादकी प्रकटता और दोनों नेत्रोंकी निर्मलता रोगका अभाव बिन्दुका जय अर्थात् नाडियोंमें मलका अभाव ये हठयोगसिद्धिके लक्षण हैं अर्थात् ये चिह्न होय तो यह जानना कि, इसको हठयोगकी सिद्धि होजायगी ॥ ७८ ॥

इति श्रीहठयोगप्रदीपिकायां पण्डितमिहिरचन्द्रकृतभाषाविवृत्तिसहितायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोपदेशः ३.

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ॥

सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुण्डली ॥ १ ॥

अथ कुण्डल्याः सर्वयोगाश्रयत्वमाह—सशैलेति ॥ शैलाश्च वनानि च शैलवनानि तैः सह वर्तमानाः सशैलवनास्ताश्च ता धान्यश्च भूमयस्तासाम् । धान्या एकत्वेऽपि देशभेदाद्भेदमादाय बहुवचनम् । अहीनां सर्पाणां नायको नेताऽहिनायकः शेषो यथा यद्वाधार आश्रयस्तथा तद्वत् । सर्वेषां योगस्य तंत्राणि योगतन्त्राणि योगोपायास्तेषां कुण्डल्याधारशक्तिराश्रयः । कुण्डलीबोधं विना सर्वयोगोपायानां वैयर्थ्यादिति भावः ॥ १ ॥

भाषार्थ—अब इसके अनंतर कुण्डली सर्व योगोंका आश्रय है इसका वर्णन करते हैं कि, जैसे संपूर्ण पर्वत वनोंसहित जितनी भूमि हैं उनका आश्रय ( आधार ) जैसे सर्पोंका नायक शेष है तिसी प्रकार योगके समस्त उपायोंका आधार भी कुण्डली है क्योंकि कुण्डलीके बोध विना योगके संपूर्ण उपाय व्यर्थ हैं यद्यपि भूमि एक है—तथापि देशभेदसे भूमिके भेदको मानकर बहुवचन ( धात्रीणाम् ) यहाँ दिया है ॥ १ ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ॥

तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रंथयोऽपि च ॥ २ ॥

कुण्डलीबोधस्य फलमाह द्वाभ्याम्—सुप्तेति ॥ सुप्ता कुण्डली गुरोः प्रसादेन यदा जागर्ति बुध्यते तदा सर्वाणि पद्मानि षट्चक्राणि भिद्यन्ते भिन्नानि भवन्ति । ग्रन्थयोऽपि च ब्रह्मग्रन्थिविष्णुग्रन्थिरुद्रग्रन्थयो भिद्यन्ते भेदं प्राप्नुवन्तीत्यन्वयः ॥ २ ॥

भाषार्थ—अब कुण्डलीके बोधका दो श्लोकोंसे फल कहते हैं जब गुरुकी प्रसन्नतासे सोती हुई कुण्डली जागती है तब संपूर्ण पद्म अर्थात् हृदयके षट्चक्र भिन्न होजाते हैं अर्थात् खिल जाते हैं और ब्रह्मग्रन्थि विष्णुग्रन्थि रुद्रग्रन्थिरूप तीनों ग्रन्थि भी खुल जाती हैं ॥ २ ॥

**प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ॥**

**तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम् ॥ ३ ॥**

प्राणस्येति ॥ तथा शून्यपदवी सुषुम्ना प्राणस्य वायो राज्ञां पथा राजपथं राजपथमिवाचरति राजपथायते राजमार्गायते । सुखेन गमनसंभवात् । तदा चित्तमालंबनमाश्रयस्तस्मान्निर्गतं निरालंबं निर्विषयं भवति । तदा कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतीकरणं भवति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—और तिसी प्रकार प्राणकी शून्यपदवी ( सुषुम्ना ) राजपथ ( सड़क ) के समान होजाती है अर्थात् प्राण उसमेंको सुखसे गमन करने लगता है—और उसी समय चित्तभी निरालंब होजाता है अर्थात्—विषयोंका अनुरागी नहीं रहता और उसी समय कालका वंचन होता है अर्थात् मृत्युका भय दूर होजाता है ॥ ३ ॥

**सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ॥**

**श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥**

**तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरम् ॥**

**ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥**

सुषुम्नापर्यायानाह—सुषुम्नोति ॥ इत्युक्ताः शब्दा एकस्य एकार्थस्य वाचकाः एकवाचकाः । पर्याया इत्यर्थः । स्पष्टः श्लोकार्थः ॥ तस्मादिति ॥ यस्मात्कुण्डलीबोधेनैव षट्चक्रभेदादिकं भवति तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सर्वेण प्रयत्नेन ब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणं तस्य द्वारं प्राप्स्युपायः सुषुम्ना तस्या मुखेऽग्रभागे मुखेन सुषुम्नाद्वारं पिधाय सुप्तमीश्वरं कुण्डलीं प्रबोधयितुं प्रकर्षेण बोधयितुं मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासमावृत्तिं समाचरेत्सम्यगाचरेत् ॥ ४ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—अब सुषुम्नानाडीके पर्यायोंको कहते हैं कि, सुषुम्ना, शून्यपदवी, ब्रह्मरंध्र, महापथ, श्मशान, शांभवी, मध्यमार्ग ये संपूर्ण शब्द एक अर्थके वाचक हैं अर्थात् इन सबका सुषुम्ना नाडी अर्थ है जिससे कुण्डलीके बोधसेही षट्चक्र भेद आदि होते हैं इससे संपूर्ण प्रयत्नसे सच्चिदानंदरूप ब्रह्मकी प्राप्ति का उपाय जो सुषुम्ना उसके अग्रभागमें सुषुम्नाके द्वारको ढककर

सोती हुई जो ईश्वरी ( कुण्डली ) है उसका प्रबोध ( जगाना ) करनेके लिये मुद्राओंका अभ्यास करै अर्थात् महासुद्रा आदिको करै ॥ ४ ॥ ५ ॥

**महासुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी ॥**

**उड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ॥ ६ ॥**

**करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ॥**

**इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ ७ ॥**

मुद्रा अविशति-महासुद्रेत्यादिना सार्धेन ॥ सार्धार्थः स्पष्टः ॥ मुद्राफलमाह-सार्द्ध-  
द्वाभ्याम्-इदमिति ॥ इदमुक्तं मुद्राणां दशकं जरा च मरणं च जरामरणे तयोर्ना-  
शनं निवारकम् ॥ ६ ॥ ७ ॥

भाषार्थ-महासुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, उड्यान, मूलबंध, जालंधरबंध, विपरीतक-  
रणी, वज्रोली, शक्तिचालन ये पूर्वोक्त दशमुद्रा जरा और मरणको नष्ट करती हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥

**आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ॥**

**बल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ८ ॥**

आदिनाथेति ॥ आदिनाथेन शंभुनोदितं काथितम् । दिवि भवं दिव्यमुत्तमम् ।  
अष्टौ च तान्यैश्वर्याणि चाष्टैश्वर्याणि अणिमामहिमागरिमालघिमाप्राप्तिप्राकाम्येशता-  
वशिताख्यानि । तत्राणिमा संकल्पमात्रेण प्रकृत्यपगमे परमाणुवद्देहस्य सूक्ष्मता १ ।  
महिमा प्रकृत्यापूरेणाकाशादिवन्महद्भावः २ । गरिमा लघुतरस्यापि तूलादेः पर्वता-  
दिवद्गुरुभावः ३ । लघिमा गुरुतरस्यापि पर्वतादेस्तूलादिवल्लघुभावः ४ । प्राप्तिः  
सर्वभावसान्निध्यम् । यथा भूमिस्थ एवांगुल्यग्रेण स्पृशति चंद्रमसम् ५ । प्राकाम्यमि-  
च्छानामिधातः । यथा उदक इव भूमौ निमज्जत्युन्मज्जाति च ६ । ईशता भूतभौति-  
कानां प्रभवाप्ययसंस्थानविशेषसामर्थ्यम् ७ । वशित्वं भूतभौतिकानां स्वाधीनकर-  
णम् ८ । तेषां प्रदायकं प्रकर्षणं ददातीति तथा तं सर्वं च ते सिद्धाश्च कपिलादय-  
स्तेषां बल्लभं प्रियं मरुतां देवानामपि दुर्लभं दुष्प्रापं किमुतान्येषामित्यर्थः ॥ ८ ॥

भाषार्थ-और आदिनाथने कहे जो उत्तम आठ ऐश्वर्य उनको भली प्रकार देती हैं और संपूर्ण  
जो कपिल आदि सिद्ध हैं उनको प्रिय हैं और देवताओंकोभी दुर्लभ हैं वे आठ ऐश्वर्य ये हैं  
कि-अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशता, वशिता उनमें अणिमा वह  
सिद्धि होती है कि, योगीके संकल्पमात्रसे प्रकृतिके दूर होनेपर परमाणुके समान सूक्ष्म देह  
होजाये उसे अणिमा १ कहते हैं और प्रकृतिके आपूरको करके अर्थात् अपने देहमें भरके  
आकाशके समान महान् स्थूल होजानेको महिमा २ सिद्धि कहते हैं । और तूल ( रुई ) आदि  
लघुपदार्थकोभी पर्वत आदिसे समान जो गुरु ( भारी ) होजाना है उसे गरिमा ३ कहते हैं और  
अत्यंत गुरु ( पर्वत आदि ) का जो तूल आदिके समान लघु ( हलका ) होना है उसे लघिमा

४ कहते हैं और संपूर्ण पदार्थोंके जो समीप पहुँचना जैसे कि भूमिपर स्थित योगी, अंगुलिके अग्रसे चंद्रमाका स्पर्श करले इसे प्राप्ति ५ कहते हैं और इच्छाका अनभिचात अर्थात् जलके समान भूमिमें प्रविष्ट होजाय और निकस आवै इसको प्राकाम्य ६ कहते हैं । पाँचों महाभूत और उनसे उत्पन्न भौतिकपदार्थ इनकी उत्पत्ति और प्रलय और पालनके सामर्थ्यको ईशता सिद्धि ७ कहते हैं और भूत भौतिक पदार्थोंको अपने अधीन करनेको वशिता ८ सिद्धि कहते हैं ये आठों सिद्धि पूर्वोक्त दशों मुद्राओंके करनेसे होती हैं ॥ ८ ॥

**गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ॥**

**कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ ९ ॥**

गोपनीयमिति ॥ प्रयत्नेन प्रकृष्टेन यत्नेन गोपनीयम् । गोपनीयत्वे दृष्टान्तमाह-- यथेति ॥ रत्नानां हीरादीनां करंडकं रत्नकरंडकं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् । कस्यापि जनमात्रस्य यद्वा कस्यापि ब्रह्मणोऽपि नैव वक्तव्यं नैव वाच्यं । किमुतान्यस्य तत्र दृष्टान्तः । कुलस्त्रियाः सुरतं कुलस्त्रीसुरतं संगमनं यथा तद्वत् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—ये पूर्वोक्त दशों मुद्रा इस प्रकार प्रयत्नसे गुप्त करने योग्य है जैसे हीरा आदि रत्नोंका करंड ( पेयरी ) गुप्त करने योग्य होती है और किसी मनुष्यको वा ब्रह्माको भी इस प्रकार नहीं कहनी. अन्यकी तौ कौन क्या है जैसे कुलीनस्त्रीके सुरत ( संगम ) को किसी को नहीं कहते हैं ॥ ९ ॥

अथ महामुद्रा ।

**पादमूलेन वामेन योनिं संपीडय दक्षिणम् ॥**

**प्रसारितं पदं कृत्वा धराभ्यां धारयेद्वटम् ॥ १० ॥**

दशविधमुद्रादिषु । प्रथमादिष्टत्वेन महामुद्रां तावदाह--पादमूलेनेति ॥ वामेन सव्येन पादस्य मूलं पादमूलं पाष्णिगस्तेन पादमूलेन वामपादपाष्णिगनेत्यर्थः । योनिं योनि स्थानं गुदमेद्वयोर्मध्यभागं संपीडयान्कुचितवामपादपाष्णिगना योनिस्थानं दृढं संयोज्येत्यर्थः । दक्षिणं सव्येतरं पदं चरणं प्रसारितं भूमिसंलग्नपाष्णिकमूर्ध्वगुलिकं दंडवत्कृत्वा कराभ्यां संप्रदायादाकुंचितकरतर्जनीभ्यां दृढं गाढं धारयेदंगुष्ठप्रदेशे गृहीयात् ॥ १० ॥

भाषार्थ—अब दशोंमुद्राओंमें प्रथम जो महामुद्रा उसका वर्णन करते हैं कि, वामपादके मूल ( तल ) से अर्थात् पाष्णिगसे योनिस्थानको अर्थात् गुदा और लिंगके मध्यभागको भलीप्रकार पीडित ( दबाना ) करके और दक्षिणपादको प्रसारित ( फैलाना ) करके अर्थात् दक्षिणपादकी पाष्णिग ( ऐड ) को भूमिसे मिलाकर और उसकी अंगुलियोंको ऊपरको करके और उस दक्षिणपादको मुकडीहुई दोनों हाथोंकी तर्जनीओंसे दृढरीतिसे ( खव ) अंगूठेके स्थानमें धारण करै अर्थात् जोरसे पकडले ॥ १० ॥

**कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥**

**यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥**

कंठ इति ॥ कण्ठे कंठदेशे बंधनं सम्यगारोप्य कृत्वा । जालंधरबंधं कृत्वेत्यर्थः । वायुं पवनमूर्ध्वत उपरि सुषुम्नायां धारयेत् । अनेन मूलबंधः सूचितः स तु योनि संपीडनेन जिह्वाबंधनेन चरितार्थ इति सांप्रदायिकाः यथा दंडेन हतस्ताडितो दंडहतः सर्पः कुंडली दंडाकारः दंडस्याकार इवाकारो यस्य स तादृशः । वक्राकारं त्यक्त्वा सरल इत्यर्थः । प्रकर्षेण जायते भवति ॥ ११ ॥

भाषार्थ—और कंठके प्रदेशमें भलीप्रकार जालंधरनामके बंधको करके वायुको ऊर्ध्वदेश ( सुषुम्ना ) मेंही धारण करै अर्थात् मूलबंध करे और सांप्रदायिक अर्थात् संप्रदायके ज्ञाता तो यह कहते हैं कि, वह मूलबंध तो योनिका संपीडन और जिह्वाके बंधनसे चरितार्थ है अर्थात् पृथक् मूलबंध करनेका कुछ प्रयोजन नहीं है ऐसा करनेसे जैसे दंडसे हत हुआ सर्प ( कुण्डली ) दंडके समान आकारवाला होजाताहै अर्थात् वक्रताको त्यागकर भलीप्रकार सरल होजाताहै ॥ ११ ॥

**ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुंडली सहसा भवेत् ॥**

**तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ १२ ॥**

ऋज्वीभूतेति ॥ तथा कुंडल्याधारशक्तिः सहसा शीघ्रमेव ऋज्वी संपद्यते तथाभूता ऋज्वीभूता सरला भवेत् । तदा सेति । द्वे पुटे इडापिंगले आश्रयो यस्याः सा मरणावस्था जायते । कुण्डलीबोधे सति सुषुम्नायां प्रविष्टे प्राणे द्वयोः प्राणवियोगात् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—तिसीप्रकार आधार शक्ति रूप जो कुंडली है वह शीघ्रही ऋज्वीभूत ( सरल ) होजाती है और उस समय इडा और पिंगलारूप जो दोनों पुट हैं वे आश्रय, जिसके ऐसी वह मरणकी अवस्था होजाती है अर्थात् कुंडलीका बोध होनेपर सुषुम्नानाडीमें प्राणका प्रवेश हो जाता है इससे इडा और पिंगला दोनोंका प्राणवियोग ( मरण ) होजाताहै ॥ १२ ॥

**ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ॥**

**महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ १३ ॥**

**इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥**

**महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ॥**

**महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ १४**

तत इति ॥ इयमिति ॥ ततस्त्वदनंतरं शनैः शनैरेव रेचयेत् । वायुमिति संबध्यते वेगतस्तु वेगान्न रेचयेत् । वेगतो रेचने बलहानिप्रसंगात् । खल्विति वाक्यालंकारे । इयं महामुद्रा महासिद्धैरादिनायादिभिः प्रदर्शिता प्रकर्षेण दर्शिता । महामुद्राया अन्वर्थ-वामाह—महांतश्चते क्लेशाश्च महाक्लेशाः अविद्यास्मितरागद्वेषाभिनिवेशाः पंच त आदयो येषां ते शोकमोहादीनां ते दोषाः क्षीयन्ते । मरणमादिर्येषां जरादीनां तेषां च क्षीयन्ते

नश्यन्ति । यतस्तेनैव हेतुना विशिष्टा बुधा विबुधास्तेषूत्तमा विबुधोत्तमा महामुद्रां वदन्ति । महाक्लेशान्मरणादिंश्च बोधान्मुद्रयति शमयतीति महामुद्रेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः ॥ १३ ॥ १४ ॥

भाषार्थ—तिससे शनैः २ प्राणवायुका रेचन करै वेगसे न करै, क्योंकि वेगसे रेचन करनेमें बलकी हानि होती है तिससेही देवताओंमें उत्तम इसको महामुद्रा कहते हैं और वह महामुद्रा आदिनाथ आदिमहासिद्धोंने भलीप्रकार दिखाई है । अब महामुद्राके अन्वर्थनामका वर्णन करते हैं कि, अविद्या, स्मित, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप पांचों महाक्लेश और मरण आदि दुःख इस मुद्राके करनेसे क्षीण ( नष्ट ) होजातेहैं तिससेही देवताओंमें श्रेष्ठ इसको महामुद्रा कहते हैं अर्थात् महाक्लेशोंके नष्ट करनेसेही इसका देवताओंने महामुद्रा नाम रक्खा है ॥ १३ ॥ १४ ॥

**चंद्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ॥**

**यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ १५ ॥**

महामुद्राभ्यासक्रममाह—चंद्रांग इति ॥ चंद्रेण चंद्रनाड्योपलक्षितमंगं चंद्रांगं तस्मिन् चंद्रांगे वामांगे । तुशब्दः पादपूरणे । सम्यग्भ्यस्य सूर्येण पिंगलयोपलक्षितमंगं सूर्याङ्गं तस्मिन् सूर्यांगे दक्षांगे पुनर्वामांगाभ्यासानंतरं यावद्यावत्कालपर्यंतं तुल्या वामांगे कुंभ-काभ्याससंख्यासमा संख्या भवेत्तावदभ्यसेत् । ततः संख्यासाम्यानंतरं मुद्रां महामुद्रां विसर्जयेत् । अत्रायं क्रमः । आकुंचितवामपादपार्श्वेण योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितदक्षिणपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो वामांगेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्वामांगे तिष्ठति । आकुंचितदक्षपादपार्श्वेण योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितवामपादांगुष्ठमाकुंचिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाभ्यासो दक्षांगेऽभ्यासः अस्मिन्नभ्यासे पूरिते वायुर्दक्षांगे तिष्ठति ॥ १५ ॥

भाषार्थ—अब महामुद्राके अभ्यासका क्रम कहते हैं कि—चंद्रनाडी ( इडा ) से उपलक्षित ( ज्ञात ) जो अंग उसे चंद्रांग कहते हैं अर्थात् वाम अंगके विषे भलीप्रकार अभ्यास करके सूर्य नाडी ( पिंगला ) से उपलक्षित जो दक्षिण अंग उसके विषे अभ्यास करै और जबतक कुंभक प्राणायामोंके अभ्यासकी संख्या समान ( तुल्य ) हो तबतक भलीप्रकार अभ्यास करै फिर संख्याओंकी समानताके अनंतर महामुद्राका विसर्जन करदे, यहां यह क्रम जानना कि, संकुचित किये वामपादकी पार्श्विको योनिस्थानमें युक्त ( मिला ) करके प्रसारित ( पसारे ) दक्षिण पादके अँगूठेको आकुंचित ( सुकड़ी ) तर्जनियोंसे ग्रहण करके जो अभ्यास उसे वामांगमें अभ्यास कहते हैं इस अभ्यासमें पूरित किया ( भराहुआ ) वायु वामांगमें टिकता है और आकुंचित किये दक्षिणपादकी पार्श्विको योनिस्थानमें संयुक्त करके और प्रसारित ( फैलाये ) किये वामपादके अँगूठेको आकुंचित कीहुई दोनों हाथोंकी तर्जनियोंसे ग्रहण करके जो अभ्यास उसे दक्षांगमें अभ्यास कहते हैं इस अभ्यासमें पूरित किया वायु दक्षिण अंगमें टिकता है ॥ १५ ॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥

अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति ॥ १६ ॥

महामुद्रागुणानाह त्रिमिः—न हीति ॥ हि यस्मान्महामुद्राभ्यासिन इत्यध्याहारः । पथ्यमपथ्यं वा न । पथ्यापथ्याविचारो नास्तीत्यर्थः । तस्मात्सर्वे भुक्ता रसाः कटुम्ल-दग्गे जीर्यते इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः । नीरसा निर्गतो रसो येभ्यस्ते यातयामाः पदार्था जीर्यन्ति । घोरमिति । दुर्जरं भुक्तमन्नं विषं क्ष्वेडमपि पीयूषमिवामृतमिव जीर्यति जीर्णं भवति । किमुतान्यदिति भावः ॥ १६ ॥

भाषार्थ—अब तीन श्लोकोंसे महामुद्राके गुणोंको कहते हैं कि, जिससे महामुद्रा अभ्यास करनेवाले योगीको पथ्य और अपथ्यका विचार नहीं है तिससे नीरस ( बिगड़े हुये ) भी संपूर्ण भक्षण किये कटु अम्ल आदि रस जीर्ण हो ( पच ) जाते हैं और भक्षण किया विषके समान घोर अन्नभी अमृतके समान जीर्ण होजाताहै अर्थात् पचनेके अयोग्यभी पचजाता है तो योग्य क्यों न पचेगा ? ॥ १६ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ॥

तस्य दोषाः क्षयं याति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ १७ ॥

क्षयेति ॥ यः पुमान् महामुद्रामभ्यसेत्तस्य क्षयो राजरोगः, कुष्ठगुदावर्तगुल्मा रोग-विशेषाः । अजीर्णं भुक्तान्नापरिपाकस्तानि पुरोगमान्यग्रेसराणि येषां महोदरज्वरादीनां तथा तादृशा दोषा दोषजनिता रोगाः क्षयं नाशं यांति प्राप्नुवंति ॥ १७ ॥

भाषार्थ—जो पुरुष महामुद्राका अभ्यास करताहै, क्षय, उदावर्त गुल्मरूप रोगविशेष अजीर्ण अर्थात् भोजन किये अन्नका अपरिपाक ये हैं मुख्य जिनमें ऐसे महोदर, ज्वर आदि दोष उसके क्षय हो जातेहैं अर्थात् नहीं रहते हैं ॥ १७ ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ॥

गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ १८ ॥

महामुद्रामुपसंहरंस्तस्या गोप्यत्वमाह—कथितेति ॥ इयमेषा महामुद्रा कथितोक्ता । मयेति शेषः । कीदृशी नृणामभ्यसतां नराणां महत्यश्च ताः सिद्धयश्चाणिमाद्यास्तासां करी कर्त्रीयम् । प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तेन प्रयत्नेन गोपनीया गोपनार्हा यस्यकस्याचि-दस्यकस्याप्यनधिकारिणोऽत्रबंधस्य । सामान्ये षष्ठी । न देया दातुं योग्या न भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

भाषार्थ—अब महामुद्राको समाप्त करते हुए उसको गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं कि, यह पूर्वोक्त जो महामुद्रा वर्णन की है वह मनुष्योंको महासिद्धिकरी करनेवाली है और बड़े यत्नसे गुप्त करने योग्य है और जिस किसी अनधिकारी पुरुषको न देनी ॥ १८ ॥

**पार्श्वेण वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥**

**वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९ ॥**

महाबन्धमाह—पार्श्वेणमिति ॥ वामस्य सव्यस्य पादस्य चरणस्य पार्श्वेण गुल्फ-  
योरधोभागम् 'तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ पुमान्पार्श्वेणस्तयोरधः' इत्यमरः । योनिस्थाने  
गुदमेद्वयोरन्तराले नियोजयेन्नितरां योजयेत् । वामः सव्यो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं  
चरणं पादं संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा । तथाशब्दः पादपूरणे ॥ १९ ॥

भाषार्थ—अब महाबन्धका वर्णन करते हैं कि, वामचरणकी पार्श्विको योनिस्थानमें अर्थात्  
गुदा और लिंगके मध्यभागमें लगावे और वामजंघा ऊपर दक्षिणपादको रखकर बैठे ॥ १९ ॥

**पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ॥**

**निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनो मध्ये नियोजयेत् ॥ २० ॥**

पूरयित्वेति ॥ ततस्तदनन्तरं वायुं पूरयित्वा हृदये चुबुकं दृढं निष्पीड्य संस्थाप्य ।  
एतेन जालन्धरबन्धः प्रोक्तः । योनिं गुदमेद्वयोरन्तरालमाकुंच्य । अनेन मूलबन्धः  
सूचितः स तु जिह्वाबन्धेन गतार्थत्वात् कर्तव्यः । मनः स्वांतं मध्ये मन्ध्यनाड्यां नियो-  
जयेत्प्रवर्तयेत् ॥ २० ॥

भाषार्थ—इस पूर्वोक्त आसन बांधनेके अनन्तर वायुको पूरण करके और हृदयमें दृढतासे  
( खूब ) चुबुक ( ठोड़ी ) को अर्थात् इस जालंधर बंधको करके और योनि ( गुदा लिंगके  
मध्य ) को संकुचित करके अर्थात् मूलबंधको करके परन्तु यह मूलबंध जिह्वाके बंधनसेही  
सिद्ध है इससे करने योग्य नहीं है फिर मनको मध्य नाडीके विषे प्रविष्ट करे ॥ २० ॥

**धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ॥**

**सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥ २१ ॥**

धारयित्वेति ॥ शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुम्भयित्वा शनैर्मंदं मन्द-  
मनिलं वायुं रेचयेत् । सव्यांगे वामांगे समभ्यस्य सम्यगावर्त्य दक्षांगे दक्षिणांगे पुनर्या-  
वत्तुल्यामेव संख्यां तावदभ्यसेत् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—फिर वायुको यथाशक्ति धारण करके अर्थात् कुम्भक प्राणायामको करके शनैः  
वायुका रेचन करे। इसी प्रकार वाम अंगमें भली प्रकार अभ्यास करके दक्षिण अंगमें फिर  
अभ्यास करे और वह अभ्यास तबतक करे जबतक वामांग अभ्यासकी जो संख्या उसकी  
तुल्यताहो ॥ २१ ॥

**मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं विवर्जयेत् ॥**

**राजदंतस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति ॥ २२ ॥**

अथ जालन्धरबन्धे कण्ठसंकोचस्यानुपयोगमाह—मतमिति ॥ केषांचित्त्वाचार्यो-  
णामिदं मतम् । किं तादित्याह । अत्र जालन्धरबन्धे कण्ठस्य बन्धनं बन्धः संकोचस्तं  
विवर्जयेद्विशेषेण वर्जयेत् । कुतः यतो दंतानां राजानो राजदन्ता राजदन्तेषु तिष्ठतीति  
राजदन्तस्था राजदन्तस्था चासौ जिह्वा च तस्यां राजदन्तस्थजिह्वायां बंधस्तदुपरि-  
भागस्य सस्वबन्धः शस्तः । कंठाकुञ्चनापेक्षया प्रशस्तो भवेदिति हेतोः ॥ २२ ॥

भाषार्थ—अब जालंधरबंधमें कंठके संकोचका अनुपयोग वर्णन करते हैं कि, किन्हीं २ आ-  
चार्योंका यह मत है कि, इस जालंधरबंधमें कंठका जो बंधन (संकोच) उसको विशेषकर  
वर्जदे क्योंकि राजदंतों (दाढ़) के ऊपर स्थित जो जिह्वा उसका बंधही जालंधर बंधमें  
प्रशस्त होताहै अर्थात् कंठ संकोचकी अपेक्षा वह उत्तम होताहै ॥ २२ ॥

**अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्व गतिनिरोधकः ॥**

**अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥ २३ ॥**

अयं त्विति ॥ अयं तु राजदंतस्थजिह्वायां बंधस्तु सर्वाश्च ता नाड्यश्च सर्वनाड्यो  
द्वासप्ततिसहस्रसंख्याकास्तासां सुषुम्नातिरिक्तानामूर्ध्वमुपरिवायोर्गतिरूर्ध्वं गतिस्तस्या  
निरोधकः प्रतिबंधकः । एतेन 'बध्नाति हि शिराजालम्' इति जालंधरोक्तं फलमनेनैव  
सिद्धमिति सूचितम् । महाबंधस्य फलमाह—अयं खल्विति ॥ अयमुक्तः खलु प्रासिद्धः  
महासिद्धीः प्रकर्षेण ददातीति तथा ॥ २३ ॥

भाषार्थ—यह राजदंतोंमें स्थित जिह्वाका बंध, वहतर सहस्र ७२००० सुषुम्नासे भिन्न  
नाडियोंकी जो ऊर्ध्वगति अर्थात् नाडियोंमें जो प्राणवायुका ऊर्ध्वगमन उसका प्रतिबंधक है  
इससे यह सूचित किया कि, नाडियोंके जालको जो बंधन करे उसे जालंधरबंध कहते हैं  
यह जालंधर बंधका फल इससेही सिद्ध है । अब महाबंधके फलको कहते हैं कि यह महाबंध  
निश्चयसे महासिद्धियोंको भली प्रकार देताहै ॥ २३ ॥

**कालपाशमहाबंधविमोचनविचक्षणः ॥**

**त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ २४ ॥**

कालेति ॥ कालस्य मृत्योः पाशो वायुरा तेन यो महाबंधो बन्धनं तस्य विशेषेण  
मोचने मोक्षणे विचक्षणः प्रवीणः । तिसृणां नदीनां वेणीसमुदायः स एव संगमः  
प्रयागस्तं धत्ते विधत्ते । केदारं भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं केदारशब्दश्च तं मनः स्वांतं  
प्रापयेत् । 'गतिबुद्धि' इत्यादिना अणौ कर्तुर्मनसोऽणौ कर्मत्वम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ—और मृत्युके पाशका जो महाबंधन उसके हटानेमें विशेषकर प्रवीण है और तीन  
नदियोंका संगम जो प्रयाग है उसको करताहै और मनको भ्रुकुटियोंके मध्यमें जो शिवजीका  
स्थानरूप केदार है उसमें प्राप्त करताहै अर्थात् पहुँचता है ॥ २४ ॥

**रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ॥**

**महामुद्रामहाबंधौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ २५ ॥**

महावेधं वक्तुमादौ तस्योत्कर्षं तावदाह—रूपेति ॥ रूपं सौंदर्यं चक्षुःप्रियो गुणो लावण्यं कांतिविशेषः । तदुक्तम् ‘मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरम् । प्रतिभाति यदंगेषु तल्लावण्यमिहोच्यते’ इति । ताभ्यां संपन्ना विशिष्टा स्त्री युवती, पुरुषं भर्तारं विना यथा यादृशी निष्फला तथा महामुद्रा च महाबंधश्च तौ महावेधेन । ‘विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वक्तव्यः’ इति भाष्यकारोक्तेर्महच्छब्दस्य लोपः । वर्जितौ रहितौ निष्फलौ व्यर्थवित्यर्थः ॥ २५ ॥

भाषार्थ—अब महावेधके कहनेके लिये प्रथम उसकी उत्तमताको कहते हैं कि, रूप ( सुंदरता ) और इस वचनमें कहे हुए लावण्यको मोतियोंमें छाया ( प्रतिबिंबकी ) तरलताके समान स्त्रीके अंगोंमें अंतर जो प्रतीत होताहै वह यहां लावण्य कहाता है, इन दोनों पूर्वोक्त रूप और लावण्यसे युक्त स्त्री, पुरुषके विना निष्फल है, तिसी प्रकार महामुद्रा और बंध ये दोनों भी महावेधके विना निष्फल हैं, इस श्लोकमें वेधपदसे महावेध लेते हैं, क्योंकि इस भाष्यकारके वचनसे प्रत्ययके विनामी पूर्व और उत्तरपदका लोप कहना । महच्छब्दका लोप होताहै ॥ २५ ॥

**अथ महावेधः ।**

**महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥**

**वायूनां गतिम कृत्य निभृतं कंठमुद्रया ॥ २६ ॥**

महावेधमाह—महावेधेति ॥ महाबंधे महाबंधमुद्रायां स्थितो महाबंधस्थितः । एका एकाग्रा धीर्धस्य स एकाग्रशौर्योगी योगाभ्यासी पूरकं नासापुटाभ्यां वायोर्ग्रहणं कृत्वा कंठे मुद्रा कंठमुद्रा तथा जालंधरमुद्रया वायूनां प्राणादीनां गतिमुद्धर्धोगमनादिरूपां निभृतं निश्चलं यथा भवति तथावृत्त्य निरुध्य कुंभकं कृत्वेत्यर्थः ॥ २६ ॥

भाषार्थ—अब महावेधका वर्णन करते हैं कि, महाबंधमुद्रामें स्थित अर्थात् करता हुआ योगी एकाग्रबुद्धिसे पूरक प्राणायामको करके अर्थात् योगमार्गसे नासिकाके पुटोंसे वायुका ग्रहण करके कंठमुद्रा ( जालंधर मुद्रा ) से प्राण आदि वायुओंको जो ऊर्ध्व अधोगतिरूप गमन है उसको निश्चल रीतिसे रोककर अर्थात् कुंभकप्राणायामको करके ॥ २६ ॥

**समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ॥**

**पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २७ ॥**

समहस्तेति ॥ भूमौ भुवि हस्तयोर्युगं हस्तयुगं समं हस्तयुगं यस्य स समहस्तयुगः भूमिसंलग्नतलौ सरलौ हस्तौ यस्य तादृशः सन्नित्यर्थः । स्फिचौ कटिप्रोथौ । ‘क्षिपां स्फिचौ कटिप्रोथौ’ इत्यमरः । भूमिसंलग्नतलयोर्हस्तयोरवलंबनेन योनिस्थानसंलग्नपा-  
णिना वामपादेन सह भूमेः किंचिदुत्थापितौ शनैर्मदं संताडयेत्सम्यक् ताडयेत् ।

भूमावेव पुटयोर्द्वयमिडापिंगलयोर्युग्ममतिक्रम्योलंध्य मध्ये सुषुम्नामध्ये गच्छतीति मध्यगो वायुः स्फुरति ॥ २७ ॥

भाषार्थ—भूमिपर लगाहै तल जिनका ऐसे सरल हाथोंको अपने जो स्फिच ( चूतड ) हैं उनको भूमिपर लगेहुए हाथोंके आश्रय और योनिस्थानमें लगीहुई पाष्णि जिसकी ऐसे वाम-पादसहित पूर्वोक्त स्फिचोंको भूमिसे ऊपर किंचित् उठाकर शनैः २ भली प्रकार ताडै, इस प्रकार करनेसे इडा और पिंगलारूप दोनों नाडियोंका उल्लंघन ( छोड ) करके सुषुम्नाके मध्यमें वायु चलने लगताहै अर्थात् सुषुम्नामें प्राणवायुकी गति होजाती है ॥ २७ ॥

**सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै ॥**

**मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ २८ ॥**

सोमेति ॥ सोमश्च सूर्यश्चाग्निश्च सोमसूर्याग्नयः सोमसूर्याग्निशब्दैस्तदधिष्ठिता नाड्य इडापिंगलासुषुम्ना ग्राह्यास्तेषां संबंधः । तद्वायुसंबंधात्तेषां संबंधः अमृताय मोक्षाय जायते । वै इति निश्चयेऽन्ययम् । मृतस्य प्राणावियुक्तस्यावस्था मृतावस्था समुत्पन्ना भवति । इडापिंगलयोः प्राणसंचाराभावात् । ततस्तदनंतरं वायुं विरेचयेन्नासिकापुटाभ्यां शनैस्त्यजेत् ॥ २८ ॥

भाषार्थ—फिर चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि अर्थात् ये तीनों देवता हैं क्रमसे अधिष्ठाता जिनके ऐसी इडा पिंगला सुषुम्ना नाडियोंका संबंध मोक्षका हेतु निश्चयसे होजाताहै अर्थात् तीनों नाडियोंका वायु एक हो जाताहै तब इडा और पिंगलके मध्यमें प्राणसंचारके अभावसे मरण अवस्था उत्पन्न होजाती है, क्योंकि, इडा पिंगलमें जो प्राणोंका संचार उसका नामही जीवन है, फिर मरण अवस्थाकी उत्पत्तिके अनंतर वायुको विरेचन करदे अर्थात् नासिकाके पुटोंमेंसे शनैः २ त्यागदे ॥ २८ ॥

**महावेधोऽभ्यासात्महासिद्धिप्रदायकः ॥**

**बलीपलितवेपथुः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९ ॥**

महावेध इति ॥ अयं महावेधोऽभ्यासात्पुनःपुनरावर्तनात्महासिद्धयोऽणिमाद्यास्तासां प्रदायकः प्रकर्षेण समर्धकः । बली जरया चर्मसंकोचः पलितं जरसा केशेषु शौक्ल्यं वेपः कंपस्तान् हंतीति बलीपलितवेपथुः । अत एव साधकेष्वभ्यासिषूत्तमाः साधकोत्तमास्तैः सेव्यतेऽभ्यस्यत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

भाषार्थ—यह महावेध अभ्यास करनेसे अणिमा आदि महासिद्धियोंको भलीप्रकार देताहै और बली अर्थात् वृद्ध अवस्थासे चर्मका संकोच और पलित अर्थात् वृद्धतासे केशोंकी शुक्लता और देहका कंपना इनको नष्टकरता है इसीसे साधकों ( अभ्यासी ) में जो उत्तम है वे इस महावेधका अभ्यासरूप सेवन करते हैं ॥ २९ ॥

**एतत्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ॥**

**वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ३० ॥**

महामुद्रादीनां तिसृणामतिगोप्यत्वमाह-एतादिति ॥ एतत्त्रयं महामुद्रादित्रयं महा-  
गुह्यमतिरहस्यम् । अत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि हि यस्माज्जरा वार्धकं मृत्युश्चरमः  
प्राणदेहवियोगः तयोर्विशेषेण नाशनं वह्नेर्जोठरस्य वृद्धिर्दीप्तिस्तस्याः करं कर्त अणिमा  
आदिर्येषां तेषांमादयस्ते च ते गुणाश्च तान् प्रकर्षेण ददातीत्यणिमादिगुणप्रदम् ।  
चकार आरोग्यविंदुजयादिसमुच्चयार्थः । एवञ्चोऽवधारणार्थः ॥ ३० ॥

भाषार्थ-अब महामुद्रा आदि पूर्वोक्त तीनोंको अत्यंत गुप्त करने योग्य वर्णन करते हैं कि,  
ये तीनों मुद्रा अत्यंत गुप्त योग्य करने योग्य हैं और जरा और मृत्युको विशेषकर नष्ट करती  
हैं और जठराग्निको बढ़ाती है और अणिमा आदि सिद्धियोंको देती है अर्थात् अणिमा आदि  
गुणोंको भलीप्रकार उत्पन्न करती है और चकारके पढ़नेसे आरोग्य और विंदुका जय सम-  
झना और इस श्लोकमें एव पद निश्चयका बोधक है ॥ ३० ॥

**अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ॥**

**पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ॥**

**सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ३१ ॥**

अथैतत्रयस्य पृथक्साधनविशेषमाह-अष्टधेति ॥ दिनेदिने प्रतिदिनम् । यामे  
यामे प्रहरे प्रहरे पौनःपुन्ये द्विर्वचनम् । अष्टभिः प्रकारैरष्टधा क्रियते । चञ्चोऽवधारणे ।  
एतत्त्रयमित्यत्रापि संबध्यते । कीदृशं पुण्यस्य संभारः समूहस्तस्य संधायि पुनः  
कीदृशं पापानामोघः पूरः समूह इति यावत् । तस्य भिदुरं कुलिशमिव नाशनं सदा  
सर्वदा यदाभ्यस्तं तदैव पापनाशनम् ॥ सम्यक् सांप्रदायिकी शिक्षा गुरूपदेशो विद्य-  
ते येषां ते तथा । एवं दिने दिने यामे यामेऽष्टधेत्युक्तरात्या पूर्वसाधनं स्वल्पस्वल्पमेव  
कार्यम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ-अब इन तीनोंके पृथक् २ साधन विशेषको कहते हैं कि, प्रहर २ में और दिन २  
में वारंवार आठ प्रकारसे ये तीनों मुद्रा की जाती हैं। यहां भी एव शब्द निश्चयका वाची है  
और ये तीनों मुद्रा पुण्यके समूहको करती हैं और पापोंका जो समूह है उसको छेदन सदैव  
करती हैं और भलीप्रकार गुरुकी है शिक्षा जिनको ऐसे पुरुषोंको पूर्वोक्त आठ प्रकारका जो  
प्रहर २ और दिन २ में साधन है वह अल्प २ ( थोड़ा २ ) ही करना योग्य है अधिक २  
नहीं ॥ ३१ ॥

**अथ खेचरी ।**

**कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥**

**भुवोरंतर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३२ ॥**

खेचरीं विवक्षुरादौ तत्स्वरूपमाह-कपालेति ॥ कपाले मूर्ध्नि कुहरं सुषिरं तस्मिन्  
कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्मुखीभूता जिह्वा रसना स्यात् ।

भुवोरंतर्गता भुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिदर्शनं स्यात् । सा खेचरी मुद्रा भवति । कपालकुहरे जिह्वाप्रवेशपूर्वकं भुवोरंतर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धम् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—अब खेचरीमुद्राके कथनका अभिलाषी आचार्य प्रथम खेचरीके स्वरूपका वर्णन करते हैं कि, कपालके मध्यमें जो छिद्र है उसमें विपरीत ( उलटी ) हुई जिह्वा तो प्रविष्ट हो जाय और भ्रुकुटियोंके मध्यमें दृष्टिका प्रवेश होजाय तो वह खेचरीमुद्रा होती है अर्थात् कपालके छिद्रमें जिह्वाके प्रवेश पूर्वक जो भ्रुकुटियोंके मध्यका दर्शन उसे खेचरीमुद्रा कहते हैं ॥ ३२ ॥

**छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ॥**

**सा यावद्भूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ ३३ ॥**

खेचरीसिद्धेलक्षणमाह—छेदनेति ॥ छेदनम् अनुपदमेव वक्ष्यमाणम् । चालनं हस्तयोरेगुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा सव्यापसव्यतः परिवर्तनं, दोहः करयोरेगुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत्तदोहनं तैः कलां जिह्वां तावद्बर्धयेद्दीर्घां कुर्यात् । तावत् कियत् । यावत्सा कला भूमध्यं बहिर्भुवोर्मध्यं स्पृशति यदा तदा खेचर्याः सिद्धिः खेचरीसिद्धिर्भवति ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—अब खेचरीमुद्राकी सिद्धिके लक्षणका वर्णन करते हैं कि, छेदन जिसका आगे शीघ्रही वर्णन करेंगे और चालन अर्थात् हाथके अँगूठे और तर्जनीसे जिह्वाको पकड़कर वाम और दक्षिणरूपसे परिवर्तन ( हलाना ) और पूर्वोक्त अँगूठे और तर्जनीसे गोदोहनके समान जिह्वाका दोहन इन तीनोंसे कला ( जिह्वा ) को तबतक बढावै जबतक वह कला भ्रुकुटियोंके मध्यका स्पर्श करे फिर स्पर्श होनेपर खेचरी मुद्राकी सिद्धिको जानै ॥ ३३ ॥

**स्तुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ॥**

**समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३४ ॥**

तत्साधनमाह—स्तुहीति ॥ स्तुही गुडा तस्याः पत्रं दलं स्तुहीपत्रेण सदृशं स्तुहीपत्रनिभं सुतीक्ष्णमतितीक्ष्णं स्निग्धं च तन्निर्मलं च स्निग्धनिर्मलं शस्त्रं छेदनसाधनं समाश्रय सम्यगादाय गृहीत्वा ततः शस्त्रग्रहणानंतरं तेन शस्त्रेण रोमप्रमाणं रोममात्रं समुच्छिनेत्सम्यगुच्छिनेच्छिद्यत् । रसनामूलशिरामिति कर्माध्याहारः । ‘ मिश्रे-याप्यथ सीहुंडो वज्रस्तुक् स्त्री स्तुही गुडा ’ इत्यमरः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—अब खेचरीकी सिद्धिके साधनोंका वर्णन करते हैं कि, स्तुही ( सेहुंड ) के पत्तेके समान जो अत्यंत तीक्ष्ण शस्त्र है चिकने और निर्मल उस शस्त्रको ग्रहण करके उससे जिह्वाके मूलकी नाडीको रोममात्र छेदन करदे ॥ ३४ ॥

**ततः सैधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ॥**

**पुनः सप्तादिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥**

तत इति ॥ ततश्छेदनानंतरं चूर्णिताभ्यां चूर्णीकृताभ्यां सैधवं सिंधुदेशोद्भवं लवणं पथ्यं हरीतकी ताभ्यां घर्षयेत्प्रकषणं घर्षयोच्छिन्नं शिराम्रदेशम् । सप्तादिनपर्यंतं छेदनं सैधवपथ्याभ्यां घर्षणं च सायंप्रातर्विधेयम् । योगाभ्यासिनो लवणनिषेधा-  
त्खादिरपथ्याचूर्णं गृह्णाति मूले सैधवोक्तिस्तु हठाभ्यासात्पूर्वं खेचरीसाधनाभिप्रायेण ।  
सप्तानां दिनानां समाहारः सप्तादिनं तस्मिन् प्राप्ते गते सति अष्टमे दिन इत्यर्थात् ।  
ये प्राप्त्यर्थास्ते गत्यर्थाः । पूर्वच्छेदनापेक्षयाधिकं रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—और छेदनके अनंतर चूर्ण किये ( पीसे ) हुये सैधव ( लवण ) और हरडेसे जिह्वाके मूलको भलीप्रकार घिसे सात दिनतक प्रतिदिन छेदन और घिसनेको पूर्वोक्तप्रकारसे प्रातःकाल और सायंकालको करै और योगके अभ्यासीको लवणका निषेध है इससे यहां खादिर ( कत्था ) और पथ्याका चूर्ण लेना योगियोंको कहाहै और मूलग्रंथमें तो सैधवका कथन हठयोगके अभ्याससे पूर्व खेचरीकी सिद्धिके अभिप्रायसे है फिर सात दिनके वीतनेपर आठवें दिन रोममात्रका छेदन करै अर्थात् प्रथमछेदनसे अधिक रोममात्रका छेदन करै ॥ ३५ ॥

**एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ॥**

**षण्मासाद्रसनामूलशिराबंधः प्रणश्यति ॥ ३६ ॥**

एवमिति ॥ एवं क्रमेण पूर्वं रोममात्रच्छेदनं सप्तादिनपर्यंतं तावदेव सायंप्रातश्छेदनं घर्षणं च । अष्टमे दिनेऽधिकं छेदनामित्युक्तक्रमेण षण्मासं षण्मासपर्यंतं नित्यं युक्तः सन् समाचरेत्सम्यगाचरेत् । छेदनघर्षणे इति कर्माध्याहारः । षण्मासादनंतरं रसना जिह्वा तस्या मूलमधोभागो रसनामूलं तत्र या शिरा कपालकुहररसनासंयोगे प्रतिबांधिकाभूता नाडी तस्या बंधो बंधनं प्रणश्यति प्रकर्षेण नश्यति ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार क्रमसे प्रथम रोममात्रका छेदन और उसकाही सातदिनपर्यंत सायंकाल प्रातःकालके समय घर्षणको प्रतिदिन युक्तहुआ छः मासपर्यंत करै और आठवेंदिन पूर्व किये छेदनसे अधिक रोममात्रका छेदन करके पूर्वोक्त घर्षणको करता रहै इस रीतिसे छः मासके अनंतर जिह्वाके मूलभागमें जो शिराबंध है अर्थात् जिससे जिह्वा कपाल छिद्रमें नहीं पहुँच सकती वह बंधन है वह भलीप्रकार नष्ट होजाता है ॥ ३६ ॥

**कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ॥**

**सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३७ ॥**

छेदनादिना जिह्वावृद्धौ यत्कर्तव्यं तदाह—कलामिति ॥ कलां जिह्वां पराङ्मुख-  
मास्यं यस्याः सा तथा तां पराङ्मुखीं प्रत्यङ्मुखीं कृत्वा तिसृणां नाडीनां पथाः  
त्रिपथस्तस्मिन्निपथे कपालकुहरे परियोजयेत्संयोजयेत् । सा त्रिपथे परियोजनरूपा  
खेचरी मुद्रा तद्व्योमचक्रमित्युच्यते व्योमचक्रशब्देनोच्यते ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—अब छेदन आदिसे जिह्वाको वृद्धि होनेपर करने योग्य कर्मको कहते हैं कि, जिह्वाको पराङ्मुख करके अर्थात् पश्चिमको लौटाकर तीनों नाडियोंका मार्ग जो कपालका छिद्र है उसमें संयुक्त करदे वही खेचरी मुद्रा होतीहै और उसको ही व्योमचक्र कहते हैं ॥ ३७ ॥

**रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ॥**

**विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३८ ॥**

अथ खेचरीगुणाः ॥ रसनामिति ॥ ऊर्ध्वं तालूपारं विवरं गच्छतीति तां तादृशीं रसनां जिह्वां कृत्वा क्षणार्धं क्षणस्य मूर्ध्वस्य अर्धं क्षणार्धं घटिकामात्रमपि खेचरी मुद्रा तिष्ठति चेत्तर्हि योगी विषैः सर्पवृश्चिकादिविषैर्विमुच्यते विशेषेण मुच्यते । व्याधिर्यातुवैषम्यं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगो जरा वृद्धावस्था ता आदयो येषां वाल्यादीनां तैश्च विमुच्यते । ‘उत्सवे च प्रकोष्ठे च मुहूर्ते नियमे तथा । क्षणशब्दो व्यवस्थायां समयेऽपि निगद्यते’ इति नानार्थः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—अब खेचरीके गुणोंका वर्णन करते हैं कि; जिह्वाको तालुके ऊपरले छिद्रमें करके जो योगी क्षणार्धभी टिकता है अर्थात् एक घटिकामात्र भी स्थित रहताहै ( यहां क्षण पदसे इस वचनके अनुसार मुहूर्तका ग्रहण है ) वह योगी धातुओंकी विषमतारूप व्याधि और मृत्यु अर्थात् प्राण और देहका वियोग और वृद्ध अवस्था आदिकोंसे और सर्प विच्छू आदिके विषोंसे विशेषकर हूट जाताहै ॥ ३८ ॥

**न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥**

**न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ३९ ॥**

न रोग इति ॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति तस्य रोगो न मरणं न तंद्रा तामसांतःकरणवृत्तिविशेषः न निद्रा न क्षुधा न तृषा पिपासा न मूर्च्छा चित्तस्य तमसाभिभूतावस्थाविशेषश्च न भवेत् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—जो योगी खेचरीमुद्राको जानता है उसको रोग, मरण और अंतःकरणकी तमोगुणी वृत्तिरूप तंद्रा और निद्रा क्षुधा तृषा और चित्तकी तमोगुणीअवस्थारूप मूर्च्छा ये सब नहीं होते हैं ॥ ३९ ॥

**पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥**

**बाध्यते न सकालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ४० ॥**

पीड्यते इति ॥ यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति स रोगेण ज्वरादिना न पीड्यते ॥ ४० ॥

भाषार्थ—जो खेचरीको जानता है वह रोगसे पीडित नहीं होताहै और न कर्मसे लिप्त होताहै और न कालसे बांधा जाताहै ॥ ४० ॥

**चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ॥**

**तैनेषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१ ॥**

चित्तामिति ॥ यस्माद्धेतोश्चित्तमंतःकरणं खे भ्रुवोरंतरवकाशे चरति जिह्वां खे तत्रैव गता सती चरति । तेन हेतुना एषा कायिता मुद्रा खेचरी नाम खेचरीति प्रसिद्धा । नामेति प्रसिद्धावव्ययम् । सिद्धैः कपिलादिभिर्निरूपिता । खे भ्रुवोरंतरव्योम्नि चरति गच्छति चित्तं जिह्वा च यस्यां सा खेचरीत्यव्ययवशः सा व्युत्पादिता । उक्तेषु त्रिषु श्लोकेषु व्याध्यादीनां पुनरुक्तिस्तु तेषां श्लोकानां संगृहीतत्वान्न दोषाय ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—जिससे चित्त ( अंतःकरण ) भ्रुकुटियोंके मध्यरूप आकाशमें विचरता है और जिह्वाभी भ्रुकुटियोंके मध्यमेंही जाकर विचरती है तिसीसे सिद्धों ( कपिल आदि ) की निरूपण कीहुई यह मुद्रा खेचरी इस नामसे प्रसिद्ध है भ्रुकुटियोंके मध्यरूप आकाशमें जिस मुद्राके करनेसे जिह्वा विचरै उसे खेचरी कहते हैं इस व्युत्पत्तिसे सिद्धोंने यह अन्वर्थमुद्रा वर्णन की है, इन पूर्वोक्त तीनों श्लोकोंमें व्याधिआदिकी जो पुनरुक्ति है वह इसलिये दूषित नहीं है कि, ये तीनों श्लोक संगृहीत ( किसीके रचेहुए ) हैं अर्थात् मूलके नहीं हैं ॥ ४१ ॥

**खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः ॥**

**न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याः श्लेषितस्य च ॥ ४२ ॥**

खेचर्येति ॥ येन योगिना खेचर्या मुद्रया लंबिकाया ऊर्ध्वमिति लंबिकोर्ध्वतः । सावैवेभक्तिकस्तोसः । लंबिका तालु तस्या ऊर्ध्वत उपरिभागे स्थितं विवरं छिद्रं मुद्रितं पिहितम् । कामिन्या युवत्याः श्लेषितस्यालिंगितस्यापि । च शब्दोऽप्यर्थे । तस्य बिन्दुर्वीर्यं न क्षरते न स्खलति ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—जिस योगीने खेचरीमुद्रासे लंबिका ( तालु ) के उपरका छिद्र ढकलिया है कामिनीके स्पर्श करनेपरभी उस योगीका बिन्दु ( वीर्य ) क्षरित ( पडता ) नहीं होता अर्थात् अपने मस्तकरूप स्थानसे नहीं गिरता है ॥ ४२ ॥

**चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमंडलम् ॥**

**व्रजत्यूध्व हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥ ४३ ॥**

चलित इति ॥ चलितोऽपि स्खलितोऽपि बिन्दुर्यदा यस्मिन् काले योनिमंडलं योनिस्थानं संप्राप्तः संगतस्तदैव योनिमुद्रया मेढ्राकुंचनरूपया । एतेन वज्रोलीमुद्रा सूचिता । निबद्धो नितरां बद्धः शक्त्याकर्षणशक्त्याहृतः प्रकृष्टं ऊर्ध्वं व्रजति । सुषुम्नामार्गेण बिन्दुस्थानं गच्छति ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—और चलायमान हुआभी बिन्दु जिस समय योनिके मंडलमें प्राप्त होजाताहै तौभी लिंगके संकोचनरूप योनिमुद्रासे अर्थात् वज्रोलीसे निरंतर बँधाहुआ बिन्दु आकर्षणशक्तिसे खिंचा हुआ सुषुम्ना नाडीके मार्गसे ऊर्ध्व ( बिन्दुके स्थानमें ) को चलाजाता है ॥ ४३ ॥

**ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ॥**

**मासाधेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥**

ऊर्ध्वजिह्व इति ॥ ऊर्ध्वलंबिकोर्ध्वविवरोन्मुखा जिह्वा यस्य स ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो निश्चलो भूत्वा । सोमस्य लंबिकोर्ध्वविवरगलितचंद्रामृतस्य पानं सोमपानं यः पुमान् करोति । योगं वेत्तीति योगवित् स मासस्यार्धं मासार्धं तेन मासार्धेन पक्षेण मृत्युं मरणं जयति अभिभवति । न संदेहः । निश्चितमेतदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—तालुके ऊपरके छिद्रके उन्मुख है जिह्वा जिसकी ऐसा जो योगी वह सोमपान करता है अर्थात् ऊर्ध्व छिद्रमेंसे गिरतेहुए चंद्रामृतको पीता है योगका ज्ञाता वह एकही मासार्द्धमें अर्थात् पक्षभरसे मृत्युको जीतता है इसमें संदेह नहीं है अर्थात् यह निश्चित है ॥ ४४ ॥

**नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ॥**

**तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५ ॥**

नित्यमिति ॥ यस्य योगिनः शरीरं नित्यं प्रतिदिनं सोमकलापूर्णं चंद्रकलामृतपूर्णं तस्य तक्षकेण सर्पविशेषेणापि दष्टस्य दक्षितस्य योगिनः शरीरे विषं गरलं तज्जन्यं दुःखं न सर्पति न प्रसरति ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—जिस योगीका शरीर नित्य ( सदैव ) चंद्रकलारूप अमृतसे पूर्ण रहता है तक्षक सर्पसे डसेहुयेभी उसके शरीरमें विष नहीं फैलता अर्थात् सर्पका विष नहीं चढता ॥ ४५ ॥

**इंधनानि यथा वह्निस्तैलवर्ति च दीपकः ॥**

**तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ॥ ४६ ॥**

इंधनानीति ॥ यथा वह्निः इंधनानि काष्ठादीनि न मुंचति दीपको दीपः तैलवर्ति च तैलयुक्तां वर्ति न मुंचति । तथा सोमकलापूर्णं चन्द्रकलामृतपूर्णं देहं शरीरं देही जीवो न मुंचति न त्यजति ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—जैसे अग्नि काष्ठ आदि इंधनोंको और दीपक तैल और वत्तीको नहीं त्यागकरते हैं अर्थात् उनके बिना नहीं रहते हैं तेसीही देही ( जीवात्मा ) सोमकलासे पूर्ण देहको नहीं त्यागता है अर्थात् सोमकलासे पूर्ण देह सदैव बना रहता है ॥ ४६ ॥

**गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥**

**कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥**

गोमांसमिति ॥ गोमांसं पारिभाषिकं वक्ष्यमाणं यो भक्षयेन्नित्यं प्रतिदिनममरवारुणीमपि वक्ष्यमाणां पिबेत्तं योगिनम् । अहमिति ग्रंथकारोक्तिः । कुले जातः कुलीनः तं सत्कुलोत्पन्नं मन्ये । तदुक्तं ब्रह्मवैवर्ते—‘कृतार्थो पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् । जायते योगवान्यत्र दत्तमक्षयतां व्रजेत् ॥ दृष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान् । भवकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम् ॥’ ब्रह्मांडपुराणे । ‘गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च । ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ॥’

राजयोगे वामदेवं प्रति शिववाक्यम्—‘राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः । तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पुण्यभाजनम् । दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः ॥ अज्ञा मुक्तिपदं यांति किं पुनस्तत्परायणाः ॥ अंत्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः । त्वया मयाप्यसौ वंद्यः शेषैर्वैद्यस्तु किं पुनः ॥’ इति । कूर्मपुराणे—‘एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा । ये युजंते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः ॥’ इति । इतरे वक्ष्यमाणगोमांसभक्षणामरवारुणीपानरहिता, अयोगिनस्ते कुलघातकाः कुलनाशकाः सत्कुले जातस्य जन्मनो वैयर्थ्यात् ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—जो योगी प्रतिदिन गोमांस ( जो आगे कहेंगे ) को भक्षण करता है और प्रतिदिन अमरवारुणी ( जो आगे कहेंगे ) को पीता है उसकोही हम श्रेष्ठकुलमें उत्पन्न मानते हैं अन्य सब मनुष्य कुलघातक ( नाशक ) हैं क्योंकि श्रेष्ठकुलमें उनका जन्म निरर्थक है, सोई ब्रह्मवैवर्तमें कहा है कि, योगीके माता पिता कृतार्थ हैं और उसके देश और कुलको धन्य है जहां योगवान् पैदा होता है और योगीको दिया दान अक्षय होता है पुरुष और प्रकृतिका विवेकी योगीजन दर्शन, भाषण स्पर्श करनेसे मनुष्योंके कोटियों जन्मोंके पापोंसे पवित्र करते हैं ब्रह्मांडपुराणमें लिखा है कि, सहस्र गृहस्थी और सौ वानप्रस्थ और सहस्र ब्रह्मचारियोंसे योगाभ्यासी अधिक होता है और राजयोगके विषयमें वामदेवके प्रति शिवजीका वाक्य है कि, राजयोगके यथार्थ माहात्म्यको कौन जान सकता है ? राजयोगका ज्ञानी जहां वसता है वह देश पुण्यात्मा है इसके दर्शन और पूजनसे इक्कीस कुल सहित मूर्ख भी मुक्तिके पदको प्राप्त होते हैं योगमें तत्पर तो क्यों न होंगे जो अंत्योग और बहिर्योगको विशेषकर जानता है वह मुझे और तुझेभी नमस्कार करने योग्य है और शेषमनुष्योंको वंदना करने योग्य तो क्यों न होगा । कूर्मपुराणमें लिखा है कि, एकसमय वा द्विकालमें वा त्रिकालमें वा नित्य जो महायोगका अभ्यास करते हैं वे महेश्वर ( शिव ) जानने । इन वचनोंसे योग सर्वोत्तम है ४७॥

**गाशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ॥**

**गोमांसभक्षणं तच्च महापातकनाशनम् ॥ ४८ ॥**

गोमांसशब्दार्थमाह—गोशब्देनेति ॥ गोशब्देन गोइत्याकारकेण शब्देन गोपदेनेत्यर्थः । जिह्वा रसनोदिता कथिता तालुनीति सामीपिकाधारे सप्तमी । तालुसमीपोर्ध्वविरे तस्या जिह्वायाः प्रवेशो गोमांसभक्षणं गोमांसभक्षणशब्दवाच्यं तच्च तादृशं गोमांसभक्षणं तु महापातकानां स्वर्णस्तेयादीनां नाशनम् ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—अब गोमांस शब्दके अर्थको कहते हैं कि, गोपदसे जिह्वा कही जाती है और तालुके समीप जो ऊर्ध्वच्छिद्र उसमें जो जिह्वाका प्रवेश उसको गोमांसभक्षण कहते हैं—वह गोमांसभक्षण महापातकोंका नाश करनेवाला है ॥ ४८ ॥

**जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ॥**

**चंद्रात्प्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥**

अमरवारुणीशब्दार्थमाह—जिह्वेति ॥ जिह्वायाः प्रवेशो लंबिकोर्ध्वविवरे प्रवेशनं तस्मात्संभूतो यो वह्निरूष्मा तेनोत्पादितो निष्पादितः । अत्र वह्निशब्देनौष्ण्यमुपलभ्यते । यः सारः चंद्राद्भुवोरंतर्वामभागस्थात्सोमास्त्ववति गच्छति सा अमरवारुणी स्यादमरवारुणीपदवाच्या भवेत् ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—अब अमरवारुणी शब्दके अर्थको कहते हैं कि, तालुके ऊर्ध्व छिद्रमें जिह्वाके प्रवेशसे उत्पन्न हुई जो वह्नि ( उष्मा ) उससे उत्पन्न हुआ जो सार चंद्रमासे झरता है अर्थात् झुकुटियोंके मध्यमें वामभागमें स्थित चंद्रमासे बिंदुरूप सार गिरताहै उसको अमरवारुणी कहते हैं ॥ ४९ ॥

**चुम्बन्ती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पंदिनी**

**सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ॥**

**व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं**

**तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ॥ ५० ॥**

चुम्बन्तीति ॥ यदि लंबिकाग्रं लंबिकोर्ध्वविवरं चुम्बन्ती स्पृशन्ती । अनिशं निरंतरम् । अत एव रसस्य सोमकलामृतस्य स्पंदः स्पंदनं प्रसवणमस्यामस्तीति रसस्पंदिनी यस्य जिह्वा । क्षारेण लवणरसेन सहिता सक्षारा कटुकं मरिचादि आम्लं चिंचाफलादि दुग्धं पयस्तैः सदृशी समाना । मधु क्षौद्रमाज्यं घृतं ताभ्यां तुल्या समा तथाशब्दः समुच्चये । एतैर्विशेषणै रसस्यानेकरसत्वान्मधुरत्वात्स्निग्धत्वाच्च जिह्वाया अपि रसस्पंदने तथात्वमुक्तम् । तर्हि तस्य व्याधीनां रोगाणां हरणमपगमो जराया वृद्धावस्थाया अंतकरणं नाशनं शस्त्राणामायुधानामागमः स्वाभिमुखवागमनं तस्योदीरणं निवारणम् । अष्टौ गुणाः अणिमादयस्ते अस्य संजाता इत्यष्टगुणितममरत्वममरभावः । सिद्धानामंगनाः सिद्धांगनाः सिद्धाश्च ता अंगनाश्चेति वा तासामाकर्षणमाकर्षणशक्तिः स्यात् ॥ ५० ॥

भाषार्थ—यदि रस ( सोमकलाका अमृत ) का स्पंदन ( झरना ) करनेवाली और लवणके रसके समान और मरीच आदि कटु और इमली आदि अम्ल और दूध इनके सदृश और मधु ( सहत ) और घृत इनकी तुल्य इन सब विशेषणोंसे रसमें अनेक रस और मधुरता और स्निग्धता ( चिकनाई ) कही उस रसके झरनेवाली जिह्वाकोभी वैसीही कही समझना अर्थात् पूर्वोक्तप्रकारकी जिह्वा तालुके ऊपर वर्तमानछिद्रका वारंवार चुम्बन ( स्पर्श ) करे तो उस मनुष्यकी व्याधियोंका हरण और वृद्ध अवस्थाका अंत करना और सन्मुख आये शस्त्रका निवारण और अणिमा आदि आठ सिद्धि हैं जिसमें ऐसा अमरत्व ( देवत्व ) और सिद्धोंकी अंगनाओंका वा सिद्धरूप अंगनाओंका आकर्षण ( बुलाना ) उसको ये फल होते हैं ॥ ५० ॥

**मूर्धःषोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं इष्टा-**

**दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन् ॥**

उत्कलोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-

निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥ ५१ ॥

मूर्ध्ने इति ॥ रसनां जिह्वां विवरे कपालकुहरे नियम्य संयोज्य । ऊर्ध्वमुत्तानमास्थं यस्य सः । ऊर्ध्वास्य इत्यनेन विपरीत करणी सूचिता । परां शक्तिं कुंडलिनीं चिंतयन् ध्यायन् सन् प्राणान्साधनभूतान् । षोडश पत्राणि दलानि यस्य तत् षोडशपत्रं तच्च तत्पद्मं कंठस्थाने वर्तमानं तस्मिन्गलितं हठाद्धठयोगादवाप्तं प्राप्तं विमलं निर्मलं धारामयं धारारूपमुत्कलोलमुत्तरंगं च तत्कलाजलं सोमकलारसं यः पुमान् पिबेत् धयेत्स योगी निर्गता व्याधयो ज्वरादयो यस्मात्स निर्व्याधिः सन् यद्वा निर्गता विविधा आधिर्मानसी व्यथा यस्मात्स तादृशः सन् मृणालं विसमिव कोमलं नृदु वपुः शरीरं यस्य स मृणालकोमलवपुश्च सन् चिरं दीर्घकालं जीवति प्राणान् धारयति । हठाद्धठयोगात् । प्राणात्साधनभूतादवाप्तमिति वा योजना । प्राणैरिति क्वचित्पाठः ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—जो योगी, जिह्वाको कपालके छिद्रमें लगाकर और उपरको मुख करके इससे विपरीत करणी सूचित की और परमशक्ति जो कुंडलिनी उसका ध्यान करता हुआ प्राणवायुके साधन और हठयोगसे प्राप्त और षोडश हैं पत्र जिसके ऐसे पद्ममें मस्तकसे पतित और निर्मल और धारारूप और उपरको है तरंग जिसकी ऐसे चंद्रकलाके जलको पीताहै व्याधिसे रहित और मृणाल ( बिस ) के समान कोमल है वपु ( देह ) जिसका ऐसा वह योगी चिरकालतक जीता है ॥ ५१ ॥

यत्प्रालेयं प्रहति सुषिरं मेरुमूर्ध्नांतरस्थं

तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ॥

चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां

तद्वधीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥ ५२ ॥

यत्प्रालेयमिति ॥ मेरुवत्सर्वोन्नता सुषुम्ना मेरुस्तस्य मूर्धोपरिभागस्तस्यांतरे मध्ये तिष्ठतीति मेरुमूर्ध्नांतरस्थं यत्प्रालेयं सोमकलाजलं प्रहितं निहितं यस्मिंस्तत्तथा तच्च तत्सुषिरं विवरं तस्मिन्विवरे सुधीः शोभना रजस्तमोभ्यामनभिभूतसत्त्वा धीर्बुद्धिर्यस्य सः । तत्त्वमात्मतत्त्वं प्रवदति प्रकर्षेण वदति । 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । आत्मनो विभुत्वे खेचरीमुद्रायां तत्राभिव्यक्तिस्तस्मिंस्तत्त्वमित्युक्तम् । निम्नगानां गंगायमुनासरस्वतीनर्मदादिशब्दवाच्यानाभिडापिगलासुषुम्नागांधारीप्रभृतोनां तत्तस्मिन्विवरे तत्समीपे सुखमग्रमस्ति चंद्रात्सोमाद्रपुषः शरीरस्य सारः स्रवति क्षरति तेन चंद्रसारक्षरणेन नराणां मनुष्याणां मृत्युर्मरणं भवति । अतो हेतोस्तत्पूर्वोदितं सुकरणं शोभनं करणं खेचरीमुद्राख्यं बध्नीयात् ।

सुकरणे बद्धे चंद्रसारस्वणाभावान्मृत्युर्न स्यादिति भावः । अन्यथा सुकरणबंधनाभावे कायस्य देहस्य सिद्धीरूपलावण्यबलवज्रसंहननरूपा न स्यात् ॥ ५२ ॥

भावार्थ—मेरुके समान सबसे ऊँची जो सुषुम्ना नाडी उसके मूर्द्धा ( उपरके भाग ) के मध्यमें टिकाहुआ जो प्रालेय अर्थात् सोमकलाका जल है और जिसमें वह जल स्थित है ऐसा विवर ( छिद्र ) है उस विवरमें रजोगुण तमोगुणसे नहीं हुआ है तिरस्कार जिसका ऐसी बुद्धि वाले मनुष्य आत्मतत्त्वको कहते हैं क्योंकि श्रुतिमें लिखा है कि, सुषुम्नाकी शिखाके मध्यमें परमात्मा स्थित है—क्योंकि आत्मा विमु ( व्यापक ) है और खेचरीमुद्रामें उस विवरमें आत्मा प्रगट होता है इससे इसमें तत्त्व है यह कहना ठीक है—और गंगा, यमुना, सरस्वती नर्मदा आदि शब्दोंका अर्थ जो इडा, पिंगला सुषुम्ना, गांधारी आदि नाडो हैं उनके मुखभी उसी छिद्रके समीपमें है और चंद्रमासे जो देहका सारांश झरता है उससेही मनुष्योंकी मृत्यु होती है तिससे शोभन करणरूप खेचरीमुद्राको बांधे ( करै ) क्योंकि खेचरीमुद्राके करनेसे चंद्रमाके सारके न झरनेसे मृत्यु न होगी और अन्यथा अर्थात् खेचरीमुद्राके न करनेसे देहका जो रूप लावण्य, बल वज्रके समान संहनन ( दृढता ) रूपसिद्धि न होगी । भावार्थ यह है कि, जो सोमकलाका जल सुषुम्नाके मध्यमें स्थित है वह जल जिस छिद्रमें है उस छिद्रमेंही बुद्धिमान मनुष्य परमात्माको कहते हैं और उसी छिद्रके समीप इडा पिंगला आदि नाडियोंका मुख है और चंद्रमासे जो देहका सारांश झरता है उससे मनुष्योंकी मृत्यु होती है तिससे खेचरी मुद्राको करै क्योंकि न करनेसे देहकी सिद्धि नहीं होसकती अर्थात् पुष्ट न होगा ॥ ५२ ॥

**सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतःसमन्वितम् ॥**

**तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरंजने ॥ ५३ ॥**

सुषिरमिति ॥ पंच यानि स्रोतांसीडादीनां प्रवाहास्तैः समन्वितं सम्यगनुगतम् ॥ “सप्तस्रोतःसमन्वितम्” इति क्वचित्पाठः । ज्ञानजनकमलौकिकबोधितात्मसाक्षात्कार जनकं यत्सुषिरं विवरं तस्मिन्सुषिरेऽज्ञानमविद्या तत्कार्यं शोकमोहादि च निर्गतं यस्मात्तन्निरंजनं तस्मिन्निरंजने शून्ये सुषिरावकाशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरीभवति । “प्रकाशनस्थेयारूययोश्च” इत्यात्मनेपदम् ॥ ५३ ॥

भावार्थ—इडा आदि नाडियोंके जो पांच स्रोत ( प्रवाह ) हैं उनसे युक्त जो सुषिर ( छिद्र ) है वह ज्ञानका उत्पादक है अर्थात् आत्माके प्रत्यक्षका जनक है—शोक मोह आदिसे रहित रूप निरंजन और शून्यरूप जो है उसके विषे खेचरीमुद्रा स्थिर होती है अर्थात् खेचरीमुद्राकी महिमासे उस छिद्रमें मनके प्रवेशसे आत्मज्ञान होता है ॥ ५३ ॥

**एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ॥**

**एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ॥ ५४ ॥**

एकमिति ॥ सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवारूपं बीजमेकं मुख्यम् । तदुक्तं मांडुक्योपनिषदि ‘ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्’ इति । खेचरी मुद्रा एका मुख्या । निरालंब आलं-

वनशून्य एको मुख्यो देवः । आलंबनपरित्यागेनात्मनः स्वरूपावस्थानात् । उन्मन्य-  
वस्थैका मुख्या । 'एके मुख्यान्येकेवलाः' इत्यमरः । बीजादिषु प्रणवादिवन्मुद्रासु खेचरी  
मुख्येत्यर्थः ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—सृष्टिरूप जो प्रणव ( ॐ ) नामका बीज है वह मुख्य है सोई मांडूक्य उपनिष-  
दमें कहा है कि, यह सम्पूर्ण जगत् ॐ इस अक्षररूप है—और खेचरीमुद्राभी एक ( मुख्य )  
है और निरालंब अर्थात् आलंबनशून्य देव परमात्मा भी एकही है और मनोन्मनी अवस्था  
भी एकही है । यहाँ एकशब्द इस अमरके अनुसार मुख्यका बोधक है अर्थात् बीज आदिमें  
जैसे प्रणव मुख्य है ऐसेही मुद्राओंमें खेचरीभी मुख्य है ॥ ५४ ॥

अथोड्डीयानबन्धः ।

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥

तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥ ५५ ॥

उड्डीयानबन्धं विवक्षुस्तावदुड्डीयानशब्दार्थमाह—बद्ध इति ॥ यतो यस्माद्धेतोर्येन  
बंधेन बद्धो निरुद्धः प्राणः सुषुम्नायां मध्यनाड्यामुड्डीयते सुषुम्नां विहायसा गच्छति  
तस्मात्कारणादयं बंधो योगिभिर्मत्स्येन्द्रादिभिरुड्डीयनमाख्यामिधा यस्य स उड्डीय-  
नाख्यः समुदाहृतः सम्यग्व्युत्पत्त्योदाहृतः कथितः । सुषुम्नायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः  
प्राण इत्युड्डीयनम् । उत्पूर्वात् 'डीङ्-विहायसा गतौ' इत्यस्मात्करणे ल्युट् ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—अब उड्डीयानबन्धको कहनेके अभिलाषी आचार्य प्रथम उड्डीयान शब्दके अर्थको  
कहते हैं कि, जिस बंधसे बँधाहुआ प्राण मध्य नाडीरूप सुषुम्नाके विषे उडजाय अर्थात्  
आकाशमेंसे सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाय, तिस कारणसे यह बंध मत्स्येन्द्र आदि योगियोंने उड्डीयान  
नामका कहा है अर्थात् सुषुम्नामें जिससे प्राण उडै इस व्युत्पत्तिसे इसका उड्डीयान नाम  
रक्खा है ॥ ५५ ॥

उड्डीनं कुरुते यस्माद्विश्रांतं महाखगः ॥

उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते ॥ ५६ ॥

उड्डीनमिति ॥ महाश्वासौ खगश्च महाखगः प्राणः । सर्वदा देहावकाशे गतिम-  
त्वात् । यस्माद्विधाद्विश्रांतं यथा स्यात्तथोड्डीनं विहंगमगतिं कुरुते । सुषुम्नायामि-  
त्यध्याहार्यम् । तदेव बंधविशेषमुड्डीयानमुड्डीयाननामकं स्यात् तत्र तस्मिन्विषये  
बंधोऽभिधीयते बंधस्वरूपं कथ्यते मयेति शेषः ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—सदैव देहके अवकाशमें गति है जिसकी ऐसा महाखगरूप प्राण जिस बंधसे नि-  
रंतर उड्डीन ( पक्षीके समान गति ) को सुषुम्नामें करता है वही बंध उड्डीयान नामका होताहै  
उसमें मैं बंधके स्वरूपको कहताहूँ ॥ ५६ ॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ॥

उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥ ५७ ॥

उड्डीयानबंधमाह—उदर इति ॥ उदरे तुंदे नाभेरूर्ध्वं चकारादधः उपरिभागेऽधो-  
भागे च पश्चिमं तानं पश्चिममाकर्षणं नाभेरूर्ध्वाधोभागौ यथा पृष्ठसंलग्नौ स्यातां तथा  
तानं ताननं नामाकर्षणं कारयेत्कुर्यात् । णिजर्थोऽविवक्षितः । असौ नाभेरूर्ध्वाधो-  
भागयोस्तानरूप उड्डीयान उड्डीयानारव्यो बंधः । कौटुशः मृत्युरेव मातंगो गजस्तस्य  
केसरी सिंहः सिंह इव निवर्तकः ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—उदर ( पेटके तुंद ) में नाभिके ऊपर और नीचे पश्चिम तान करै अर्थात् नाभिके  
ऊपरके और निचले भागको इस प्रकार तान ( आकर्षण ) करै जैसे वे दोनों भाग पृष्ठमें लग-  
जाय यह नाभिके ऊर्ध्व अधोभागका तान उड्डीयान नामका बंध होताहै और यह बंध मृत्यु-  
रूप हस्तीको केसरी है अर्थात् नाशक है ॥ ५७ ॥

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥

अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८ ॥

उड्डीयानं त्विति ॥ गुरुर्हितोपदेष्टा तेन गुरुणा उड्डीयानं तु सदा सर्वदा सहजं-  
स्वाभाविकं कथितं प्राणस्य बहिर्गमनम् सर्वदा सर्वस्यैव जायमानत्वात् । यस्तु यः  
पुरुषस्तु सततं निरंतरमभ्यसेत् । उड्डीयानमित्यत्रापि संबध्यते ॥ स तु वृद्धोऽपि स्थवि-  
रोऽपि तरुणायते तरुण इवाचराति तरुणायते ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—हितके उपदेष्टा गुरुने उड्डीयान सदैव स्वाभाविक कहा है अर्थात् प्राणका बहिर्ग-  
मन-स्वभावसे सवको होताहै परन्तु जो पुरुष इसका निरंतर अभ्यास करता है वृद्धभी वह  
तरुण ( युवा ) के समान आचरण करता है ॥ ५८ ॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥

षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९ ॥

नाभेरीति ॥ नाभेरूर्ध्वमुपरिभागेऽधश्चाप्यधोभागेऽपि प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्न  
स्तस्मात्प्रयत्नतः । यत्नविशेषात्तानं पश्चिमतानं कुर्यात् । पूर्वार्धेनोड्डीयानस्वरूप-  
मुक्तम् । अथ तत्प्रशंसा । षण्मासं षण्मासपर्यंतम् उड्डीयानमित्यध्याहारः । अभ्य-  
सेत्पुनःपुनरनुतिष्ठेत्स मृत्युं जयत्येव संशयो न । अत्र संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

भाषार्थ—नाभिके ऊपर और नीचे भलीप्रकार यत्नसे तान करै अर्थात् यत्न विशेषसे पश्चि-  
मतान करै और षण्मास ( छःमास ) पर्यंत इस उड्डीयानबंधका वारंवार अभ्यास करै तो  
मृत्युको जीतताहै इसमें संशय नहीं है ॥ ५९ ॥

सर्वेषामेव बंधानामुत्तमो ह्युड्डीयानकः ॥

उड्डीयाने दृढे बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥ ६० ॥

सर्वेषामिति ॥ सर्वेषां बंधानां मध्ये उड्डीयानकः उड्डीयानबंध एव । स्वार्थे कप्रत्ययः । उत्तमः उत्कृष्टः हि यस्मादुड्डीयाने बंधे दृढे सति स्वामाषिकी भावसिद्धेव मुक्तिर्भवेत् । उड्डीयानबंधे कृते विहंगमगत्या सुषुम्नायां प्राणस्य शूर्ध्वं गमनात् । 'समाधौ मोक्षमाप्नोति' इति वाक्यात्सहजैव मुक्तिः स्यादिति भावः ॥ ६० ॥

भाषार्थ—संपूर्ण बंधोंके मध्यमें उड्डीयान बंध उत्तम है, क्योंकि उड्डीयान बंधके दृढ होनेपर स्वामाषिकी मुक्ति होती है अर्थात् उड्डीयान बंधके करनेसे पक्षीके समान गतिसे सुषुम्नाविषे प्राण मस्तकमें चलाजाताहै उस समाधिमें इस वाक्यके अनुसार अनायाससे मुक्ति हो जाती है ॥ ६० ॥

अथ मूलबंधः ।

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ॥

अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

मूलबंधमाह—पार्ष्णिभागेनेति ॥ पार्ष्णेर्भागो गुल्फयोरधःप्रदेशस्तेन योनिं योनिस्थानं गुदमेद्रयोर्मध्यभागं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा गुदं पायुमाकुंचयेत्संकोचयेत् अपानमधोगातिं वायुमूर्ध्वमुपर्याकृष्याकृष्टं कृत्वा मूलबंधोऽभिधीयते कथ्यते । पार्ष्णिभागेन योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं गुदस्याकुंचनं मूलबंध इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

भाषार्थ—अब मूलबंधमुद्राका वर्णन करते हैं कि, पार्ष्णिके भाग ( गुल्फोंका अधःप्रदेश ) से योनिस्थानको अर्थात् गुदा और लिंगके मध्यभागको मलीप्रकार पीडित ( दबा ) करके गुदाका संकोच करे और अपान वायुका ऊपरको आकर्षण करे यह मूलबंध होता है ऐसा योगशास्त्रको जाननेवाले आचार्य कहते हैं ॥ ६१ ॥

अधोगातिमपानं वा ऊर्ध्वं कुरुते बलात् ॥

आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबंधं हि योगिनः ॥ ६२ ॥

अधोगातिमिति ॥ यः अधोगतिम् अधोऽर्वागतिर्यस्य स तथा तमपानमपानवायुमाकुंचनेन मूलाधारस्य संकोचनेन बलाद्धठादूर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तमूर्ध्वं सुषुम्नायामूर्ध्वगमनशीलं कुरुते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । योगिनो योगाभ्यासिनस्तं मूलबंधं मूलस्थानस्य बंधनं मूलबन्धस्तं मूलबंधमित्यन्वर्थं प्राहुः । अनेन मूलबंधशब्दार्थ उक्तः । पूर्वश्लोकेन तु तस्य बंधनप्रकार उक्त इत्यपौनरुक्त्यम् ॥ ६२ ॥

भाषार्थ—जो बंध अधः ( नीचेको ) गति है जिसकी ऐसे अपान वायुको बलसे ऊर्ध्वगामी करता है अर्थात् जिसके करनेसे अपान सुषुम्नामें पहुँच जाता है योगके अभ्यासी उस बंधको मूलबंध कहते हैं अर्थात् मूलस्थानका जिससे बंधन हो वह मूलबंध अन्वर्थनामसे कहाता है इस श्लोकसे मूलबन्ध शब्दका अर्थ कहा और पिछले श्लोकसे बन्धनका प्रकार कहा है इससे पुनरुक्तिदोष नहीं है ॥ ६२ ॥

**गुदं पाण्ण्यां तु संपीडय वायुमाकुंचयेद्वलात् ॥**

**वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ ६३ ॥**

अथ योगबीजोक्तरीत्या मूलबंधमाह—गुदमिति ॥ पाण्ण्योर्गुल्फयोरधोभागेन गुदं वायुं संपीडय सम्यक् पीडयित्वा संयोज्येत्यर्थः । तुशब्दः पूर्वस्मादस्य विशेषत्व-  
द्योतकः । यथा येन प्रकारेण समीरणो वायुर्ध्वं सुषुम्नाया उपरिभागे याति गच्छति  
तथा तेन प्रकारेण बलाद्धठाद्वारंवारं पुनःपुनर्वायुमपानमाकुंचयेद्गुदस्याकुंचनेनाकर्ष-  
येत् । अयं मूलबंध इति वाक्याध्याहारः ॥ ६३ ॥

भाषार्थ—अब योगबीजमें कही हुई रीतिसे मूलबंधको कहते हैं कि, पाणिसे गुदाको भली  
प्रकार पीडित करके वायुको बलसे इस प्रकार वारंवार आकर्षण करै जैसे वो सुषुम्नाके ऊपरले  
भागमें पहुँचजाय यह मूलबन्ध कहाता है इस श्लोकमें तु यह शब्द पिछले मूलबन्धसे विशेष  
जतानेके लिये है ॥ ६३ ॥

**प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम् ॥**

**गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥ ६४ ॥**

अथ मूलबंधगुणानाह—प्राणापानाविति ॥ प्राणश्चापानश्च प्राणापानावूर्ध्वधोभती  
वायु । नादोऽनाहतध्वनिः बिंदुरनुस्वारस्तौ मूलबंधेनैकतां गत्वैकीभूय योगस्य संसिद्धिः  
सम्यक् सिद्धिस्तां योगसंसिद्धिं यच्छतो ददतः । अभ्यासिन इति शेषः । अत्रास्मि-  
न्नर्थे संशयो न । संदेहो नास्तीत्यर्थः । अयं भावः । मूलबंधे कृतेऽपानः प्राणेन  
सहैकीभूय सुषुम्नायां प्रविशति । ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति ततो नादेन सह प्राणा-  
पानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य बिंदुना सहैक्यं बिंदुनाधाय मूर्ध्नि गच्छतः, ततो  
योगसिद्धिः ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—अब मूलबन्धके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, नीचेको है गति, जिनका ऐसे प्राण  
और अपान दोनों वायु और अनाहत ( स्वाभाविक ) ध्वनि और बिंदु ( अनुस्वार ) ये दोनों  
मूलबंधसे एकताको प्राप्त होकर योगाभ्यासीको योगकी सिद्धिको भलीप्रकार देते हैं इसमें संश-  
य नहीं है, तात्पर्य यह है कि, मूलबंधके करनेसे अपान प्राणके संग एकताको प्राप्त होकर  
सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै फिर नादकी प्रकटता होती है फिर नादके संग प्राण अपान हृद-  
यके ऊपर जाकर और नादके संग बिंदुकी एकताको करके मस्तकमें चले जाते हैं फिर योग-  
सिद्धि होजाती है ॥ ६४ ॥

**अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥**

**युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥ ६५ ॥**

अपानप्राणयोरिति ॥ सततं मूलबंधनान्मूलबंधमुद्राकरणादपानप्राणयोरैक्यं भवति ।

ध्रुवपुरीषयोः संचितयोः क्षयः पतनं भवति । वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि युवा तरुणो भवति ॥ ६५ ॥

भाषार्थ—निरंतर मूलबंधमुद्राके करनेसे अपान और प्राणकी एकता और देहमें संचितद्वय ध्रुव और मलका क्षय होता है तिससे वृद्धभी मनुष्य युवा होजाता है ॥ ६५ ॥

**अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडलम् ॥**

**तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥ ६६ ॥**

अपान इति । मूलबंधनादपाने अधोगमनशीले वायौ ऊर्ध्वगे ऊर्ध्वं गच्छतीत्युर्ध्व-  
गस्तस्मिन्तादृशे सति वह्निमंडलं वह्नेर्मण्डलं त्रिकोणं नाभेरधोभागेऽस्ति । तदुक्तं याज्ञ-  
वल्क्येन—‘देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजांबूनदप्रमम् । त्रिकोणं तु भनुष्याणां चतुरस्रं  
चतुष्पदम् ॥ मंडलं तु पतंगानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते । तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा  
तिष्ठति पावके ॥’ इति । तदा तस्मिन्काले वायुना अपानेनाहता संगता सत्यनलशिखा  
जठराग्निशिखा दीर्घा आयता जायते । ‘वर्धते’ इति क्वचित्पाठः ॥ ६६ ॥

भाषार्थ—मूलबन्ध करनेसे अधोगामी अपान जब ऊर्ध्वगामी होकर अग्निमंडलमें पहुँच जाता  
है अर्थात् नाभिके अधोभागमें वर्तमान त्रिकोण जठराग्निके मंडलमें प्रविष्ट होजाता है उस  
समय अपानवायुसे ताडित की हुई जो जठराग्निकी शिखा है वह दीर्घ होजाती है अर्थात् बढ़-  
जाती है सो याज्ञवल्क्यने कहा है कि, तपाये हुये सुवर्णके समान अग्निका स्थान मनुष्योंके  
देहके मध्यमें त्रिकोण और पशुओंके देहमें चतुष्कोण है और पक्षियोंके देहमें गोल है यह  
आपके प्रति मैं सत्य कहता हूँ और अग्निके मध्यमें सदैव सूक्ष्म शिखा टिकती है ॥ ६६ ॥

**ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ॥**

**तेनात्यंतप्रदीप्तोऽतु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ६७ ॥**

तत इति ॥ ततस्तदनंतरं वह्निश्चापानश्च वह्न्यपानौ । उष्णं स्वरूपं यस्य स तथा  
तमनलं शिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपं प्राणमूर्ध्वगतिमानिलं यातो गच्छतः ततोऽनलशिखादै-  
र्घ्यादुष्णस्वरूपकादिति वा योजना । तेन प्राणसंगमनेन देहे जातो देहजो ज्वलनोऽ-  
ग्निरत्यंतमाधिकं दीप्तो भवति । तथेति पादपूरणे । अपानस्योर्ध्वगमने दीप्त एव ज्वलनः  
प्राणसंगत्याऽत्यंतं प्रदीप्तो भवतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

भाषार्थ—फिर अग्नि और अपान ये दोनों अग्निकी दीर्घ शिखासे उष्णरूप हुए ऊर्ध्वगति प्राण-  
में पहुँच जाते हैं तिस प्राणवायुके समागमसे देहमें उत्पन्न हुई जठराग्नि अत्यंत प्रज्वलित होजाती  
है अर्थात् अपानकी ऊर्ध्वगतिसे दीप्तहुई अग्नि अत्यंत प्रदीप्त होजाती है ॥ ६७ ॥

**तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ॥**

**दंडाहता भुजंगीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ६८ ॥**

तेनेति ॥ तेन ज्वलनस्यात्यंतं प्रदीपनेन संतप्ता सम्यक् तप्ता सती सुप्ता निद्रिता कुंडलिनी शक्तिः संप्रबुध्यते सम्यक् प्रबुद्धा भवति । दंडेनाहता दंडाहता चासौ भुजंगीव सर्पिणीव निश्चस्य निश्वासं कृत्वा ऋजुतां सरलतां व्रजेद्ब्रजेत् ॥ ६८ ॥

भाषार्थ—तिस आग्निके अत्यंत दीपनसे भली प्रकार तपायमान हुई कुंडलिनी शक्ति इस प्रकार भलीप्रकारसे प्रबुद्ध होजाती है और कोमल होजाती है जैसे दंडसे हतीहुई सर्पिणी कोमल होजाती है ॥ ६८ ॥

**बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यंतरं व्रजेत् ॥**

**तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥ ६९ ॥**

बिलं प्रविष्टेति ॥ ततो ऋजुताप्राप्त्यनंतरं बिलं विवरं प्रविष्टा भुजंगीव ब्रह्मनाडी सुषुम्ना तस्या अंतरं मध्यं गच्छेत्तस्माद्देवोर्योगिभिर्योगाभ्यासिभिर्मूलबंधो नित्यं प्रतिदिनं सदा सर्वस्मिन्काले कर्तव्यः कर्तुं योग्यः ॥ ६९ ॥

भाषार्थ—उसके अनन्तर बिलमें प्रविष्ट सर्पिणीके समान ब्रह्मनाडी ( सुषुम्ना ) के मध्यमें कुंडलिनी प्रविष्ट होजाती है तिससे योगाभ्यासियोंको मूलबन्ध प्रतिदिन करने योग्य है ॥ ६९ ॥

**कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ॥**

**बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ ७० ॥**

जालंधरबंधमाह—कंठमिति ॥ कंठे गले बिलमाकुंच्य हृदये वक्षःसमीपे चतुरंगुलांतरितप्रदेशे चिबुकं हनुं दृढं स्थिरं स्थापयेत् स्थितं कुर्यात् । अयं कंठाकुंचनपूर्वकं चतुरंगुलांतरितहृदयसमीपेऽधोनमनयत्नपूर्वकं चिबुकस्थापनरूपो जालंधर इत्याख्यायत इति जालंधराख्यां जालंधरनामा बंधः । कीदृशः ? जरा वृद्धावस्था मृत्युर्मरणं तयोर्विनाशको विशेषेण नाशयतीति विनाशको विनाशकर्ता ॥ ७० ॥

भाषार्थ—अब जालंधरबंधको कहते हैं कि, कंठके बिलका संकोच करके वक्षस्थलके समीप-रूप हृदयमें चार अंगुलके अंतरपर चिबुक ( ठोंड़ी ) को दृढीतिसे स्थापन करे, कंठके आकुंचनपूर्वक चार अंगुलके अंतरपर हृदयके समीपमें नीचेको नमनपूर्वक चिबुकका स्थापनरूप यह जालंधर नामका बंध कहा है और यह बंध जरा और मृत्युका विनाशक है ॥ ७० ॥

**बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम् ॥**

**ततो जालंधरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ॥ ७१ ॥**

जालंधरपदस्यार्थमाह—बध्नातीति ॥ हि यस्माच्छिराणां नाडीनां जालं समुदायं बध्नाति । अधो गंतुं शीलमस्येत्यधोगामी नभसः कपालकुहरस्य जलममृतं च बध्नाति प्रतिबध्नाति । ततस्तस्माज्जालंधरो जालंधरनामकोऽम्बुर्यो बंधः जालं दशाजालं जलानां समूहो जालं धरतीति जालंधरः । कीदृशः कंठे गलप्रदेशे यो दुःखौघो विकारजातो दुःखसमूहस्तस्य नाशनो नाशकर्ता ॥ ७१ ॥

भाषार्थ-अब जालंधरपदके अर्थको कहते हैं कि, जिससे यह बंध शिरा ( नाडी ) ओंके समूहरूप जालको बाँधता है और कपालके छिद्ररूप नभका जो जल है उसका प्रतिबन्ध करता है तिससे यह जालंधर नामका अन्वर्थ बंध जालन्धरबन्ध कहाता है क्योंकि जाल नाम समुदाय और जलोंके समूहको कहते हैं और यह जालन्धरबन्ध कण्ठमें जो दुःखोंका समूह है उसका नाशक है ॥ ७१ ॥

**जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ॥**

**न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२ ॥**

जालंधरगुणानाह-जालंधर इति ॥ कंठस्य गलविलस्य संकोचनं संकोच आकुंचनं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य स कंठसंकोचलक्षणः तस्मिन् तादृशे जालंधरे जालंधरसंज्ञके बंधे कृते सति पीयूषममृतमग्नौ जाठरेऽनले न पतति न सरति । वायुश्च प्राणश्च न कुप्यति नाड्यंतरे वायोर्गमनं प्रकोपस्तं न करोतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

भाषार्थ-अब जालंधरबंधके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, कंठका संकोच है स्वरूप जिसका ऐसे जालंधरबंधके करनेपर पूर्वोक्त अमृत जाठराग्निमें नहीं पड़ता है और वायुका भी कोप नहीं होता अर्थात् अन्य नाडियोंमें वायुका गमन नहीं होता है ॥ ७२ ॥

**कंठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेदृढम् ॥**

**मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनम् ॥ ७३ ॥**

कंठसंकोचनेनेति । दृढं गाढं कंठसंकोचनेनैव कंठसंकोचनमात्रेण द्वे नाड्यौ इडा-पिंगले स्तंभयेदयं जालंधर इति कर्तृपदाध्याहारः । इदं कंठस्थाने स्थितं विशुद्धारख्यं चैकं मध्यचक्रं मध्यमं चक्रं ज्ञेयम् । कीदृशं षोडशाधारबंधनं षोडशसंख्याका ये आधारा अंगुष्ठाधारादिब्रह्मरंध्रांतास्तेषां बंधनं बंधनकारकम् । 'अंगुष्ठगुल्फजानूरी-वनीलिङ्गनाभयः । हृद्ग्रीवा कंठदेशश्च लंबिका नासिका तथा ॥ भ्रूमध्यं च ललाटं च च मूर्धा च ब्रह्मरंध्रकम् । एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुंगवैः ॥' तेष्वधारेषु धारणायाः फलविशेषस्तु गोरक्षसिद्धांतादवगंतव्यः ॥ ७३ ॥

भाषार्थ-यह जालंधरबन्ध दृढतासे कंठके संकोच करनेसेही इडा पिंगलरूप दोनों नाडियोंका स्तंभन करता है और कंठस्थानमें स्थित इन सोलह आधारोंका बंधन करनेवाला मध्य चक्र ( विशुद्धनाम ) जानना । अंगुष्ठ, गुल्फ, जानु, ऊरु, सीविनी, लिङ्ग, नाभि, हृदय, ग्रीवा, कंठदेश, लंबिका, नासिका, भ्रुकुटियोंका मध्य, मस्तक, मूर्धा, ब्रह्मरंध्र योगियोंमें श्रेष्ठोंने ये सोलह आधारकहे हैं इन आधारोंमें धारणका फल विशेष तो गोरक्षसिद्धांत ग्रंथसे जानना ७३ ॥

**मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत् ॥**

**इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥ ७४ ॥**

उक्तस्य बंधत्रयस्योपयोगमाह—मूलस्थानमिति ॥ मूलस्थानमाधारभूतमाधारस्थानं समाकुंच्य सम्यगाकुंच्य उड्डियानं नामैः पश्चिमतानरूपं बंधं कारयेत्कुर्यात् । पिंज-र्योऽविवक्षितः । इडां पिंगलां गंगां यमुनां च बध्वा । जालंधरबंधेनेत्यर्थः । 'कंठसं-कोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेत्' इत्युक्तेः । पश्चिमे पथि सुषुम्नामार्गे वाहयेदमयेत् प्राणमिति शेषः ॥ ७४ ॥

भाषार्थ—अब पूर्वोक्त तीनों बंधोंके उपयोगका वर्णन करते हैं कि मूलस्थानको अर्थात् आधारभूत आधारस्थानका भलीप्रकार संकोच करके नाभिके पश्चिमतानरूप उड्डियानबंधको करे और जालंधरबंधसे अर्थात् कंठके संकोचसेही इडा और पिंगलारूप दोनों नाडियोंको स्तंभन करे फिर प्राणको पश्चिममार्गमें ( सुषुम्नामें ) प्राप्त करे ॥ ७४ ॥

**अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम् ॥**

**ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५ ॥**

अनेनेति ॥ अनेनैवोक्तेनैव विधानेन पवनः प्राणो लयं स्थैर्यं प्रयाति गत्यभावपूर्वकं रंध्रे स्थितिः प्राणस्य लयः ततः प्राणस्य लयान्मृत्युजरारोगादिकम् । तथा चार्थे । न जायते नोद्भवति । आदिपदेन वलीपलिततंद्रालस्यादि ग्राह्यम् ॥ ७५ ॥

भाषार्थ—इस पूर्वोक्त विधानसेही प्राण लय ( स्थिरता ) को प्राप्त हो जाता है, गमनकी निवृत्ति होनेपर ब्रह्मरन्ध्रमें स्थितिही प्राणका लय होताहै उस प्राणके लयसे मृत्यु, जरा रोग और आदिपदसे वलीपलित, तंद्रा, आलस्य आदि नहीं होते हैं ॥ ७५ ॥

**बंधत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ॥**

**सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ७६ ॥**

बंधत्रयमिति ॥ इदं पूर्वोक्तं बंधत्रयं श्रेष्ठं षोडशाधारबंधेऽति प्रशस्तं महासिद्धैर्म-त्स्येन्द्रादिमिश्रकारादसिद्धादिमुनिभिः' सेवितं सर्वेषां हठतंत्राणां हठोपायानां साधनं सिद्धिजनकं योगिनो गोरक्षाद्या विदुर्जानन्ति ॥ ७६ ॥

भाषार्थ—ये पूर्वोक्त तीनों बंध श्रेष्ठ हैं अर्थात् षोडशाधार बंधमें अत्यंत उत्तम है और मत्स्येन्द्र आदि योगिजन और वासिष्ठ आदि मुनियोंके सेवित है और संपूर्ण जो हठयोगके उपाय हैं उनका साधन है यह बात गोरक्ष आदि योगीजन जानतेहैं ॥ ७६ ॥

**यत्किंचित्स्रवते चंद्रादमृतं दिव्यरूपिणः ॥**

**तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः ॥ ७७ ॥**

विपरीतकरणौ विबध्नुस्तदुपोद्धातत्वेन पिंडस्य जराकरणं तावदाह—यत्किंचिदिति ॥ दिव्यमुत्कृष्टं सुधामयं रूपं यस्य स तथा तस्मादिव्यरूपिणश्चंद्रात्सोमात्तालुमूलस्थाद्य-त्किंचिद्यत्किमप्यमृतं पीयूषं स्रवते पतति तत्सर्वं सर्वं तत्पीयूषं सूर्यो नाभिस्थोऽनला-त्मकः ग्रसते ग्रासीकरोति । तदुक्तं गोरक्षनाथेन—'नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो

दहनात्मकः । अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चंद्रमाः ॥ वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रस-  
त्यूर्ध्वमुखो रविः । करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते ॥ ' इति । तेन सूर्यकर्तृका-  
मृतग्रसनेन पिंडो देहो जरायुतः जरसा युक्तो भवति ॥ ७७ ॥

भाषार्थ—अब विपरीत करणिके कथनका अभिलाषी आचार्य प्रथम उसके उपोद्घातरूप होनेसे पिंडके जराकरणका वर्णन करतेहैं कि, दिव्य ( सर्वोत्तम ) सुधामय है रूप जिसमें ऐसे तालुके मूलमें स्थित चंद्रमासे जो कुछ अमृत झरताहै उस संपूर्ण अमृतको नाभिमें स्थित अग्निरूप सूर्य ग्रस लेताहै सोई गोरक्षनाथने कहाहै कि, नाभिके देशमें अग्निरूप सूर्य स्थित है और तालुके मूलमें अमृतरूप चंद्रमा स्थित है अधोमुख होकर चन्द्रमा जिस अमृतको वर्ष-  
ताहै और ऊर्ध्वमुख होकर सूर्य उस अमृतको ग्रस लेताहै उसमें वह करण ( मुद्रा ) करना चाहिये जिससे अमृतकी नष्टता न हो अर्थात् पुष्टि रहै फिर सूर्यके किये उस अमृतके ग्रस-  
नेसे विंदु ( देह ) वृद्ध अवस्थासे युक्त होजाताहै ॥ ७७ ॥

**तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य सुखवंचनम् ॥**

**गुरुपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७८ ॥**

तत्रेति ॥ तत्र तद्विषये सूर्यस्य नाभिस्थानलस्य सुखं वंचतेऽनेनेति तादृशं दिव्य-  
मुत्तमं करणं वक्ष्यमाणं मुद्राख्यमस्ति तद्गुरुपदेशतः गुरुपदेशाज्ज्ञेयं ज्ञातुं शक्यम् ।  
शास्त्रार्थानां कोटिभिः न तु नैव ज्ञातुं शक्यम् ॥ ७८ ॥

भाषार्थ—उस अमृतकी रक्षा करनेमें जिसे सूर्यके मुखकी वंचन होय ऐसा आगे कहने-  
योग्य मुद्रारूप करण है और वह करण गुरुके उपदेशसे जानने योग्य है और कोटियों शास्त्रोंके  
अर्थसे जाननेको शक्य नहीं है ॥ ७८ ॥

**ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ॥**

**करणौ विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ७९ ॥**

विपरीतं करणीमाह—ऊर्ध्वं नाभेरिति ॥ ऊर्ध्वमुपरिभागे नाभिर्यस्य स ऊर्ध्वनाभि-  
स्तस्योर्ध्वनाभेरधः अधोभागे तालु तालुस्थानं यस्य सोऽधस्तालुस्तस्याधस्तालोर्यो-  
गिन ऊर्ध्वमुपरिभागे भानुर्दहनात्मकः सूर्यो भवति । अधः अधोभागे शश्यामृतात्मा  
चंद्रो भवति । प्रथमांतपाठे तु यदा ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुर्योगी भवति तदोर्ध्वं भानुरधः  
शशी भवति । यदातदापदयोरध्याहारेणान्वयः । इयं विपरीताख्या विपरीतनामिका  
करणौ । ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधःऊर्ध्वकरणेनान्वर्था गुरुवाक्येन गुरोर्वाक्येनैव  
लभ्यते प्राप्यते नाम्यथा ॥ ७९ ॥

भाषार्थ—अब विपरीतकरणमुद्राके स्वरूपका वर्णन करतेहैं कि ऊपरके भागमें है नाभि  
जिसके और अधोभागमें है तालु जिसके ऐसा जो योगी उसके ऊपरके भागमें तो अग्निरूप  
सूर्य होजाय और अधोभागमें अमृतरूप चंद्रमा होजाय और जब 'ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुः'  
यह प्रथमांत पाठ है तब यदा तदा पदोंके अध्याहारसे इस प्रकार अन्वय करना कि, जब ऊप-

रके भागमें नाभि और नीचेके भागमें तालु जिसके ऐसा योगी होजाय तब ऊपर सूर्य और नीचे चंद्रमा होजातेहैं यह विपरीत ( उलटी ) नामकी करणी ऊपर और नीचे स्थित जो चंद्रमा सूर्य हैं उनके नीचे ऊपर क्रमसे करनेसे अन्वर्थ है अर्थात् विपरीतकरणी अर्थ तभी घटसकता है जब पूर्वोक्त मुद्रा कीजाय और यह विपरीतकरणी गुरुके वाक्यसे मिल सकतीहै अन्यथा नहीं ॥ ७९ ॥

**नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ॥**

**आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥ ८० ॥**

नित्यमिति ॥ नित्यं प्रतिदिनमभ्यासोऽभ्यसनं तस्मिन् युक्तस्थावद्विषयस्य जठराग्नि रुद्राग्निस्तस्य विवर्धिनी विशेषेण वर्धिनीति विपरीतकरणीविशेषणम् ॥ तस्य साधकस्य विपरीतकरणीर्गोप्सिन् आहारो भोजनं बहुलो यथेच्छः संपाद्यः, संपादनीयः ॥ च पादपुरणे ॥ ८० ॥

भाषार्थ—प्रतिदिनके अभ्यासमें युक्त जो योगी है उसकी जठराग्निको यह विपरीतकरणी बढ़ातीहै और इसीसे उस विपरीतकरणीके अभ्यासी योगीको यथेच्छ अधिक भोजन संपादन करने योग्य है अर्थात् अल्पभोजन न करे ॥ ८० ॥

**अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ॥**

**अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ८१ ॥**

अल्पाहार इति ॥ यद्यल्पाहारः अल्पो मोक्षुमिष्टान्नस्याहारो भोजनं यस्य तादृशो भवेत्सोऽतदाऽग्निर्जठरानलो देहं क्षणमात्राद्देहत् । शीघ्रं दहेदित्यर्थः । ऊर्ध्वधः स्थितयोश्चंद्रसूर्ययोरधोऽर्ध्वकरणक्रियामाह—अधःशिरा इति । अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य सोऽधःशिराः कराभ्यां कटिप्रदेशमवलंब्य बाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यन्ताभ्यां बाहुभ्यां स्कंधाभ्यां गलपृष्ठभागशिरःपृष्ठभागभ्यां च भूमिमवष्टभ्याधःशिरा भवेत् । ऊर्ध्वमुपर्यंतरिक्षे पादौ यस्य स ऊर्ध्वपादः प्रथमदिने आरंभदिने क्षणं क्षणमात्रं स्यात् ॥ ८१ ॥

भाषार्थ—क्योंकि, यदि विपरीतकरणीका अभ्यासी योगी अल्पहारी हो अर्थात् अल्पभोजन कियाजाताहै तो जठराग्नि उसी क्षणमात्रमें देहको भस्म करदेतीहै । अब ऊपर नीचे स्थित चन्द्रमा सूर्यके नीचे ऊपर करनेकी क्रियाको कहतेहैं कि, प्रथम दिनमें क्षणभर नीचेको शिर करे अर्थात् भुजा दोनों स्कंध गल और शिर पृष्ठभाग ( पीठ ) से भूमिका स्पर्श करके नीचे शिर किये स्थित हो और ऊपरको पाद करे अर्थात् प्रारंभके दिन क्षणमात्र इस प्रकार स्थित रहे ॥ ८१ ॥

**क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ॥**

**वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥**

**याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥ ८२ ॥**

क्षणदिति ॥ दिनेदिने प्रतिदिनं क्षणात् किंचिदधिकं द्विक्षणं त्रिक्षणम् एकादिनवृद्ध्याभ्यसेदभ्यासं कुर्यात् ॥ विपरीतकरणीगुणानाह-वलितमिति ॥ वलितं चर्मसंकोचः पलितं केशेषु शौक्ल्यं च, षण्णां मासानां समाहारः षण्मासं तस्मादूर्ध्वमुपरि नैव दृश्यते नैवावलोक्यते । साधकस्य देह इति वाक्याध्याहारः । यस्तु साधको याममात्रं प्रहरमात्रं नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्कालं मृत्युं जयतीति कालजिन्मृत्युजेता भवेत् एतेन योगस्य प्रारब्धकर्मप्रतिबंधकत्वमपि सूचितम् । तदुक्तं विष्णुधर्मे-‘स्वदेहारंभः कस्यापि कर्मणः संक्षयावहः । यो योगः पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षणम्’ ॥ इति । विद्यारण्यैरपि जीवन्मुक्ताखुक्तम्-“यथा प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलः । अत एव योगिनामुद्दालकवीतहव्यादीनां स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यत” इति । भागवतेऽप्युक्तम्-‘देहं जह्यात्समाधिना’ इति ॥ ८२ ॥

भाषार्थ-फिर प्रतिदिन क्षणसे कुछ २ अधिक अभ्यास करे अर्थात् दो क्षण, तीन क्षण, काल एक २ दिनकी वृद्धिसे अभ्यासको बढ़ाता रहे अब विपरीतकरणीके गुणोंको कहते हैं कि, पूर्वोक्त प्रकारके करनेसे बलीपलित छः मासके अनंतर नहीं दीखते हैं अर्थात् यौवन अवस्था होजाती है और जो साधक प्रतिदिन प्रहरमात्र अभ्यास करता है वह मृत्युको जीतता है । इससे यह भी सूचित किया कि, योग प्रारब्धकर्मका भी प्रतिबंधक है सोई विष्णुधर्ममें कहा है कि, अपने देहके आरंभककर्मका भी नाशक जो योग है हे पृथ्वीपाल ! उस योगको तू सुन और विद्यारण्यने जीवन्मुक्तिग्रंथमें यह कहा है कि, तत्त्वज्ञानसे प्रारब्धकर्म जैसे प्रबल है ऐसेही प्रारब्धकर्मसे योगाभ्यास प्रबल है इसीसे उद्दालक, वीतहव्य आदि योगियोंने अपना देह इच्छासे देहका त्याग किया, भागवतमें भी लिखा है कि, समाधिसे देहको त्यागे ॥ ८२ ॥

अथ वज्रोली ।

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ॥

वज्रोली यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ ८३ ॥

वज्रोल्यां प्रवृत्तिं जनयितुमादौ तत्फलमाह-स्वेच्छयेति ॥ योऽभ्यासी वज्रोली वज्रोलीमुद्रां विजानाति विशेषेण स्वानुभवेन जानाति स योगी योगे योगशास्त्रे उक्ता योगोक्तास्तैर्योगोक्तैर्नियमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्विना ऋते स्वेच्छया निजेच्छया वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि सिद्धिभाजनं सिद्धीनाम्पणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति ॥ ८३ ॥

भाषार्थ-वज्रोलीमुद्राकी प्रवृत्तिको उत्पन्न करनेके लिये प्रथम वज्रोलीके फलका वर्णन करते हैं कि, जो योगाभ्यासी वज्रोलीमुद्राको अपने अनुभवसे जानता है वह योगी योगशास्त्रमें कहेहुये नियमोंके विना अपनी इच्छाके अनुसार व्यवहार करता हुआ भी अणिमा आदि सिद्धियोंका भोक्ता है अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि नियमोंके विना भी उसको सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ८३ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ॥

क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च पशवर्तिनी ॥ ८४ ॥

तत्साधनोपयोगिवस्तुद्वयमाह-तत्रेति ॥ तत्र वज्रोलीभ्यासे वस्तुनोर्द्वयं वस्तुद्वयं  
दृश्ये कथयिष्ये । कीदृशं वस्तुद्वयं यस्यकस्यचित् यस्यकस्यापि धनहीनस्य दुर्लभं  
दुःखेन लब्धुं शक्यं दुःखेनापि लब्धुमशक्यमिति वा । 'दुः स्यात्कष्टनिषेधयोः' इति  
कोशात् ॥ किं तद्वस्तुद्वयमित्यपेक्षायामाह-क्षीरमिति । एकं वस्तु क्षीरं पानार्थं मेहना-  
नंतरमिन्द्रियनैर्बल्यात्तद्वद्वार्थं क्षीरपानं युक्तम् । केचित्तु अभ्यासकाले आकर्षणार्थमि-  
त्याहुः । तस्यांतर्गतस्य घनीभावे निर्गमनासंभवात्तद्वयुक्तम् । द्वितीयं तु, वस्तु वशव-  
र्तिनी स्वाधीनी नारी वनिता ॥ ८४ ॥

भाषार्थ-अव वज्रोलीमुद्राके साधक दो वस्तुओंका वर्णन करते हैं कि, उस वज्रोलीकी  
सिद्धिमें जिसाकिसी निर्धन पुरुषको दुर्लभ जो दो वस्तु हैं उनको मैं कहता हूँ उन दोनोंमें एक  
दूध है और दूसरी वशवर्तिनी नारी है अर्थात् मैथुनके अनंतर निर्बल हुई इंद्रियोंकी प्रबल-  
ताके लिये दूधका पान योग्य है और कोई यह कहते हैं कि, अभ्यासकालमें आकर्षणके लिये  
दूधका पान उत्तम है सो ठीक नहीं, क्योंकि अंतर्गत हुए दूधका आकर्षण नहीं हो सकता  
है ॥ ८४ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगुच्चाकुंचनमभ्यसेत् ॥

पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८५ ॥

वज्रोलीमुद्राप्रकारमाह-मेहनेनेति ॥ मेहनेन स्त्रीसंगानंतरं बिन्दोः क्षरणेन साधन-  
भूतेन पुरुषः पुमानथवा नार्यपि योषिदपि शनैर्मंदं सम्यक् यत्नपूर्वकमृच्चाकुंचनमूर्ध्व-  
मुपर्यकुंचनं मेद्राकुंचनेन बिंदोरुपर्यकर्षणमभ्यसेद्वज्रोलीमुद्रासिद्धिमाप्नुयात्सिद्धिं  
गच्छेत् ॥ ८५ ॥

भाषार्थ-अव वज्रोलीमुद्राके प्रकारका वर्णन करते हैं कि, पुरुष अथवा स्त्री मेहन ( बिंदुका  
झरना ) से शनैः २ मलीप्रकार यत्नसे उपरको आकुंचन ( संकोच ) का अभ्यास करे  
अर्थात् लिंग इंद्रियके आकुंचनसे बिंदुके उपर खींचनेका अभ्यास करे तो वज्रोलीमुद्रा सिद्धिको  
प्राप्त होती है ॥ ८५ ॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ॥

शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

अथ वज्रोल्याः पूर्वांगप्रक्रियामाह-यत्नत इति ॥ शस्तः प्रशस्तो यो नालस्तेन  
शस्तनालेन सीसकादिनिर्मितेन नालेन शनैः शनैर्मंदमंदं यथाग्नेर्धमनार्थं फूत्कारः क्रियते  
सादृशं फूत्कारं वज्रकंदरे मेद्रविवरे वायोः संवारः सम्यग्वज्रकंदरे चरणं गमनं तत्का-  
रणात्तद्वेतोः प्रकुर्वीत प्रकर्षेण पुनः पुनः कुर्वीत ॥ अथ वज्रोलीसाधनप्रक्रिया । सी-  
सकनिर्मितां स्निग्धां मेद्रप्रवेशयोग्यां चतुर्दशांगुलमात्रां शलाकां कारयित्वा मेद्रे प्रवेशन-  
मभ्यसेत् । प्रथमदिने एकांगुलमात्रां शलाकां प्रवेशयेत् । द्वितीयदिने द्व्यंगुलमात्रां

तृतीयदिने अंगुलमात्रम् । एवं क्रमेण' वृद्धौ द्वादशांगुलमात्रप्रवेशे मेढ्रमार्गः शुद्धो भवति ॥ पुनस्तद्विंशौ चतुर्दशांगुलमात्रां द्व्यंगुलमात्रवक्रामूर्ध्वमुखं कारयित्वा तां द्वादशांगुलमात्रां प्रवेशयेत् । वक्रामूर्ध्वमुखं द्व्यंगुलमात्रं बहिः स्थापयेत् । ततः सुवर्णकारस्य अग्निधमनसाधनीभूतनालसदृशं नालं गृहीत्वा तदग्रं मेढ्रप्रवेशितद्वादशांगुलस्य नालस्य वक्रामूर्ध्वमुखद्व्यंगुलमध्ये प्रवेश्य फूत्कारं कुर्यात् । तेन सम्यक् मार्गशुद्धिर्भवति । ततो जलस्य मेढ्रेणाकर्षणमभ्यसेत् जलाकर्षणे सिद्धे पूर्वोक्तश्लोकीरित्या बिंदोरूर्ध्वाकर्षणमभ्यसेत् । बिद्धाकर्षणे सिद्धे वज्रोलीमुद्रासिद्धिः । इयं जितप्राणस्यैव सिध्यति नान्यस्थः खेचरीमुद्राप्राणजयोभयसिद्धौ तु सम्यक् भवति ॥ ८६ ॥

भाषार्थ—अब वज्रोली मुद्राकी पूर्वाङ्ग क्रियाका वर्णन करतेहैं कि, सीसे आदिकी उत्तम नालीसे शनैः २ इस प्रकार लिंगके छिद्रमें वायुके संचार ( भलीप्रकार प्रवेश ) के यत्ने फूत्कारको करै जैसे अग्निके प्रज्वलनार्थ फूत्कारको करते हैं । अब वज्रोलीकी साधनप्रक्रियाको कहते हैं कि, सीसेसे बनीहुई लिंगमें प्रवेशके योग्य चौदह अंगुलकी शलाई बनवाकर उसके लिंगमें प्रवेशका अभ्यास करै । पहिले दिन एक अंगुलमात्र प्रवेश करै दूसरे दिन दो अंगुल मात्र और तीसरे दिन तीन अंगुलमात्र प्रवेश करै इस प्रकार क्रमसे वृद्धि करनेपर बारह अंगुल शलाकाके प्रवेश होनेके अनंतर लिंगका मार्ग शुद्ध होजाताहै फिर उसी प्रकारकी और चौदह अंगुलकी ऐसा शलाई बनवावे जो दो अंगुल टेढ़ी हो और ऊर्ध्वमुखी हो उसकोभी बारह अंगुल भर लिंगके छिद्रमें प्रवेश करै, टेढ़ा और ऊर्ध्वमुख जो दो अंगुल मात्र है उसको बाहर रखे फिर सुनारके अग्निधमनके नालकी सदृश नालको लेकर उस नालके अग्रभागको लिंगमें प्रवेश किये बारह अंगुलके नालका टेढ़ा और ऊर्ध्वमुख दो अंगुल है उसके मध्यमें प्रवेश करके फूत्कार कर तिससे भली प्रकार लिंगके मार्गकी शुद्धि होतीहै फिर लिंगसे जलके आकर्षणका अभ्यास करै जलके आकर्षणकी सिद्धि होनेपर पूर्वोक्तश्लोकमें कही हुई रीतिके अनुसार बिंदुके उपरको आकर्षणका अभ्यास करै बिंदुके ऊर्ध्व आकर्षणकी सिद्धि होनेपर वज्रोलीमुद्राकी सिद्धि होतीहै यह मुद्रा उस योगीको ही सिद्ध होती है जिसने प्राणवायुको जीत लियाहै अन्यको नहीं होती है और खेचरीमुद्रा और प्राणका जय होनेपर तो भलीप्रकार सिद्ध होतीहै । भावार्थ यह है कि, लिंगके छिद्रमें वायुके संचार करनेके लिये उत्तमनालसे शनैः २ यत्नपूर्वक फूत्कारको करै ॥ ८६ ॥

**नारीभगे पतद्विंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ॥**

**चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥**

एवं वज्रोलीभ्यासे सिद्धे तदुत्तरं साधनमाह—नारीभग इति ॥ नारीभगे स्त्रीयोनौ पततीति पतन् पतंश्चासौ बिंदुश्च पतद्विंदुस्तं पतद्विंदुं रतिकाले पतंतं बिंदुमभ्यासेन वज्रोलीमुद्राभ्यासेनोर्ध्वमुपर्याहरेदाकर्षयेत् । पतनात्पूर्वमेव । यदि पतनात्पूर्वं बिंदोराकर्षणं न स्यात्तर्हि पतितमाकर्षयेदित्याह—चलितं चेति । चलितं नारीभगे पतितं निजं स्वकीयं बिंदुं चकारात्तदजः ऊर्ध्वमुपर्याकृष्यादित्य रक्षयेत् स्थापयेत् ॥ ८७ ॥

भाषार्थ—अब वज्रोलीमुद्राकी सिद्धिके अनंतरका जो साधन है उसका वर्णन करते हैं कि, नारीके भग ( योनि ) में पड़ते हुये बिंदु ( वीर्य ) का अभ्याससे ऊपरको आकर्षण करे अर्थात् पड़नेसे पूर्वही ऊपरको खींचले यदि पतनसे पूर्व बिंदुका आकर्षण न होसकै तो पतितहुये बिंदुका आकर्षण करै कि चलितहुआ अपना बिंदु और चकारसे स्त्रीका रज इनकी ऊपरको आकर्षण करके रक्षा करे अर्थात् मस्तकरूप जो वीर्यका स्थान है उसमें स्थापन करै ॥ ८७ ॥

**एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगधित् ॥**

**मरणं बिंदुपातेन जीवनं बिंदुधारणात् ॥ ८८ ॥**

वज्रोलीगुणानाह—एवमिति ॥ एवमुक्तरीत्या बिंदुं यः संरक्षयेत् सम्यक् रक्षयेत् स योगविद्योगाभिज्ञो मृत्युं जयत्यभिभवति । यतो बिंदोः शुक्रस्य पातेन पतनेन मरणं भवति । बिंदोधारणं बिन्दुधारणं तस्माद्बिंदुधारणाजीवनं भवति । तस्माद्बिंदुं संरक्षयेदित्यर्थः ॥ ८८ ॥

भाषार्थ—अब वज्रोलीके गुणोंका वर्णन करते हैं कि, इस प्रकार जो योगी बिंदुको भली प्रकार रक्षा करताहै योगका ज्ञाता वह योगी मृत्युको जीतताहै क्योंकि, बिंदुके पड़नेसे मरण और बिंदुकी रक्षासे जीवन होताहै तिससे बिंदुकी रक्षा करै ॥ ८८ ॥

**सुगंधो योगिनो देहे जायते बिंदुधारणात् ॥**

**यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालमयं कुतः ॥ ८९ ॥**

सुगंध इति ॥ योगिनो वज्रोलीभ्यासिमो देहे बिंदोः शुक्रस्य धारणं तस्मात्सुगंधः शोमनो गंधो जायते प्रादुर्भवति । देहे यावद्बिंदुः स्थिरस्तावत्कालमयं मृत्युमयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ८९ ॥

भाषार्थ—वज्रोलीके अभ्यासकर्ता योगीके देहमें बिंदुके धारण करनेसे सुगंध होजाती है और देहमें जबतक बिंदु स्थिर है तबतक कालका मय कहाँ अर्थात् कालका मय नहीं रहताहै ॥ ८९ ॥

**चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ॥**

**तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥**

चित्तायत्तमिति ॥ हि यस्मान्नृणां शुक्रं वीर्यं चित्तायत्तं चित्ते चले चलत्वाचित्ते स्थिरे स्थिरत्वाचित्ताधीनं जीवितं जीवनं शुक्रायत्तं शुक्रे स्थिरे जीवनाच्छुक्रे नष्टे मरणं शुक्राधीनं तस्माच्छुक्रं बिंदुं मनश्च मानसं च प्रकृष्टाद्यत्नादिति प्रयत्नतः रक्षणीयमेव । अथर्व रक्षणीयमित्यर्थः । एवमशब्दो मित्रक्रमः ॥ ९० ॥

भाषार्थ—जिससे मनुष्योंका शुक्र ( वीर्य ) चित्तके आधीन है अर्थात् चित्तके चलायमान होनेपर चलायमान और चित्तके स्थिर होनेपर स्थिर होजाताहै इससे चित्तके वशीभूत है और मनुष्योंका जीवन शुक्रके आधीन है अर्थात् शुक्रकी स्थिरतासे जीवन और शुक्रकी नष्ट

तासे मरण होताहै इससे जीवन शुक्रके आधीन है तिससे शुक्र ( बिंदु ) और मनकी भली प्रकार यत्नसे रक्षा करै ॥ ९० ॥

**ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिंदुं च रक्षयेत् ॥**

**भेद्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यग्भ्यासयोगवित् ॥ ९१ ॥**

ऋतुमत्या इति । एवं पूर्वोक्तेनाभ्यासेन ऋतुविद्यते यस्याः सा ऋतुमती तस्या ऋतुमत्या ऋतुस्नातायाः स्त्रियो रेतः निजं स्वकीयं बिंदुं च रक्षयेत् । पूर्वोक्ताभ्यासं दर्शयति-भेद्रेणेति । अभ्यासो वज्रोल्ब्यभ्यासः स एव योगो योगसाधनत्वात् वेत्तीत्यभ्यासयोगवित् भेद्रेण गुह्येन्द्रियेण सम्यग्यत्नपूर्वकमूर्ध्वमुपर्याकर्षयेत् । रजो बिंदुं चेति कर्माध्याहारः । अयं श्लोकः क्षिप्तः ॥ ९१ ॥

भाषार्थ-ऋतु हुआ है जिसके ऐसी स्त्रीके रज ( वीर्य ) की और अपने बिंदुकीभी इसी पूर्वोक्त अभ्याससे रक्षा करै अर्थात् ऋतुस्नानके अनंतर रज और वीर्य दोनोंकी रक्षा करै । पूर्वोक्त अभ्यासकोही दिखातेहैं कि, वज्रोलीके अभ्यासरूप योगका ज्ञाता योगी लिंग इंद्रियसे रज और बिंदुका भलीप्रकार ऊपरको आकर्षण करै ( खींचे ) यह श्लोक क्षेपक है अर्थात् मूलका नहीं है ॥ ९१ ॥

**सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्ब्य भेद एकतः ॥**

**जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ ९२ ॥**

सहजोल्यमरोल्यौ विवक्षुस्तयोर्वज्रोलीविशेषत्वमाह-सहजोलिश्चेति ॥ वज्रोल्ब्य भेदो विशेषः सहजोलिमरोलिश्च । तत्र हेतुः-एकतः एकत्वादेकफलत्वादित्यर्थः । एकशब्दाद्भावप्रधानात्पंचम्यास्तासिः । सहजोलिमाह-जल इति । गोः पुरीषाणि गोमयानि दग्धानि च तानि गोमयानि च दग्धगोमयानि तेषु संभव उत्पत्तिर्यस्य तद्दग्धगोमयसंभवं शोभनं भस्म विभूतिः तत् जले तोये निक्षिप्य तोयमिश्रं कृत्वेत्युत्तरश्लोकेनान्वेति ॥ ९२ ॥

भाषार्थ-अब सहजोली और अमरोली मुद्राओंका वर्णन करतेहैं कि, वज्रोलीमुद्राका भेदविशेषही सहजोली और अमरोली हैं, क्योंकि तीनोंका फल एक है उन दोनोंमें सहजोलीमुद्राका वर्णन करतेहैं कि, दग्ध किये हुये गोमयोंका जो सुंदर भस्म है उसको जलमें डालकर अर्थात् जलमिश्रित उस भस्मको करै ॥ ९२ ॥

**वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनम् ॥**

**आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ ९३ ॥**

वज्रोलीति ॥ वज्रोलीमुद्रार्थं मैथुनं तस्मादूर्ध्वमनंतरं सुखेनैवानन्देनैवासीनयोरुपप्लवित्योः क्षणाद्रत्युत्सवान्मुक्तस्त्यक्तो व्यापारो रतिक्रिया याभ्यां तौ मुक्तव्यापारौ तयोर्मुक्तव्यापारयोः स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ तयोः स्त्रीपुंसोः स्वांगलेपनं शोभनान्यङ्गानि शागानि मूर्धललाटनेत्रहृदयस्कंधमुजादीनि तेषु लेपनम् ॥ ९३ ॥

भाषार्थ—वज्रलीमुद्राकी सिद्धिके लिये कियेहुये मैथुनके अनंतर आनंदसे बैठेहुये और उत्साहसे त्याग दियाहै रतिका व्यापार जिन्होंने ऐसे स्त्री और पुरुष दोनों पूर्वोक्त भस्मको अपने मस्तक, शिर, नेत्र, हृदय, स्कंध, भुजा आदि अंगोंपर लेपन करें ॥ ९३ ॥

**सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ॥**

**अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥ ९४ ॥**

सहजोलिरिति ॥ इयमुक्ता क्रिया सहजोलिरिति प्रोक्ता कथिता योगिभिर्मत्स्येन्द्रादिभिः । कीदृशी सदा श्रद्धेया सर्वदा श्रद्धातुं योग्या । अयं सहजोलियाख्या योग उपायः शुभकरः शुभं श्रेयः करोतीति शुभकरः । 'योगः संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इत्यभिधानात् । कीदृशो योगः भोगेन युक्तोऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ ९४ ॥

भाषार्थ—वह पूर्वोक्त भस्मलेपनरूप क्रिया मत्स्येन्द्र आदि योगीजनोंने सहजोलिमुद्रा कहा है और यह योगीजनोंको सदैव श्रद्धा करने योग्य है, यह सहजोलि नामका योग (उपाय) शुभकारी जानना और भोगसे युक्त भी यह योग मोक्षका दाता है ॥ ९४ ॥

**अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ॥**

**निर्मत्सराणां सिद्ध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥ ९५ ॥**

अयं योग इति ॥ अयमुक्तो योगः पुण्यं विद्यते येषां ते पुण्यवतः सुकृतिनस्तेषां पुण्यवतां धीराणां धैर्यवतां तत्त्वं वास्तविकं पश्यतीति' तत्त्वदर्शिनस्तेषां तत्त्वदर्शिनां मत्सरान्निष्क्रान्ता निर्मत्सरास्तेषां निर्मत्सराणामन्यगुणद्वेषरहितानाम् । 'मत्सरोऽन्यगुणद्वेषः' इत्यमरः । तादृशानां पुंसः सिद्ध्येत सिद्धिं गच्छेत् । मत्सरशालिनां मत्सरवतां तु न सिद्ध्येत् ॥ ९५ ॥

भाषार्थ—और यह सहजोलिरूप योग पुण्यवान् और धीर और तत्त्व (ब्रह्म) के जो द्रष्टा हैं और अन्यके गुणोंमें द्वेषरहित (निर्मत्सर) हैं ऐसे पुरुषोंकोही सिद्ध होताहै और जो मत्सरी हैं अन्यके गुणोंमें द्वेष (वैर) के कर्ता हैं उनको सिद्ध नहीं होताहै ॥ ९५ ॥

अथामरोली ।

**पित्तोल्बणत्वात्प्रथमांबुधारां विहाय निःसारतयांत्यधा-  
रा ॥ निषेध्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमतेऽ-  
मरोली ॥ ९६ ॥**

अमरोलीमाह—पित्तोल्बणत्वादिति ॥ पित्तेनोल्बणोत्कटा पित्तोल्बणा तस्या मावः पित्तोल्बणत्वं तस्मात् । यथा प्रथमा पूर्वा या अंबुनः शिवांबुनो धारा ता विहाय शिवांबुनिर्गमनसमये किञ्चित्पूर्वा धारां त्यक्त्वा । निर्गतः सारो यस्याः सा निःसारा तस्या मावो निःसारता तथा निःसारतया निःसारत्वेनांत्यधारा अन्त्या चरमा या धारा तां

बिहाय किंचिदंत्यां धारां त्यक्त्वा । शीतला पित्तादिदोषसाम्बन्धरहिता या मध्यधारा मध्यमा धारा सा निषेव्यते नितरां सेव्यते । खंडो योगविशेषो मतोऽभिमतो यस्य स खंडमतस्तस्मिन् खंडमते कापालिकस्यायं कापालिकस्तस्मिन् कापालिके खण्ड-कापालिकसंप्रदाय इत्यर्थः । अमरोली प्रसिद्धेति शेषः ॥ ९६ ॥

भाषार्थ—अब अमरोलीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, पित्त है उत्त्वप ( अधिक ) जिसमें ऐसी जो प्रथम शिवांबु ( विंदु ) की धारा है उसको और नहीं है सार अंश जिसमें ऐसी जो अन्त्यधारा है उसको छोड़कर अर्थात् पहली और पिछली धाराओंको किंचित् २ त्यागकर पित्त आदि दोष और सारतासे रहित शीतल मध्य धाराका जिस रीतिसे नित्य सेवन ( पान ) कियाजाय वह क्रिया योगविशेष जो खंड उसके माननेवाले कापालिक मतमें अर्थात् खंड-कापालिक मतमें अमरोली नामकी मुद्रा प्रसिद्ध है ॥ ९६ ॥

**अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिनेदिने ॥**

**वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ ९७ ॥**

अमरीमिति ॥ अमरीं शिवांबु यः पुमान् नित्यं पिबेत् । नस्यं कुर्वन् श्वासेनामर्या घ्राणांतर्ग्रहणं कुर्वन् सन् दिनेदिने प्रतिदिनं वज्रोलीं ' मेहनेन शनैः ' इति श्लोकेनोक्तां सम्यगभ्यसेत्साऽमरोलीति कथ्यते । कापालिकैरिति शेषः । अमरी पातामरी । नस्य पूर्विकावज्रोलीमरोलीशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ९७ ॥

भाषार्थ—जो पुरुष शिवांबुरूप अमरीको नासिकासे नित्य पीता है अर्थात् नासिकाके छिद्र-द्वारा अमरीको अंतर्गत करताहै और मैथुनसे प्रतिदिन वज्रोलीका भलीप्रकार अभ्यास करता है उस मुद्राको कापालिक अमरोली कहते हैं अर्थात् नासिकाके छिद्रसे पानकी अमरी वज्रोलीके अनंतर अमरोली कहाती है ॥ ९७ ॥

**अभ्यासान्निःसृतां चांद्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ॥**

**धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ९८ ॥**

अभ्यासादिति ॥ अभ्यासादमरोल्यभ्यासान्निःसृतां निर्गतां चांद्रीं चंद्रस्येयं चांद्री तां चांद्रीं सुधां विभूत्या भस्मना सह साकं मिश्रयेत् संयोजयेत् । उत्तमांगेषु शिरः, कपाले, नेत्रस्कंधकण्ठहृदयभुजादिषु धारयेत् । भस्ममिश्रितां चांद्रीमिति शेषः । दिव्या अती-तानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टपदार्थदर्शनयोग्या दृष्टिर्ह्यस्य स दिव्यदृष्टिर्दिव्यदृक् प्रजायते प्रकर्षेण जायते । अमरीसेवनप्रकारविशेषाः शिवांबुकल्पादवगंतव्याः ॥ ९८ ॥

भाषार्थ—अमरोलीमुद्राके अभ्याससे निकसी जो चंद्रमाकी सुधा ( अमृत ) है उसको विभू-ति ( भस्म ) के संग मिलाकर शिर, कपाल, नेत्र, स्कंध, कंठ, हृदय, भुजा आदि उत्तम अं-गोंमें धारण करे तो मनुष्य दिव्यदृष्टि होजाता है अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान, व्यवहित और विप्रकृष्ट ( दूर ) के जो पदार्थ उनके देखनेयोग्य दृष्टि होजाती है और अमरीसेवनके भेद तो शिवांबुकल्पग्रंथसे जानने ॥ ९८ ॥

पुंसो बिंदुं समाकुंच्य सम्यग्भ्यासपाटवात् ॥

यदि नारी रजो रक्षेद्रजोल्या सापि योगिनी ॥ ९९ ॥

पुंसो वज्रोलीसाधनमुक्त्वा नार्यास्तदाह—पुंसो बिंदुमिति ॥ सम्यग्भ्यासस्य सम्यग्भ्यसनस्य पाटवं पटुत्वं तस्मात्पुंसः। पुरुषस्य बिंदुं वीर्यं समाकुंच्य सम्यगाकृष्य नारी स्त्री यदि रजो वज्रोल्या वज्रोलीमुद्रया रक्षेत् । सापि नारी योगिनी प्रशस्तयोगवती ज्ञेया 'पुंसो बिंदुसमायुक्तम्' इति पाठे तु एतद्रजसो विशेषणम् ॥ ९९ ॥

भाषार्थ—पुरुषको वज्रोलीके साधनको कहकर नारीकी वज्रोलीके साधनको वर्णन करते हैं कि मलीप्रकारसे कियेहुये अभ्यासकी चतुरतासे पुरुषके बिंदुका मलीप्रकार आकर्षण करके यदि नारी वज्रोलीमुद्रासे अपने रजकी रक्षा करे तो वह भी योगिनी जाननी (पुंसो बिंदुसमायुक्तं) यह पाठ होय तो यह अर्थ समझना कि, पुरुषके बिंदुसे युक्त अपने रजकी रक्षा करे तो वह नारी योगिनी होती है ॥ ९९ ॥

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ॥

तस्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति ॥ १०० ॥

नारीकृताया वज्रोल्याः फलमाह—तस्या इति ॥ तस्या वज्रोल्याभ्यसनशौलायाः मर्या रजः किंचित् किमपि स्वल्पमपि नाशं न गच्छति नष्टं न भवति पतनं न प्राप्नोतीत्यर्थः । अत्र संशयो न संदेहो न । तस्या नार्याः शरीरे नादश्च बिंदुतामेव गच्छति । मूलाधारादुत्थितो नादो हृदयोपरिबिंदुभावं गच्छति । बिंदुना सहैकीभवतात्यर्थः । अमृतसिद्धौ—'बीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्भवम् । अनयोर्बाह्ययोगेन सृष्टिः संजायते नृणाम् ॥ यदाभ्यंतरयोगः स्यात्तदा योगीति गीयते । बिंदुश्चंद्रमयः प्रोक्तो रजः सूर्यमयं तथा ॥ अनयोः संगमादेव जायते परमं पदम् । स्वर्गदो मोक्षदो बिंदुधर्मदोऽधर्मदस्तथा ॥ तन्मध्ये देवताः सर्वास्तिष्ठन्ते सूक्ष्मरूपतः' इति ॥ १०० ॥

भाषार्थ—अब नारीकी कीहुई वज्रोलीके फलको कहते हैं कि, वज्रोलीके अभ्यास करनेमें शौलवती उस नारीका किंचित् भी रज नष्ट नहीं होता है अर्थात् अपने स्थानसे पतित नहीं होता इसमें संशय नहीं है और उस नारीके शरीरमें नादभी बिंदुरूपको प्राप्त होजाताहै अर्थात् मूलाधारसे उठाहुआ नाद हृदयके ऊपर बिंदुके संग एक होजाता है अमृतसिद्धिग्रंथमें लिखा है कि पुरुषके वीर्यको बीज और नारीके वीर्यको रज कहते हैं इन दोनोंका देहसे बाहर योग होनेसे मनुष्योंके संतान होती है यदि दोनोंका भीतरही योग होजाय तो वह योगी कहा जाता है उन दोनोंमें बिंदु चंद्रमय है और रज सूर्यमय है इन दोनोंके संगमसे परम पद होता है और यह बिंदु स्वर्ग, मोक्ष, धर्म और अधर्मका दाता है उस बिंदुके मध्यमें सूक्ष्मरूपसे संपूर्ण देवता टिकते हैं ॥ १०० ॥

स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ॥

वज्रोत्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥ १०१ ॥

स बिंदुरिति ॥ स पुंसो बिंदुस्तद्रजो नार्यो रजश्चैव वज्रोलीमुद्राया अभ्यासो वज्रोत्यभ्यासः स एव योगस्तेनैकीभूय मिलित्वा स्वदेहगौ स्वदेहे गतौ सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः दत्तः ॥ १०१ ॥

भाषार्थ—पुरुषका वह बिंदु और नारीका वह रज दोनों एक होकर वज्रोलीमुद्राके अभ्यास-योगसे यदि अपने देहहीमें स्थित रहजाँय तो सम्पूर्ण सिद्धियोंको देते हैं ॥ १०१ ॥

रक्षेदाकुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ॥

अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्भ्रुवम् ॥ १०२ ॥

रक्षेदिति ॥ या नार्यकुंचनाद्योनिसंकोचनादूर्ध्वमुपरिस्थाने नीत्वा रजो रक्षेत् ॥ हीति प्रसिद्धं योगशास्त्रे । सा योगिन्यतीतानागतं भूतं भविष्यं च वस्तु वेत्ति जानाति । भ्रुवमिति निश्चितम् । खेऽन्तरिक्षे चरतीति खेचर्यन्तरिक्षचरी भवेत् ॥ १०२ ॥

भाषार्थ—जो नारी अपनी योनिके संकोचसे रजको ऊर्ध्वस्थानमें लेजाकर रजकी रक्षा करे वह योगिनी होती है और भूत, भविष्यत्, वर्तमान वस्तुको जान सकती है और यह निश्चित है कि वह खेचरी होती है अर्थात् उसको आकाशमें गमन करनेका सामर्थ्य होजाताहै १०२

देहसिद्धिं च लभते वज्रोत्यभ्यासयोगतः ॥

अयं पुण्यकरो योगो भोगो भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥ १०३ ॥

देहसिद्धिमिति ॥ वज्रोल्या अभ्यासस्य योगो युक्तिस्तस्माद्देहस्य सिद्धिं रूपलाव-  
ण्यबलवज्रसंहननत्वरूपां लभते । अयं योगो वज्रोत्यभ्यासयोगः पुण्यकरोऽदृष्टविशो  
षजनकः । कीदृशो योगः भुज्यत इति भोगो विषयस्तस्मिन् भुक्तेऽपि मुक्तिदो  
मोक्षदः ॥ १०३ ॥

भाषार्थ—और वज्रोलीके अभ्यासयोगसे रूप, लावण्य, वज्रोलीकी तुल्यतारूप देहकी सिद्धिको प्राप्त होती है और यह वज्रोलीके अभ्यासका योग पुण्यका उत्पादक है और भोगोंके भोगनेपरभी मुक्तिको देता है ॥ १०३ ॥

अथ शक्तिचालनम् ।

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ॥

कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥ १०४ ॥

शक्तिचालनं विवक्षुस्तदुपोद्धाततया । कुंडलीपर्यायान् तथा मोक्षद्वारविमेदनादिकं  
चाह सप्तभिः—कुटिलांगीति ॥ कुटिलांगी १, कुंडलिनी २, भुजंगी ३, शक्तिः ४,

ईश्वरी ५, कुण्डली ६, अरुंधती ७, चैते सप्त शब्दाः पर्यायवाचका एकार्थ-  
वाचकाः ॥ १०४ ॥

भाषार्थ—शक्तिचालनमुद्रा कहनेके अभिलाषी आचार्य कुंडलिनीके पर्याय और कुंडलिनीसे मोक्षद्वारविभेदन (खोलना) आदिका वर्णन करते हैं कि, कुटिलांगी १, कुंडलिनी २, मुजंगी ३, शक्ति ४, ईश्वरी ५, कुंडली ६, अरुंधती ७, ये सात शब्द पर्यायवाचक हैं अर्थात् सातोंका एकही अर्थ है ॥ १०४ ॥

**उद्धाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ॥**

**कुंडालिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥ १०५ ॥**

उद्धाटयेदिति ॥ यथा येन प्रकारेण पुमान् कुंचिकया कपाटार्गलोत्सारणसाधनी-  
भूतया हठाद्वलात्कपाटमरमुद्धाटयेदुत्सारयेत् । हठादिति देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र  
संबध्यते । तथा तेन प्रकारेण योगी हठाद्धठाभ्यासात्कुंडालिन्या शक्त्या मोक्षद्वारं  
मोक्षस्थ द्वारं प्रापकं सुषुम्नामार्गं विभेदयेद्विशेषेण भेदयेत् । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति'  
इति श्रुतेः ॥ १०५ ॥

भाषार्थ—जैसे पुरुष कपाटों ( किवाँड ) के अर्गल ( ताला ) आदिको हठ ( बल ) से  
कुंचिका ( ताली ) से उद्घाटन करता है, तिसीप्रकार योगीभी हठयोगके अभ्याससे कुंडलिनी-  
मुद्राकेद्वारा अर्थात् मोक्षके दाता सुषुम्नाके मार्गको भेदन करता है क्योंकि श्रुतिमें लिखा है  
कि, सुषुम्ना मार्गसे ऊपर ( ब्रह्मलोक ) को जाताहुआ मोक्षको प्राप्त होता है ॥ १०५ ॥

**येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥**

**मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ १०६ ॥**

येनेति ॥ आमयो रोगजन्यं दुःखं दुःखमात्रोपलक्षणं तस्मान्निर्गतं निरामयं  
दुःखमात्ररहितं ब्रह्मस्थानं ब्रह्माविर्भावजनकं स्थानं ब्रह्मस्थानं ब्रह्मरंध्रम् । 'तस्याः  
शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । येन मार्गेण सुषुम्नामार्गेण  
यत्तव्यं गमनार्हमस्ति तद्द्वारं तस्य मार्गस्थ द्वारं प्रवेशमार्गं मुखेनास्येनाच्छाद्य  
रुद्धा परमेश्वरी कुंडालिनी प्रसुप्ता निद्रितास्ति ॥ १०६ ॥

भाषार्थ—रोगसे उत्पन्न हुआ दुःखरूप आमय जिसमें नहीं है ऐसा ब्रह्मस्थान जिस मार्गसे  
जाने योग्य होता है अर्थात् जिस मार्गसे ब्रह्मस्थानको जाते हैं क्योंकि श्रुतिमें लिखा है कि,  
उस सुषुम्नाकी शिखाके मध्यमें परमात्मा स्थित है उस सुषुम्ना मार्गके द्वारको मुखसे  
आच्छादन करके अर्थात् रोककर परमेश्वरी ( कुंडलिनी ) सोती है ॥ १०६ ॥

**कंदोर्ध्वं कुंडली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ॥**

**वर्षनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ १०७ ॥**

कंदोर्ध्वमिति ॥ कुंडली शक्तिः कंदोर्ध्वं कंदस्योपरिभागे योगिनां मोक्षाय सुप्ता  
मूढानां बंधमाय सुप्ता । योगिनस्तां चालयित्वा मुक्ता भवन्ति । मूढास्तदज्ञानाद्गुहा-  
स्तिष्ठन्तीति भावः । तां कुंडलिनीं यो वेत्ति स योगवित् । सर्वेषां योगतंत्राणां कुंड-  
ल्याश्रयत्वादित्यर्थः ॥ १०७ ॥

भाषार्थ—कंदके ऊपरभागमें सोतीहुई कुंडलिनी योगीजनोंके मोक्षार्थ होती है और वह पू-  
र्वोक्त कुंडलिनी मूढोंके बंधनार्थ होती है अर्थात् योगीजन कुंडलिनीको चलाकर मुक्त होजा-  
ते हैं और उसके अज्ञानी मूढ बंधनमें पड़े रहते हैं उस कुंडलिनीको जो जानता है वही  
योगका ज्ञाता है क्योंकि संपूर्ण योगके तंत्र कुंडलिनीके अधीन हैं ॥ १०७ ॥

**कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ॥**

**सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥ १०८ ॥**

कुंडलीति ॥ कुंडली शक्तिः सर्पवद्भुजवत्कुटिल आकारः स्वरूपं यस्याः सा  
कुटिलाकारा परिकीर्तिता कथिता योगिभिः । सा कुंडली शक्तियेन पुंसा चालिता मूला  
धारादूर्ध्वं नीता स मुक्तोऽज्ञानबंधान्निवृत्तः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न संदेहो नास्ती-  
त्यर्थः । 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः ॥ १०८ ॥

भाषार्थ—योगीजनोंने जो सर्पके समान कुटिल है आकार जिसका ऐसी कहीहै वह कुंडली  
शक्ति जिसने चलादी है अर्थात् मूलधारसे ऊपर पहुँचादी है वह मुक्त है अर्थात् बंधनसे  
निवृत्त है इसमें संशय नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त श्रुति है कि, उस सुषुम्नासे ऊपरको जाताहुआ  
योगी मोक्षको प्राप्त होता है ॥ १०८ ॥

**गंगायमुनयोर्मध्ये बालरंदां तपस्विनीम् ॥**

**बलात्कारेण गृहीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १०९ ॥**

गंगायमुनयोरिति ॥ गंगायमुनयोराधाराधेयभावेन तयोर्भावनाद्गंगायमुनयोरभेदेन  
भावनाद्वा गंगायमुने इडापिंगले तयोर्मध्ये सुषुम्नामार्गे तपस्विनी निरशनस्थितेः । बाल-  
रंदां बालरंदाशब्दवाच्यां कुंडलीं बलात्कारेण हठेन गृहीयात् । तत्तस्या गंगायमुनयो-  
र्मध्ये ग्रहणं विष्णोर्हरेर्व्यापकस्यात्मनो वा परमं पदं परमपदप्रापकम् ॥ १०९ ॥

भाषार्थ—गंगा यमुना हैं आधार जिनके वा गंगा यमुनारूप जो इडा पिंगला नाडी हैं उनके  
मध्यमें अर्थात् सुषुम्नाके मार्गमें तपस्विनी अर्थात् भोजनरहित बालरंदा है उसको बलात्कार  
( हठयोग ) से ग्रहण करे वह उस कुंडलीका जो बलात्कारसे ग्रहण है वही व्यापकरूप  
विष्णुके परमपदका प्रापक है ॥ १०९ ॥

**इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ॥**

**इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंदा च कुंडली ॥ ११० ॥**

गंगायमुनादिपदार्थमाह—इडेति ॥ इडा वामनिःश्वासा नाडी भगवत्यैश्वर्यादिसंपन्ना गंगा गंगापदवाच्या, पिंगला दक्षिणनिःश्वासा यमुना यमुनाशब्दवाच्या नदी । इडा-पिंगलयोर्मध्ये मध्यगता या कुण्डली सा बालरंडा बालरंडाशब्दवाच्या ॥ ११० ॥

भाषार्थ—अब गंगा यमुना आदि पदार्थोंका वर्णन करते हैं कि, इडा अर्थात् वामनिःश्वास-की नाडी भगवती गंगा कहाती है और पिंगलाके अर्थात् दक्षिणनिःश्वासकी नाडी यमुना नदी कहाती है और इडा और पिंगला मध्यमें वर्तमान जो कुंडली है वह बालरंडा कहातीहै ॥ ११० ॥

**पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुतामुद्धोषयेच्च ताम् ॥**

**निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते इठात् ॥ १११ ॥**

शक्तिचालनमाह—पुच्छे इति ॥ सुतां निद्रितां भुजगीं तां कुंडलिनीं पुच्छे प्रगृही-त्त्वोद्धोषयेत्प्रबोधयेत्सा, शक्तिः कुंडली निद्रां विहाय इठादूर्ध्वं तिष्ठत इत्यन्वयः । एतद्रहस्यं तु गुरुमुखादवगतव्यम् ॥ १११ ॥

भाषार्थ—अब शक्तिचालनमुद्राका वर्णन करते हैं कि सोतीहुई भुजगी ( कुंडली ) के पुच्छ-को ग्रहण करके उस भुजगीका प्रबोधन करे ( जगावे ) तो वह कुंडली निद्राको त्यागकर हठ-से ऊपरको स्थित होजाती है इसका रहस्य ( गुप्तक्रिया ) तो गुरुमुखसे जानने योग्य है ॥ १११ ॥

**अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ॥**

**प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ११२ ॥**

अवस्थिता इति । अवस्थितावार्क स्थिता मूलाधारस्थिता फणावती भुजगीं सा कुंड-लिनी सूर्योदापूर्व सूर्यात्पूरणं कृत्वा परिधाने युक्तिस्तया परिधानयुक्त्या प्रगृह्य गृहीत्वा । सायं सूर्यास्तसमये प्रातः सूर्योदयवेलायां नित्यमहरहः प्रहरस्य यामस्यार्धं प्रहरार्धं प्रहरार्द्धमेव प्रहरार्धमात्रं मुहूर्तद्वयमात्रं परिचालनीया परितश्चालयितुं योग्या । परिधानयुक्तिर्देशिकाद्बोद्ध्या ॥ ११२ ॥

भाषार्थ—नीचे मूलाधारमें स्थित वह फणावती कुंडलिनी सूर्यसे पूरण करनेके अनंतर परि-धानमें जो युक्ति है उससे ग्रहण करके सायंकाल और प्रातःकालके समय प्रतिदिन आधे प्रहर पर्यंत चारों तर्फ चालन करने योग्य है परिधानकी युक्ति गुरुमुखसे जाननी चाहिये ॥ ११२ ॥

**ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ॥**

**मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ॥ ११३ ॥**

कंदसंपीडनेन शक्तिचालनं विवक्षुरादौ कंदस्य स्थानं स्वरूपं चाह—ऊर्ध्वमिति ॥ मूलस्थानाद्वितस्तिमात्रं वितस्तिप्रमाणपूर्वमुपरिनाभिमेद्वयोर्मध्ये । एतेन कंदस्य स्थान-मुक्तम् । तथा चोक्तं गोरक्षशतके—“ ऊर्ध्वं मेद्रादधो नाभेः कंदयोनिः खणाडवत् । तत्र जाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां दिसप्ततिः ” इति । याज्ञवल्क्यः—“ गुदात्तु द्व्यंगुलादूर्ध्वं

मेद्वाचद्व्यंगुलादधः । देहमध्यं तनोर्मध्यं मनुजानामितोरितम् ॥ कंदस्थानं मनुष्याणां देह  
मध्यान्नवांगुलम् । चतुरंगुलविस्तारमायामं च तथाविधम् ॥ अंडाकृतिवदाकारमूषितं च  
त्वगादिभिः । 'चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुंदमध्यगम्' इति । गुदादद्व्यंगुलोपर्येकांगुलं  
मध्यं तस्मान्नवांगुलं कंदस्थानं मिलित्वा द्वादशांगुलप्रमाणं वितस्तिमात्रं जातम् । चतुर्णां  
मङ्गुलीनां समाहारश्चतुरङ्गुलं चतुरंगुलप्रमाणं विस्तारम् । 'विस्तारो दैर्घ्यस्याप्युपलक्ष-  
णम् । चतुरंगुलं दीर्घं च मृदुलं कोमलं धवलं शुभ्रं वेष्टितं वेष्टनाकारीकृतं यदंबरं वस्त्रं  
तस्य लक्षणं स्वरूपमिव लक्षणं स्वरूपं यस्य तादृशं प्रोक्तं कथितम् । कंदस्वरूपं  
योगिभिरिति शेषः ॥ ११३ ॥

भाषार्थ—कंदके पीडनेसे शक्तिचालनके कथनाभिलाषी आचार्य प्रथम कंदके स्थान और  
स्वरूपका वर्णन करते हैं कि, मूलस्थानसे वितस्तिभर ऊपर अर्थात् नाभिस्थल और लिंगके  
मध्यमें इस वर्णनसे कंदका स्थान कहा सोई गोरक्षनाथने कहा है कि लिंगसे ऊपर और नाभिसे  
नीचे पक्षियोंके अंडेके समान कंदकी योनि है उसमें वहतर सहस्र नाडी उत्पन्न हुई हैं। याज्ञ-  
वल्क्यने कहा है कि, गुदासे दो अंगुल ऊपर लिंगसे दो अंगुल नीचे मनुष्योंके देह ( तनु ) का  
मध्य कहा है मनुष्योंका कंदस्थान देहके मध्यसे नौ अंगुल ऊपर चार अंगुल चौड़ा और चार  
अंगुल लंबा है और त्वचा आदिसे अंडाकारके समान शोभित है और तिरछी योनियोंके और  
पक्षियोंके और तुंद मध्यमें होता है अर्थात् गुदाके दो अंगुलोंसे ऊपर एक अंगुलका  
मध्य और उससे नौ अंगुल कंदस्थान हुआ, ये सब मिलकर बारह अंगुलका प्रमाण जिसका  
ऐसा वितस्तिमात्र हुआ और वह कंदस्थान चार अंगुल और कोमल और धवल और वेष्टित  
किये ( लपेट ) वस्त्रके समान है रूप जिसका ऐसा योगीजनोंने कहा है । भाषार्थ—यह है कि,  
मूलस्थानसे ऊपर वितस्तिमात्र चार अंगुलभर कोमल शुद्ध लपेटे हुये वस्त्रके समान कंदस्थान  
योगीजनोंने कहा है ॥ ११३ ॥

**सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥  
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ॥ ११४ ॥**

सतीति ॥ वज्रासने कृते सति कराभ्यां हस्ताभ्यां गुल्फौ पादग्रन्थी तयोर्देशौ  
प्रदेशौ तयोः समीपे गुल्फाभ्यां किंचिदुपरि । 'तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ' इत्यमरः ।  
पादौ चरणौ दृढं गाढं धारयेत् गुह्नीयात् । चकारादृताभ्यां पादाभ्यां तत्र कंदस्थाने  
कंदं प्रपीडयेत्प्रकर्षेण पीडयेत् । गुल्फादूर्ध्वं कराभ्यां पादौ गृहीत्वा नाभेरधोभागे कंदं  
पीडयेदित्यर्थः ॥ ११४ ॥

भाषार्थ—वज्रासन करनेके अनंतर हाथोंसे गुल्फोंके समीपके स्थानमें दोनों चरणोंको दृढ-  
तासे धारण करै अर्थात् गुल्फोंके कुछेक ऊपरके भागमें चरणोंको हाथोंसे खूब पकड़े और  
हाथोंसे पकड़े हुये पादोंसे कंदके स्थानमें कंदको पीडित करै अर्थात् गुल्फसे ऊपर पादोंको  
हाथोंसे पकड़कर नाभिके अधोभागमें कंदको पीडित करै ( दाबे ) ॥ ११४ ॥

**वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम् ॥**

**कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुंडलीमाशु बोधयेत् ॥ ११५ ॥**

वज्रासन इति ॥ वज्रासने स्थितो योगी कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनमुद्रां कृत्वेत्यर्थः । अनंतरं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रां भस्त्रारूपं कुम्भकं कुर्यात् । एवं गीत्या कुंडलीं शक्तिमाशु शीघ्रं बोधयेत्प्रबुद्धां कुर्यात् । वज्रासने शक्तिचालनस्य पूर्वं विधानेऽपि पुनर्वज्रासनेऽपपादनं शक्तिचालनानंतरं भस्त्रायां वज्रासनमेव कर्तव्यमिति नियमार्थम् ॥ ११५ ॥

भाषार्थ—वज्रासनमें स्थित (बैठा हुआ) योगी कुंडलीको चलाकर अर्थात् शक्तिचालन मुद्राको करके उसके अनंतर अर्थात् शक्तिचालनके पीछे भस्त्रानामके कुम्भक प्राणायामको करे, इस रीतिसे कुंडलीका शीघ्र प्रबोधन करे यद्यपि वज्रासनमें शक्तिका चालन पहिले कह जाये हैं फिर जो वज्रासनका कथन है वह इस नियमके लिये है कि, शक्तिचालनके अनंतर नत्रामें वज्रासनही करना, अन्य नहीं ॥ ११५ ॥

**भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः ॥**

**मृत्युवक्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ११६ ॥**

भानोरिति ॥ भानोर्नाभिदेशस्थस्य सूर्यस्याकुंचनं कुर्यात् । नाभेराकुंचनेनैव तस्याकुंचनं भवति । ततो भानोराकुंचनात्कुंडलीं शक्तिं चालयेत् । एवं यः करोति मृत्योर्वक्रं मुखं गतस्यापि प्राप्तस्यापि तस्य पुंसो मृत्युभयं कालभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ११६ ॥

भाषार्थ—नाभिदेशमें स्थित सूर्यका आकुंचन करे और वह सूर्यको आकुंचन नाभिके आकुंचनसेही होता है, फिर सूर्यके आकुंचनसे कुंडली शक्तिका चालन करे, जो योगी इस प्रकारकी क्रियाको करता है मृत्युके मुखमें गये हुयेभी उस योगीको कालका भय किस प्रकार हो सकता है ? अर्थात् मृत्युका भय नहीं रहता ॥ ११६ ॥

**मुहूर्तद्वयपर्यंतं निर्भयं चालनादसौ ॥**

**ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्रता ॥ ११७ ॥**

मुहूर्तद्वयमिति ॥ मुहूर्तयोर्द्वयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्पर्यंतं तदवधि निर्भयं निःशंकं चालनादसौ शक्तिः सुषुम्नायां समुद्रता सती किंचिदूर्ध्वमाकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ ११७ ॥

भाषार्थ—दो मुहूर्त अर्थात् चार घड़ीपर्यंत निर्भय (अवश्य) चलायमान करनेसे सुषुम्नामें प्राप्त हुई यह शक्ति (कुंडली) किंचित् (कुछ) ऊपरको खिंच जाती है ॥ ११७ ॥

**तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम् ॥**

**जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥ ११८ ॥**

तेनोति ॥ तेनोर्ध्वमाकर्षणेन कुंडली तस्याः प्रासिद्धायाः सुषुम्नायां मुखं प्रवेशमार्गं

ध्रुवं निश्चितं जहाति त्यजति । तस्मान्मार्गत्यागादयं प्राणवायुः स्वतः स्वयमेव सुषुम्नां  
व्रजति गच्छति । सुषुम्नामुखात्प्रागेव कुण्डलिन्या निर्गतत्वादिति भावः ॥ ११८ ॥

भाषार्थ-तिस उपरको आकर्षण करनेसे उस प्रसिद्ध सुषुम्नाके मुख अर्थात् प्रवेशके मार्ग-  
को निश्चयसे त्याग देती है तिस मार्गके त्यागसे प्राणवायु स्वतः ( स्वयं ) ही सुषुम्नामें प्रविष्ट  
होजाताहै क्योंकि, कुंडलिनी तो सुषुम्नाके मुखपरसे पहिलेही चली गई, अवरोधके अभाव  
होनेसे प्राणकी स्वयंही प्रवेश होजाता है ॥ ११८ ॥

**तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम् ॥**

**तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ११९ ॥**

तस्मादिति ॥ यस्माच्छक्तिचालनेन प्राणः सुषुम्नां व्रजति तस्मात्सुखेन सुप्ता सुख-  
सुप्ता तां सुखसुप्तामरुंधतीं शक्तिं नित्यं प्रतिदिनं संचालयेत्सम्यक् चालयेत् ।  
तस्याः शक्तेः संचालनेनैव संचालनमात्रेण योगी रोगैः कासश्वासजरादिभिः प्रमुच्यते  
प्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ ११९ ॥

भाषार्थ-जिससे शक्तिके चालनसे प्राण सुषुम्नामें प्राप्त होता है तिससे सुखसे सोई हुई अरु-  
ंधती ( कुंडलिनी ) को नित्य भलीप्रकार चलायमान करे क्योंकि तिस शक्तिके चलायमान  
करनेसेही रोगी कास श्वास जरा आदि रोगोंसे निवृत्त होजाताहै ॥ ११९ ॥

**येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ॥**

**किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १२० ॥**

येनेति ॥ येन योगिना शक्तिः कुण्डली संचालिता स योगी सिद्धीनामाणिमा-  
दीनां भाजनं पात्रं भवति । अत्रास्मिन्नर्थे बहुक्तेन बहुप्रशंसनेन किं, न किमपीत्यर्थः ।  
कालं मृत्युं लीलया क्रीडयानायासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः ॥ १२० ॥

भाषार्थ-जिस योगीने शक्ति चलायमान करली है वह योगी अणिमा आदि सिद्धियोंका पात्र  
होजाता है और इसमें अधिक कहनेसे क्या है कालकोभी लीलसे अर्थात् अनायाससे जीत  
लेताहै ॥ १२० ॥

**ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ॥**

**मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्यभ्यासयोगिनः ॥ १२१ ॥**

ब्रह्मचर्येति ॥ ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तस्मिन् रतस्य तत्परस्य  
नित्यं सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थांशवार्जितमश्नातीति तस्य कुण्डल्यभ्यासः शक्ति-  
चालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति स तथा तस्य मंडलाच्चत्वारिंशदिनात्मका-  
दनंतरं सिद्धिः प्राणायामासिद्धिर्दृश्यते ॥ “नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोऽतिदीर्घो-  
कृतश्रद्धाभःपरिपूरितामृततनुः प्राग्घटिकायास्ततः । छित्वा कालविशालवह्निवश्र्गं भूर-  
धनादीगतं तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नं ध्रुवं स्कंधवत्” ॥ १२१ ॥

भाषार्थ—श्रोत्र आदि इंद्रियोंसहित लिंगके संयममें तत्पर जो योगी है और नित्य हितकारी प्रमित अर्थात् चतुर्थांशसे न्यून भोजन करता है शक्तिचालनके अभ्यासी उस योगीको मंडल ( ४० दिन ) के अनन्तर प्राणायामकी सिद्धिको देखते हैं सोई कहा है कि, नासिकाके दक्षिणमार्गमें बहनेवाले पवनसे अत्यंत बंदाया और घंटिका ( कंठ . ) से पूर्व चंद्रमाके समान अमृत है शरीर जिसका ऐसा प्राण जिसके अनंतर विशालकाल और अग्नि ये वशमें हुई उस कुंडलीके अभ्यासशील योगीकी कायाको झुकुटीके छिद्रमें वर्तमान नाडीमें पहुँचकर और कायाका छेदन करके इस प्रकार पुनः अत्यंत नवीन करता है जैसे छेदन करनेसे वृक्षका स्तंभ ( डाली ) नवीन होजाता है ॥ १२१ ॥

**कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ॥**

**एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ १२२ ॥**

कुंडलीमिति ॥ कुंडलीं चालयित्वा शक्तिचालनं कृत्वा । अथानंतरमेव भस्त्रां मस्त्रारण्यं कुंभकं कुर्यात् । नित्यं प्रतिदिनम् । एवमुक्तप्रकारेणाभ्यसतो यमिनो योगिनो यममीर्यमाद्भ्यं कुतः न कुतोऽपीत्यर्थः । योमिनो देहत्यागस्य स्वाधीनत्वादिति तात्पर्यम् ॥ १२२ ॥

भाषार्थ—कुंडलीको चलायमान करके उसके अनंतरही विशेषकर भस्त्रानामके कुंभकप्राणायामको करे। इस प्रकार प्रतिदिन अभ्यास करताहुआ जो यमी ( योगी ) है उसको यमका भय कहाँ रहताहै, क्योंकि योगीके देहका त्याग अपने अधीन होता है ॥ १२२ ॥

**द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ॥**

**कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते ॥ १२३ ॥**

द्वासप्ततीति ॥ द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिः सहस्राणि तेषां तत्संख्याकानां नाडीनां मलशोधने कर्तव्ये सति कुण्डल्यभ्यसनाच्छक्तिचालनाभ्यासादृते विना कुतः प्रक्षालनोपायः । न कुतोऽपि । शक्तिचालनाभ्यासेनैव सर्वासां नाडीनां मलशोधनं भवतीत्यभिप्रायः ॥ १२३ ॥

भाषार्थ—बहत्तर सहस्र नाडियोंकी मलशुद्धिके करनेमें शक्तिचालनके विना प्रक्षालन ( धोना ) का अन्य कौन उपाय है अर्थात् कोई नहीं है, शक्तिचालनमुद्राके करनेसेही संपूर्ण नाडियोंके मलकी शुद्धि होती है ॥ १२३ ॥

**इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ॥**

**आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ १२४ ॥**

इयं त्विति ॥ इयं मध्यमा नाडी सुषुम्ना योगिनां दृढाभ्यासेनासनं स्वास्तिकादि प्राणसंयामः प्राणायामः मुद्रा महासुद्रादिका तैः सरला ऋज्वी भवेत् ॥ १२४ ॥

भाषार्थ—यह सुषुप्तरूप मध्यमनाडी योगियोंके हठअभ्याससे स्वस्तिक आदि आसन प्राणायाम और महामुद्रा इनके करनेसे सरल होजाती है ॥ १२४ ॥

**अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ॥**

**रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥ १२५ ॥**

अभ्यास इति ॥ समाधिनेतरवृत्तिनिरोधरूपेणैकाग्र्येण मनो धृत्वांतरकरणं धारणा-निष्ठं कृत्वाभ्यासे मनःस्थितौ यत्ने विगता निद्रा येषां ते तथा तेषाम् । निद्रापदमालस्योपलक्षणम् । अनलसानामित्यर्थः । रुद्राणी शांभवी मुद्रा वा अथवा परान्या उन्मन्यादिका भद्रां शुभां सिद्धिं योगसिद्धिं प्रयच्छति ददाति । एतेन हठयोगोपकारको राजयोगः प्रोक्तः ॥ १२५ ॥

भाषार्थ—अन्यविषयोंसे वृत्तिके रोकनेसे चित्तकी एकाग्रतारूप समाधिसे मनको धारणामें स्थित करके अभ्यास करनेमें जो निद्रा और आलस्यसे रहित हैं उनको शांभवी मुद्रा वा अन्य उन्मनी आदि मुद्रा शोभन योगसिद्धिको देती हैं इससे यह कहा कि, हठयोग राजयोगका उपकारक है ॥ १२५ ॥

**राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ॥**

**राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥ १२६ ॥**

राजयोगं विना आसनादीनां वैयर्थ्यमौपचारिकश्लेषेणाह—राजयोगमिति ॥ वृत्त्यन-रनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारवाहिकानिर्विकल्पकवृत्तिः राजयोगः । ‘हठं विना राजयोग इत्यत्र सूचितस्तत्साधनाभ्यासो वा तं विना तन्मृते पृथ्वीशब्देन स्वैर्यगुणः राजयोगो गादासनं लक्ष्यते । राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धिरिति हेतुरग्रेऽपि योजनीयः राजयोगं विना निशेव निशा कुम्भको न राजते निशायां प्रायेण राजजनसंचारमावात । निशाशब्देन प्राणसंचाराभावलक्षणः कुम्भको लक्ष्यते । राजयोगं विना मुद्रा महामुद्रादिरूपा विचित्रापि विविधापि विलक्षणापि वा न राजते न शोभते । पक्षांतरे । राज्ञो नृपस्य योगो राजयोगो राजसंबंधस्तं विना पृथ्वी भूमिर्न राजते । ‘शास्तारं विना भूमौ नानोपद्रवसंभवात्’ । राजा चन्द्रः । ‘सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा’ इति श्रुतेः । तस्य योगं संबंधं विना निशा रात्रिर्न राजते । राजयोगं विना नृपसंबंधं विना मुद्रां राजभिः पत्रेषु क्रियमाणाश्रितविशेषः । विचित्रापि पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणापि । निशापक्षे ग्रहनक्षत्रादिभिर्विचित्रापि । मुद्रापक्षे रेखाभिर्विचित्रापि न राजते ॥ १२६ ॥

भाषार्थ—अब राजयोगके विना आसन आदिकी निष्फलताको उपचारसे वर्णन करते हैं कि अन्यवृत्तियोंको रोककर आत्मविषयक जो धारावाहिक निर्विकल्प मनकी वृत्ति उसे राजयोग कहते हैं और वह राजयोग—‘हठके विना राजयोग वृथा है’ इस वचनमें सूचित कर आये हैं उस राजयोगके वा उसके साधनोंके विना पृथ्वी (स्थिता) शोभित नहीं होती है यहां पृथ्वी-

शब्दसे स्थिरता और राजयोगपदसे आसन लेना अर्थात् राजयोगके विना परमपुरुषार्थ ( मोक्ष ) रूप मोक्ष नहीं होसकता, यह हेतु आगेभी सम्पूर्ण वाक्योंमें समझना और राजयोगके विना निशा शोभित नहीं होती अर्थात् निशाके समान कुंभकप्राणायाम शोभित नहीं होता है, क्योंकि जैसे निशामें राजपुरुषोंका संचार नहीं होता है इसी प्रकार कुंभकमें प्राणोंका संचार नहीं होता है इससे निशापदसे कुंभक लेते हैं और राजयोगके विना विचित्र भी मुद्रा अर्थात् अनेक प्रकारकी वा विलक्षण महामुद्रा आदि मुद्रा शोभित नहीं होती है पक्षांतरमें इस श्लोकका यह अर्थ है कि, राजाके संबन्ध विना रत्न आदिके उत्पन्न करनेवालीभी पृथ्वीकी शोभा नहीं है क्योंकि राजाकी शिक्षाके विना नाना उपद्रव भूमिमें होत हैं और राजा ( चन्द्रमा ) के सम्बन्ध विना ग्रहनक्षत्रोंसे विचित्रभी निशाकी शोभा नहीं होती है इस श्रुतिसे यहां राजपदसे चन्द्रमा लेते हैं किं, 'सोम हम ब्राह्मणोंका राजा है' और राजाके योगावना मुद्राकी शोभा नहीं अर्थात् रेखा आदिसे विचित्रभी मुद्रा राजाके हाथसे किये हुये चिह्नविशेषरूप राजसम्बन्धके विना ग्रहण करने योग्य नहीं होती है ॥ १२६ ॥

**मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ॥**

**इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥ १२७ ॥**

मारुतस्येति ॥ मारुतस्य वायोः सर्वं विधिं कुंभकमुद्राविधानं मनोयुक्तं मनसा युक्तं समभ्यसेत्सम्यगभ्यसेत् । मनोवृत्तिः बुद्धिमता पुंसा इतरत्र मारुतस्य विधेरन्यस्मिन्विषये मनोवृत्तिर्मनसो वृत्तिः प्रवृत्तिर्न कर्तव्या न कार्या ॥ १२७ ॥

भाषार्थ—प्राणवायुकी जो कुंभकमुद्रा आदि संपूर्ण विधि है उसका मनसे युक्त होकर ( मन लगाकर ) भली प्रकार अभ्यास करे और प्राणवायुकी विधिसे अन्य जो विषय उनमें मनकी प्रवृत्तिको न करे ॥ १२७ ॥

**इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ॥**

**एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥ १२८ ॥**

मुद्रा उपसंहरति—इतीति ॥ आदिनाथेन सर्वेश्वरेण शंभुना शं सुखं भवत्यस्मादिति शंभुस्तेन । इत्युत्तरीत्या दश दशसंख्याका मुद्राः प्रोक्ताः कथिताः । तासु मुद्रासु मध्ये एकैकापि प्रत्येकमपि या काचन मुद्रा यमिनां यमवतां योगिनां महासिद्धिप्रदायिन्याणिमादिप्रदात्री वा ॥ १२८ ॥

भाषार्थ—अब मुद्राओंकी समाप्तिका वर्णन करते हैं किं, आदिनाथ ( महादेव ) ने ये दश मुद्रा कही हैं उन मुद्राओंमें एक २ भी मुद्रा ( प्रत्येक ) अर्थात् जो कोई मुद्रा योगीजनोंको अणिमा आदि महासिद्धियोंकी प्रदायिनी ( देनेवाली ) है ॥ १२८ ॥

**उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ॥**

**स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ १२९ ॥**

मुद्रोपदेशारं गुरुं प्रशंसति-उपदेशमिति ॥ यः पुमान्मुद्राणां महामुद्रादीनां संग्र-  
दायायोगिनां गुरुपरंपरारूपादागतं सांप्रदायिकमुपदेशं दत्ते ददाति । स एव स पुमा-  
नेव श्रीगुरुः श्रीमान् गुरुः सर्वगुरुभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः । स्वामी प्रभुः स एव साक्षात्प्र-  
त्यक्ष ईश्वर एव सः । ईश्वरामित्र एव स इत्यर्थः ॥ १२९ ॥

भाषार्थ-सांप्रदायिक ( योगियोंकी गुरुपरम्परासे चले आये ) महामुद्रा आदिके उपदेशकर्ता  
जो पुरुष देता है वही श्रीमान् गुरु अर्थात् सब गुरुओंमें श्रेष्ठ है और वही स्वामी अर्थात् प्रभु  
है और वही साक्षात् परमेश्वरस्वरूप है ॥ १२९ ॥

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ॥

अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनम् ॥ १३० ॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां

मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

तस्येति ॥ तस्य मुद्राणामुपदेष्टुर्गुरुर्वाक्यपरो वाक्यमासनकुंभकाद्यनुष्ठानविषयकं  
युक्ताहारविहारचेष्टादिविषयकं च तस्मिन् परस्तत्परः तत्परश्चादरवान् । आदरश्च विहि-  
ततपःकरणं भूत्वा संभूय मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासः पौनःपुन्येनावर्तनं तस्मिन्  
मुद्राभ्यासे समाहितः सावधानः पुरुषोऽणिमादिगुणैराणिमादिसिद्धिभिः सार्धं साकं  
कालस्य मृत्योर्वंचनं प्रतारणं लभते प्राप्नोति ॥ १३० ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानन्दकृतायां ज्योत्स्नाभि-

ध्यायां मुद्राकथनं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

भाषार्थ-तिन मुद्राओंके उपदेशकर्ता गुरुके वाक्यमें अर्थात् आसन कुंभक आदिके अनुष्ठान  
विषयकी और युक्ताहार विहारकी चेष्टा आदि विषयोंकी आज्ञामें तत्पर ( आदरवान् ) और  
शास्त्रोक्त तप करनेरूप उस आदरके अनंतर बारंवार महामुद्रा आदिके अभ्यासमें सावधान  
होकर मनुष्य अणिमा आदि सिद्धियों सहित कालके वंचनको प्राप्त होता है अर्थात् उसको  
सिद्धि और कालसे निर्भयता ये दोनों प्राप्त होते हैं ॥ १३० ॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठयोगप्रदीपिकायां पं० मिहरचंद्रकृतभाषाविवृति-

सहितायां मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः समाप्तः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोपदेशः ४.

नमः शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने ॥

निरञ्जनपदं याति नित्यं यत्र परायणः ॥ १ ॥

प्रथमद्वितीयतृतीयोपदेशोक्तानामासनकुंभकमुद्राणां फलभूतं राजयोगं विवक्षुः स्वात्मा-  
रामः श्रेयांसि बहुविघ्नानीति तत्र विघ्नबाहुल्यस्य संभवात्तन्निवृत्तये शिवामित्रगुरु  
नमस्काराभक्तं मंत्रलमाचराति ॥ नम इति ॥ शिवाय सुखरूपायेश्वरामित्राय वा ।

तदुक्तम् । 'नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे' इति । गुरवे देशिकाय यद्वा गुरवे सर्वांतर्यामितया निखिलोपदेष्ट्रे शिवायेश्वराय । तथा च पातंजलसूत्रम्—'स पूर्व-  
वामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु । कीदृशाय शिवाय गुरवे नाद-  
विंदुकलात्मने कांस्यघंटानिर्हादवदनुरणनं नादः । विंदुरनुस्वारोत्तरभावा ध्वनिः । कला-  
नादैकदेशस्ता आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा तस्मै । नादविंदुकलात्मना वर्तमानाये-  
त्यर्थः । तत्र नादविंदुकलात्मनि शिवे गुरौ नित्यं प्रतिदिनं परायणोऽवहितः पुमान् ।  
एतेन नादानुसंधानपरायण इत्युक्तं पूर्वपादेन गुरुशिवयोरभेदश्च सूचितः । अंजनं  
मायोपाधिस्तद्रहितं निरंजनं शुद्धं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं ब्रह्म याति प्राप्नोति ।  
तथा च वक्ष्यति—'नादानुसंधानसमाधिमाजम्' इत्यादिना ॥ १ ॥

भाषार्थ—प्रथम, द्वितीय, तृतीय उपदेशोंमें कहे जो आसन कुंभक मुद्रा हैं उनका फलरूप जो राजयोग है उसके कथनका अभिलाषी स्वात्माराम ग्रंथकार 'श्रेयकर्मोंमें बहुत विघ्न हुआ करते हैं' इस न्यायसे अनेक विघ्नोंका संभव होसकता है उन विघ्नोंकी निवृत्तिके लिये शिवरूप गुरुके नमस्कारात्मक मंगलको करते हैं कि शिवरूप अर्थात् सुखरूप वा ईश्वररूप सोई कहाहै कि, हे नाथ ! हे भगवन् ! शिवरूप गुरु जो आप हैं उनको नमस्कार है गुरुको अथवा सबके उपदेशके अंतर्ग्रामिरूपसे शिवरूपसे ईश्वरको । सोई पातंजलसूत्रमें कहाहै कि, कालसे अवच्छेदके न होनेसे वह ईश्वर पहिले सब आचार्योंकाभी गुरु है उस गुरु वा ईश्वरको नमस्कार है जो गुरु नादविंदुकलारूप है कांसीके घंटाके समान जो अनुरणन अर्थात् शब्द उसको नाद कहते हैं और अनुस्वारके अनंतर जो ध्वनि होतीहै उसको विंदु कहते हैं और नादके एकदेशको कला कहते हैं ये तीनों जिस गुरु वा ईश्वरके रूप हैं अर्थात् जो नाद विंदु कला-  
रूपसे वर्तमान हैं और 'जिस जिस नाद विंदु कलारूप शिवरूप गुरुमें प्रतिदिन परायण (साव-  
धान) मनुष्य, इस कथनसे नादके अनुसंधानमें परायण और पूर्व पादसे शिव और गुरुका भेद सूचित किया उस मायोपाधिरूप अंजनसे रहित शुद्ध ब्रह्मपदको प्राप्त होताहै जिसको योगी-  
जन प्राप्त होते हैं उसको पद कहते हैं सोई कहेंगे नादका जो अनुसंधानी और जो समाधिका ज्ञाता है वह योगी है—भावार्थ यह है कि, शिवरूप और नाद विंदु कला जिसकी आत्मा है ऐसे उस गुरुको नमस्कार है जिसमें प्रतिदिन तत्पर मनुष्य शुद्धरूप ब्रह्मपदको प्राप्त होताहै १

**अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ॥**

**मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानंदकरं परम् ॥ २ ॥**

समाधिक्रमं प्रतिजानीते—अथेति ॥ अथासनकुंभकमुद्राकथनानंतरमिदानीं मरिच-  
ज्वसरे समाधिक्रमं प्रत्याहारादिरूपं प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण विविच्य वक्ष्यामीत्यन्वयः ॥  
कीदृशं समाधिक्रमम् । उत्तमं श्रीआदिनाथोक्तसंपादनकोटिसमाधिप्रकारेषूत्कृष्टम् ॥  
पुनः कीदृशं मृत्युं कालं हन्ति निवारयतीति मृत्युघ्नं स्वेच्छया देहत्यागजनकं तत्त्वज्ञा-  
नोद्यमनोनाशवासनाक्षयैः सुखस्य जीवन्मुक्तिसुखस्योपायम् । प्राप्तिसाधनं पुनः

कीदृशं परं ब्रह्मानन्दकरं प्रारब्धकर्मक्षये सति जीवब्रह्माणोरभेदे नात्यंतिकब्रह्मानन्दप्राप्ति-  
रूपविदेहमुक्तिकरम् । तत्र निरोधः समाधिना चित्तस्य ससंस्काराशेषवृत्तिनिरोधे शान्त-  
घोरमूढावस्थानिवृत्तौ 'जीवन्नेवेह विद्वान् हर्षशोकाभ्यां विमुच्यते' इत्यादिश्रुत्युक्तनिर्वि-  
कारस्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिर्भवति । परममुक्तिस्तु प्राप्तभोगांतंस्तःकरणगुणानां  
प्रतिप्रसवेनौपाधिकरूपात्यंतिकनिवृत्तावात्यंतिकं स्वरूपावस्थानं प्रतिप्रसवसिद्धम् ।  
व्युत्थाननिरोधसमाधिसंस्कारा मनसि लीयन्ते । मनोऽस्मितायामस्मिता महति महान्  
प्रधान इति चित्तगुणानां प्रतिप्रसवः प्रतिसर्गः स्वकारणे लयः । ननु जीवन्मुक्तस्य  
व्युत्थाने ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमित्यादिव्यवहारदर्शनाच्चित्तादिभिरौपाधिकभावजननाद-  
भ्येन दुग्धस्येव स्वरूपच्युतिः स्यादिति चेन्न । संप्रज्ञातसमाधावनुभूतात्मसंस्कारस्य  
तात्त्विकत्वनिश्चयात् । अतात्त्विकान्यथाभावस्याविकारित्वाप्रयोजकत्वात् । अम्लेन  
दुग्धस्य दधिभावस्तु तात्त्विक इति । दृष्टांतवैषम्याच्च पुरुषस्य त्वंतःकरणोपाधिकोऽहं  
ब्राह्मण इत्यादिव्यवहारः स्फटिकस्य जपाकुसुमसन्निधानोपाधिरूपक एव न तात्त्विकः  
जपाकुसुमापगमे स्फटिकस्य स्वस्वरूपस्थितिवदंतःकरणस्य सकलवृत्तिनिरोधे स्वरूपा-  
वस्थितिरच्युतैव पुरुषस्य ॥ २ ॥

भाषार्थ—अब आचार्य समाधिका जो क्रम उसके वर्णनको प्रतिज्ञा करते हैं कि, इसके  
अनंतर अर्थात् आसन कुंभकुमुद्रा वर्णन करनेके अनंतर इदानीं ( इस अवसरमें ) प्रत्याहार  
आदिरूप उस समाधिके क्रमको प्रकर्षतासे ( पृथक् ) कहता हूँ जो समाधिका क्रम आदि-  
नाथकी कहीहुई संपादन कोटिरूप समाधियोंके प्रकारों ( भेदों ) में उत्तम है और जो  
मृत्युका निवारणकर्ता है अर्थात् अपनी इच्छासे देहके त्यागका जनक है और जो उत्पत्ति,  
मनका नाश, वासनाका क्षय इन तीनोंके होनेपर जीवन्मुक्तिरूप सुखका उपाय ( साधन )  
है और जो परमब्रह्मानन्दका कर्ता है अर्थात् प्रारब्ध कर्मका क्षय होनेपर जीव. ब्रह्मको अभे-  
दका ज्ञान होनेसे आत्यंतिक ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिरूप जो मुक्ति उसको करताहै । वहां प्रथम  
समाधिसे चित्तका निरोध होताहै और संस्कारसहित संपूर्णवृत्तियोंका निरोध होनेपर शान्त  
घोर मूढ अवस्थाओंकी निवृत्ति होत संते इत्यादि श्रुतियोंमें कहीहुई कि, 'जीवताहुआही  
ज्ञानी हर्षशोकसे छूटजाता है, निर्विकार स्वरूपमें स्थितिरूप जीवन्मुक्ति होजातीहै और  
परममुक्ति तो यह है कि, प्राप्त हुये भोगके अन्तमें अन्तःकरणके गुणोंका प्रतिप्रसव होनेसे  
औपाधिकरूपकी अत्यन्त निवृत्ति होनेपर आत्यंतिक स्वरूपमें अवस्थान प्रतिप्रसवसे सिद्ध है  
और व्युत्थान निरोध समाधि संस्कार ये सब मनमें लीन होजाते हैं और मन अस्मितामें  
अस्मिता महानमें महान प्रधानमें लीन होजाताहै इस प्रकार चित्तके गुणोंका प्रतिप्रसव अर्थात्  
अपने २ कारणमें लयरूप प्रतिसर्ग होता है, कदाचित् कोई शंका करे कि, समाधिसे  
व्युत्थान ( उठना ) के समय में ब्राह्मण हूँ मैं मनुष्य हूँ इत्यादि व्यवहारके देखनेसे चित्त  
आदिसे औपाधिक भावके पैदा होनेसे अम्लसे दूधके समान अपने ब्रह्मस्वरूपसे च्युति ( पतन )  
होजायगा—सो ठीक नहीं है क्योंकि संप्रज्ञात समाधिमें अनुभूत ( ज्ञात ) जो आत्मसंस्कार

उसके तात्त्विकत्व ( यथार्थता ) का निश्चय होजाताहै—और अतात्त्विक जो अन्यथाभाव है वह अधिकारित्वका प्रयोजक नहीं होताहै—अम्लसे जो दूधका दधिभाव है वह तात्त्विक है इससे दृष्टान्तमी विषम है—मनुष्यको तो अन्तःकरणरूप उपाधिसे मैं ब्राह्मण हूँ इत्यादि व्यवहार होताहै—और वह स्फटिकको जपाकुसुमकी संनिधानरूप उपाधिके समानही है तात्त्विक नहीं है—जपाकुसुमके हटानेपर स्फटिककी अपने स्वरूपमें स्थितिके समान अन्तःकरणकी सम्पूर्ण वृत्तियोंके निरोध होनेपर अपने स्वरूपमें स्थिति नष्ट नहीं होतीहै अर्थात् जीवन्मुक्तिकी अवस्थामें मनुष्य ब्रह्मरूपमें स्थित रहताहै—भावार्थ यह है कि, इसके अनन्तर उत्तम मृत्युके नाशक—सुखका उपाय और परम ब्रह्मानन्दका जनक जो समाधिका क्रम उसको मैं अब वर्णन करताहूँ ॥ २ ॥

**राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ॥**

**अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥ ३ ॥**

**अमनस्कं तथाद्वैतं निरालंबं निरंजनम् ॥**

**जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥**

समाधिपर्यायान् विशेषेणाह—राजयोग इत्यादिना श्लोकद्वयेन ॥ स्पष्टम् ॥ ३ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—अब समाधिके पर्यायोंका वर्णन करते हैं कि, राजयोग—समाधि—उन्मनी—मनो—मनो—अमरत्व—लय—तत्त्व—शून्याशून्यपरंपद—अमनस्क—अद्वैत—निरालंब—निरंजन—जीवन्मुक्ति—सहजा तुर्या—ये सब एक समाधिकेही वाचक है—इन सब भेदोंका आगे वर्णन करेंगे ॥ ३ ॥ ४ ॥

**सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ॥**

**तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥ ५ ॥**

**यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ॥**

**तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥ ६ ॥**

**तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ॥**

**प्रनष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ ७ ॥**

त्रिभिः समाधिमाह—सलिल इति ॥ यदेति ॥ तत्सममिति ॥ यद्वद्यथा सैन्धवं सिन्धुदेशोद्भवं लवणं सलिले जले योगतः संयोगात्साम्यं सलिलसाम्यं सलिलैक्यत्वं भजति प्राप्नोति तथा तद्वदात्मा च मनश्चात्ममनसी तयोरात्ममनसोरैक्यमेकाकारता । आत्मनि धारितं मन आत्माकारं सदात्मसाम्यं भजति तादृशमात्ममनसोरैक्यं समाधिः अभिधीयते समाधिशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—जिस प्रकार सिंधुदेशमें उत्पन्न हुआ लवण जलके विषे संयोगसे साम्यको भजता है अर्थात् जलका संयोग होनेसे जलके संग एकताको प्राप्त होजाताहै तिसी प्रकारसे जो आत्मा और मनकी एकता है अर्थात् आत्मामें धारण किया हुआ मन आत्माकार होनेसे आत्मरूपको प्राप्त होजाताहै उसी आत्मा मनकी एकताको समाधि कहते हैं जब प्राण भलीप्रकार क्षीण होजाता है और मनकामील होजाताहै उस समयमें हुई जो समर-सता उसकोभी समाधि कहते हैं और जीवात्मा और परमात्मा इन दोनोंकी एकतारूपकोही समता कहतेहैं और उस समय नष्ट हुये हैं संपूर्ण संकल्प जिसमें उसको समाधि कहतेहैं ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

**राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ॥**

**ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ८ ॥**

अथ राजयोगप्रशंसा—राजयोगस्येति ॥ राजयोगस्यानंतरमेवोक्तस्य माहात्म्यं प्रभावं तत्त्वतो वस्तुतः को वा जानाति ? न कोऽपि जानातीत्यर्थः । तत्त्वतो वस्तुम-शक्यत्वेऽप्येकदेशेन राजयोगप्रभावमाह—ज्ञानं स्वस्वरूपापरोक्षानुभवः मुक्तिर्विदेहमुक्तिः स्थितिर्निर्विकारस्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिः सिद्धिरणिमादि गुरुवाक्येन गुरुवचसा लभ्यते । राजयोगादिति शेषः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—अब राजयोगकी प्रशंसाका वर्णन करतेहैं कि, इसके अनंतर कहे हुये राजयोगके माहात्म्यको यथार्थरूपसे कौन जानता है अर्थात् कोई भी नहीं जानता है तत्त्वसे कहनेके अयोग्य भी एकदेशरूपसे राजयोगके प्रभावको वर्णन करतेहैं कि, ज्ञान अर्थात् अपने आ-त्मस्वरूपका अपरोक्ष अनुभव और विदेहमुक्ति और निर्विकारस्वरूपमें अवस्थितिरूप जीव-न्मुक्ति और अणिमाआदि सिद्धि ये सब गुरुके वाक्यसे प्राप्त हुये राजयोगके द्वारा प्राप्त होतेहैं ॥ ८ ॥

**दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ॥**

**दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥ ९ ॥**

दुर्लभ इति ॥ विशेषेण सिन्वंत्यवबध्नन्ति प्रमातारं स्वसंगेनेति विषया ऐहिकाः दारादय आमुष्मिकाः सुधादयस्तेषां त्यागो भोगेच्छाभावो दुर्लभः तत्त्वदर्शनमात्मा-परोक्षानुभवः दुर्लभं सहजावस्था तुर्यावस्था सद्गुरोः 'दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यम्' इति वक्ष्यमाणलक्षणस्य करुणां दयां विनेति सर्वत्र संबध्यते । दुर्लभा लब्धुमशक्या 'दुः स्यात्कष्टनिषेधयोः' इति कोशः । गुरुकृपया तु सर्वं सुलभमिति भावः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—अपने प्रमाता ( भोक्ता ) को जो अपने संगसे विशेष करके बांधे उन्हें वि-षय कहतेहैं और वे विषय इस लोकके स्त्री आदि और परलोकके अमृत आदि होते हैं उन विषयोंका त्याग दुर्लभ है और आत्माके अपरोक्षानुभवरूप तत्त्वका दर्शन दुर्लभ है और सहजावस्था ( तुरिया अवस्था ) दुर्लभ है अर्थात् ये पूर्वोक्त तीनों सद्गुरुकी दयाके

विना दुर्लभ है और गुरुकी दयासे तो संपूर्ण सुलभ है और सद्गुरुके स्वरूप यह कहेंगे कि, 'देखने योग्य पदार्थके विनाही जिसकी दृष्टि स्थिर हो' वह सद्गुरु होता है ॥ ९ ॥

**विविधैरासनैः कुम्भैर्विचित्रैः करणैरपि ॥**

**प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ॥ १० ॥**

विविधैरिति ॥ विविधैरनेकविधैरासनैर्मत्स्येन्द्रादिपीठैर्विचित्रैर्नानाविधैः कुम्भकैः । विचित्रैरिति काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र संबध्यते । विचित्रैरनेकप्रकारकैः करणैर्हठ-सिद्धौ प्रकृष्टोपकारकैर्महामुद्रादिभिर्महाशक्तौ कुण्डलिनीं प्रबुद्धायां गतनिद्रायां सत्यां प्राणो वायुः शून्ये ब्रह्मरंध्रे प्रलीयते लयं प्राप्नोति । व्यापाराभावः प्राणस्य प्रलयः ॥ १० ॥

भाषार्थ—अनेक प्रकारके मत्स्येन्द्र आदि आसन और विचित्र २ कुम्भक प्राणायाम और विचित्र अर्थात् अनेक प्रकारके हठसिद्धिमें कहे हुये महामुद्रा आदि इनसे जब महाशक्ति ( कुण्डलिनी ) प्रबुद्ध होजाती है अर्थात् निद्राको त्याग देती है तब प्राणवायु शून्य ( ब्रह्मरंध्र ) में लय होजाता है—और व्यापारके अभावकोही प्राणका लय कहते हैं ॥ १० ॥

**उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तानिःशेषकर्मणः ॥**

**योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥ ११ ॥**

उत्पन्नेति ॥ उत्पन्नो जातः शक्तिबोधः कुण्डलीबोधो यस्य तस्य त्यक्तानि परि-हृतानि निःशेषाणि समप्राणि कर्माणि येन तस्य योगिनः आसनेन कायिकव्यापारे त्यक्ते प्राणेंद्रियेषु व्यापारस्तिष्ठति । प्रत्याहारधारणाध्यानसंप्रज्ञातसमाधिभिर्मानसिकव्यापारे त्यक्ते बुद्धौ व्यापारस्तिष्ठति 'असंगो ह्यथ पुरुषः' इति श्रुतेरपरिणामी शुद्धः पुरुषः सत्त्वगुणात्मिका परिणामिनी बुद्धिरिति परवैराग्येण दीर्घकालसंप्रज्ञाताभ्यासेनैव वा बुद्धिव्यापारे परित्यक्ते निर्विकारस्वरूपावस्थितिर्भवति सैव सहजावस्था तुर्यावस्था जीवन्मुक्तिः स्वयमेव प्रयत्नांतरं विनैव प्रजायते प्रादुर्भवति । 'येन त्यजसि तस्य जेति निःसंगः प्रज्ञया भवेत्' इति च श्रुतेः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—उत्पन्न हुआ है कुण्डलिनीरूप शक्तिका बोध जिसको और त्याग दिये है संपूर्ण कर्म जिसने ऐसे योगीको स्वयंही सहजावस्था होजाती है—क्योंकि आसन बांधनेसे देहके व्यापारका त्याग होनेपर प्राण और इंद्रियोंमें व्यापार बना रहता है और प्रत्याहार-धारणा ध्यान संप्रज्ञातसमाधि इनसे मानसिक व्यापारके त्याग होनेपर बुद्धिमें व्यापार टिकता है, क्योंकि इस श्रुतिमें असंग यह पुरुष है यह कहा है इससे पुरुष अपरिणामी और शुद्ध है और सत्त्वगुणरूप बुद्धि परिणामवाली है और उत्तमवैराग्यसे वा दीर्घकालतक संप्रज्ञात समाधिके अभ्याससे बुद्धिके व्यापार कभी त्याग होनेपर निर्विकारस्वरूपमें स्थिति होजाती है वही सहजावस्था, तुर्यावस्था, जीवन्मुक्ति अन्यप्रयत्नके विनाही होजाती है क्योंकि इस श्रुतिमें लिखा है कि, जिससे त्यागता है उसकोभी त्यागकर बुद्धिसे संग्राहित होजाय ॥ ११ ॥

**सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे ॥**

**तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥ १२ ॥**

सुषुम्नेति । प्राणे वायौ सुषुम्नावाहिनि मध्यनाडीप्रवाहिनि सति मानसेऽन्तःकरणे शून्ये देशकालवस्तुपरिच्छेदहीने ब्रह्मणि विशति सति तदा तस्मिन् काले योगवित् चित्तवृत्तिनिरोधज्ञः सर्वाणि कर्माणि सप्रारब्धानि निर्मूलानि करोति निर्मूलयति निर्मूल-  
शब्दात् 'तत्करोति' इति णिच् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—प्राणवायु जब सुषुम्नामें बहने लगता है और मन, देश, काल, वस्तुके परिच्छेदसे शून्यब्रह्ममें प्रविष्ट होजाता है उस समय चित्तवृत्तिके निरोधका ज्ञाता योगी प्रारब्धसहित संपूर्ण कर्मोंको निर्मूल ( नष्ट ) करदेता है ॥ १२ ॥

**अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः ॥**

**पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम् ॥ १३ ॥**

समाध्यभ्यासेन प्रारब्धकर्मणोऽप्यभिभवजितकालं योगिनं नमस्करोति—अमरा-  
येति ॥ न म्रियत इत्यमरः । तस्मा अमराय चिरंजीविने तुभ्यं योगिने नमः । सोऽ-  
पि दुर्वारोऽपि कालो मृत्युस्त्वया योगिना जितोऽभिभूतः । इदं वाक्यं नमस्करणे  
हेतुः । स कः यस्य कालस्य वदने मुखे एतत् दृश्यमानं चराचरं स्थावरजंगमं जगत्सं-  
सारः पतितः सोऽपि जगद्भक्षकोऽपीत्यर्थः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—समाधिके अभ्याससे प्रारब्धकर्मकाभी तिरस्कार हो जाता है इससे जिसने काल-  
कोभी जीत लिया है उस योगीको सब नमस्कार करते हैं कि, तिस अमरः ( चिरजीवी )  
आपको नमस्कार है जिसने दुःखसे निवारण करने योग्यभी वह काल ( मृत्यु ) जीत लिय  
जिस कालके मुखमें यह स्थावर जंगमरूप चराचर जगत् पतित है ॥ १३ ॥

**चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे ॥**

**तदामरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥ १४ ॥**

पूर्वोक्तममरोल्यादिकं समाधिसिद्धावेव सिद्ध्यतीति समाधिनिरूपणानंतरं समाधि-  
सिद्धौ तत्सिद्धिरित्याह—चित्त इति ॥ चित्तेऽन्तःकरणे समत्वं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहत्वम्  
आपन्ने प्राप्ते सति वायौ प्राणे मध्यमे सुषुम्नायां व्रजति सतीति चित्तसमत्वे हेतुः ।  
तदा तस्मिन् काले अमरोली वज्रोली सहजोली च पूर्वोक्ताः प्रजायन्ते नाजितप्राप्तस्य  
न चाजिताचित्तस्य सिद्ध्यतीति भावः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—पूर्वोक्त अमरोली आदि मुद्रा समाधिके सिद्ध होनेपरही सिद्ध हो जाती है इससे  
समाधिनिरूपणके अनंतर समाधिके सिद्ध होनेपर उनकीभी सिद्धिका वर्णन करते हैं, कि, जब  
अंतःकरणरूप चित्त ध्यान करने योग्य वस्तुके आकारवृत्ति प्रवाहको प्राप्त होजाता है अर्थात्

ब्रह्माकार होजाता है और प्राणवायु सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाता है अर्थात् इस प्रकार चित्तकी समता होनेपर उस कालमें अमरोली, वज्रोली, सहजोली ये पूर्वोक्त मुद्रा भलीप्रकार होजाती हैं और जिसने प्राण और चित्तको नहीं जीता उसको सिद्ध नहीं होती है ॥ १४ ॥

ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह तावत्

प्राणोऽपि जीवति मनो प्रियते न यावत् ॥

प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो

मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः ॥ १५ ॥

हठभ्यासं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिद्ध्यतीत्याह—ज्ञानमिति ॥ यावत्प्राणो जीवति । अपिशब्दादिन्द्रियाणि जीवन्ति न तु प्रियन्ते । यावन्मनो न प्रियते किंतु जीवत्येव । इहा-  
पिंगलाभ्यां वहनं प्राणस्य जीवनं स्वस्वविषयग्रहणमिन्द्रियाणां जीवनं नानाविषयाकार-  
वृत्त्युत्पादनं मनसो जीवनं तत्तद्भावतत्तन्मरणमत्र विवक्षितम् । ननु स्वरूपतस्तेषां नाश-  
स्तावन्मनस्यन्तःकरणे ज्ञानमात्मापरोक्षानुभवः कुतः संभवति न । कर्तापि प्राणोन्द्रियम-  
नोवृत्तीनां ज्ञानप्रतिबंधकत्वादिति भावः । प्राणो मनः इदं द्वयं यो योगी विलयं नाशं  
नयेत्स मोक्षमात्यंतिकस्वरूपावस्थानलक्षणं गच्छति प्राप्नोति । ब्रह्मरन्ध्रे निर्व्यापार-  
स्थितिः प्राणस्य लयः । ध्येयाकारवेशात् । विषयांतरेणापारेण मनसो लयोऽन्यः ।  
अलीनप्राणोऽलीनमनाश्च कथंचिदुपायशतेनापि न मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः । तदुक्तं योग-  
बीजे—‘नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः । तस्मात्तस्य जयः प्रायः प्राणस्य  
जय एव हि’ इति । नानामार्गैः सुखदुःखप्रायं कैवल्यं परमं पदं ‘सिद्धमार्गेण लभ्येत  
नान्यथा शिवभाषितम्’ इति च । सिद्धमार्गो योगमार्गः । एतेन योगे विना ज्ञानं  
मोक्षश्च न सिद्ध्यतीति सिद्धम् । श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु चेदं प्रसिद्धम् । तथाहि  
अथ ‘तद्दर्शनाभ्युपायो योग’ इति तद्दर्शनमात्मदर्शनम् । ‘अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं  
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति’ इति । ‘श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादेवेदं’ इति ‘यदा पंचा-  
वतिष्ठते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम् ॥ तां योग-  
मिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् । अप्रमत्तस्तदा भवति’ इति । ‘यदात्मतत्त्वेन तु  
ब्रह्मतत्त्वं दयोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् । अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते  
सर्वपाशैः ॥ ब्रह्मणे त्वा महस ओमित्यात्मानं युंजीतीति त्रिरुक्तः स्थाप्य समशरीरः  
हृदोन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य ब्रह्माह्वयेन’ प्रतरेत् विद्वान् सोताःसि सर्वाणि भयाव-  
हानि’ इति । ‘ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्’ इत्याद्याः श्रुतयः ॥ यतिधर्मप्रकरणे  
मनुः—‘भूतभाव्यानवेक्षेत योगेन परमात्मनः । देहद्वयं विहायाशु मुक्तो भवति बंध-  
नात् ॥’ याज्ञवल्क्यस्मृतौ—‘इज्याचारदमार्हिसादानस्वाध्यायकर्मणाम् । अयं तु परमो

धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥' महर्षिमातंगः—'अग्निष्टोमादिकान् सर्वान् विहाय द्विज-  
सत्तमः॥ योगाभ्यासरतः शान्तः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां  
च पावनम् । शान्तये कर्मणामन्यद्योगाच्चास्ति विमुक्तये ॥' दक्षस्मृतौ व्यतिरेकमुखेनो-  
क्तम्—'स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्रीमुखं यथा । अयोगी नैव जानाति जात्यंधो हि  
यथा वटम्' इत्याद्याः स्मृतयः ॥ महाभारते योगमार्गे व्यासः—'अपि वर्गविकृष्टस्तु  
नारी वा धर्मकाक्षिणी । तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥ यदि वा सर्वधर्मज्ञो  
यदि वाप्यकृती पुमान् । यदि वा धार्मिकः श्रेष्ठो यदि वा पापकृत्तमः ॥ यदि वा  
पुरुषव्याघ्रो यदि वा क्लेशधारकः । नरः सेव्यं महादुःखं जरामरणसागरम् ॥ अपि  
जिज्ञासमानोऽपि शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥' इति ॥ भगवद्गीतायाम्—'युञ्जन्नेवं सदात्मानं  
योगी नियतमानसः । शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ यत्संख्यैः प्राप्यते  
स्थानम्' इत्यादि च ॥ अदित्यपुराणे—'योगात्संजायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्ता ॥'  
स्कंदपुराणे—'आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते नहि । स च योगश्चिरं कालमभ्या-  
सादेव सिद्ध्यति ॥' कूर्मपुराणे शिववाक्यम्—'अतः परं प्रवक्ष्यामि योगं परमदुर्लभम् ।  
येनात्मानं प्रपश्यन्ति भानुमंतमिवेश्वरम् । योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपञ्जसम् ॥ प्रसन्नं  
जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति ॥' गरुडपुराणे—'तथा यतेत मतिमान्यथा स्यान्नि-  
र्वृतिः परा । योगेन लभ्यते सा तु न चान्येन तु केनचित् ॥ भवतापेन तप्तानां योगो  
हि परमौषधम् । परावरप्रज्ञा धीर्यस्य निर्वेदसंभवा ॥' स च योगाग्निना दग्धसम-  
स्तक्लेशसंचयः । निर्वाणं प्राप्तं नित्यं प्राप्नोत्येव न संशयः ॥ संप्राप्तयोगसिद्धिस्तु  
पूर्णा यस्त्वात्मदर्शनात् । न किञ्चित्दृश्यते कार्यं तेनैव सकलं कृतम् ॥ आत्मारामः सदा  
पूर्णः सुखमात्यंतिकं गतः । अतस्तस्यापि निर्वेदः परानंदमयस्य च ॥ तपसा भावि-  
तात्मानो योगिनः संयतेन्द्रियाः । प्रतरन्ति महात्मानो योगेनैव महार्णवम् ॥' विष्णु-  
धर्मेषु—'यच्छ्रेयः सर्वभूतानां स्त्रीणामप्युपकारकम् । अपि कीटपतंगानां तन्नः श्रेयः  
परं वद ॥ इत्युक्तः कपिलः पूर्वं देवैर्देवर्षिभिस्तथा । योग एव परं श्रेयस्तेषामित्युक्त-  
वान् पुरा ॥' वासिष्ठे—'दुःसहा राम संसारविषवर्गविषूचिका । योगगारुडमंत्रेण पाव-  
नेनोपशाम्यति ॥' ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यैरप्यपरोक्षप्रमाणं भवतीति किमर्थमतिश्र-  
मसाध्ये योगे प्रयासः कार्यः न च वाक्यजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वे प्रमाणासंभव इति  
वाच्यम् । तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानमपरोक्षम् । अपरोक्षनिषयकत्वात् । चाक्षुष-  
वादिप्रत्यक्षवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वात् । न च विषयगतापरोक्षत्वस्य नीरूपत्वाद्देतुत्व-  
सिद्धिरिति वाच्यम् । अज्ञानविषयचित्ततत्तादात्म्यापन्नत्वान्यतररूपस्य तस्य सुनिरूप-  
त्वात् । यथा हि घटादौ चक्षुःसन्निकर्षेणांतःकरणवृत्तिदशायां तदधिष्ठानचैतन्याज्ञाननि-  
वृत्तौ तच्चैतन्यस्याज्ञानविषयता तद्वदस्याज्ञानविषयचैतन्यतादात्म्यापन्नत्वं चापरोक्षत्वम् ।

तथा तत्त्वमस्यादिवाक्येन शुद्धचेतन्याकारान्तःकरणवृत्त्युत्थापने सति तदज्ञानस्य निवृत्ते-  
 चत्वेनैव तत्त्वस्याज्ञानविषयत्वाच्चैतन्यस्यापरोक्षत्वमिति न हेत्वसिद्धिः । न चाप्रयोजकत्वं  
 ज्ञानगम्यत्वापरोक्षत्वं प्रत्यक्षपरोक्षविषयकत्वेन प्रयोजकत्वात् । न त्विन्द्रियजन्यत्वं मनसः  
 इन्द्रियत्वाभावेन सुखादिपरत्वे व्यभिचारात् । अथवाभिव्यक्तचैतन्याभिन्नतया मासमानत्वं  
 विषयस्यापरोक्षत्वम् । अभिव्यक्तत्वं च निवृत्त्यावरणकत्वं परोक्षवृत्तिस्थले वावरण-  
 निवृत्त्यभावाच्चातिव्याप्तिः । सर्पादिभ्रमजनकदोषवतस्तु नायं सर्पः किंतु रज्जुरिति  
 वाक्येन जायमाना वृत्तिस्तु नावरणं निवर्तयतीति तत्र परोक्ष एव विषयः ।  
 वेदांतवाक्यजन्यं च ज्ञानमावरणनिवर्तकत्वादपरोक्षमेव तन्मननादेः पूर्वमुत्पन्नम् ।  
 ज्ञाननिवर्तकप्रमाणाक्षभावनादिदोषसामान्याभावविशिष्टस्यैव तस्याज्ञाननिवर्तकत्वात् ।  
 किंच ' तं त्वौपनिषदं पुरुषं : पृच्छामि ' इति श्रुतिप्रतिपन्नमुपनिषन्मात्रागम्य-  
 त्वयोगगम्यत्वेनोपपन्नं स्यात् । तस्मात्तत्त्वमस्यादिवाक्यादेशापरोक्षमिति चेन्न । अनु-  
 मानस्याप्रयोजकत्वात् । न च प्रत्यक्षं प्रति निरुक्ताक्षसामान्यं प्रतीन्द्रियत्वेन कारण-  
 तया तज्जन्यत्वस्यैव प्रयोजकत्वान्नित्यानित्यसाधारणप्रत्यक्षत्वे तु न किंचित्प्रयोजक-  
 त्वमिति । तन्मते तु प्रत्यक्षविशेषे इन्द्रियं कारणं तद्विशेषे च शब्दविशेष इत्येवं कार्य-  
 कारणभावद्वयं स्यात् । न च मनसोऽनिन्द्रियत्वं मनसः इन्द्रियत्वे बाधकाभावादिन्द्रियाणां  
 मनो नाथ इति मनुष्यमिवोद्दिश्य मनुष्याणामयं राजेत्यादिवदिन्द्रियेष्वेव किंचिदुत्कर्ष-  
 ब्रवीति । न तु तस्याप्यनिन्द्रियत्वं तत्त्वं च षट्संखंडोपाधिविशेष एव । अत एव  
 'कमैन्द्रियं तु पादश्चादि मनोनेत्रादि धीन्द्रियम्' इति 'प्रत्यक्षं स्यादैन्द्रियकमप्रत्यक्षमतीन्द्रि-  
 यम्' इति च शक्तिप्रमाणभूतकोशेऽपीन्द्रियाप्रमाणकज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वं वदन् मनस इन्द्रि-  
 यत्वज्ञापकत्वं संगच्छते । 'इन्द्रियाणि दशैकं च' इति गीतावचनं मनस इन्द्रियत्वे प्रमा-  
 णम् । किंच तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानं शाब्दम् । शब्दजन्यत्वात् 'यजेत' इत्या-  
 दिवाक्यजन्यज्ञानवदित्यनेनापरोक्षविरोधिशब्दत्वसाधकेन सत्प्रातिपक्षः । न चेदमप्रयो-  
 जकम् । शाब्दं प्रत्येव शब्दस्य जनकत्वेन लाघवमूलकानुकूलतर्कात् । तन्मते तु श-  
 ब्दादपि प्रत्यक्षस्वीकारेण कार्यकारणभावद्वयकल्पने गौरवम् । अपि च मनननिदिध्या-  
 सनाभ्यां पूर्वमप्युत्पन्नम् । तव मते परोक्षमपि नाज्ञाननिवर्तकमित्यज्ञाननिवृत्तिं प्रति  
 बाधज्ञानत्वेनैव हेतुत्वमिति गौरवम् । मम तु समाख्यभ्यासपरिपाकेनासंभावनानादिसकल-  
 मल्लरहितेनांतःकरणेनात्मनि दृष्टे सति दर्शनमात्रादेवाज्ञाने निवृत्ते न कश्चिद्गौरवावकाशः  
 'एष सर्वेषु भूतेषु गृढोत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मद-  
 र्शिभिः । यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ' इत्यारभ्याज्ञाननिवृत्त्यर्थकेन 'मृत्युमुखात्प्रमुच्यते'  
 इत्यंतेन कठवल्लीस्थमृत्युपदेशेन संमतोऽयमर्थ इति न कश्चिदत्र विवादः इति । यदि तु  
 मननादेः पूर्वमुत्पन्नं ज्ञानं परोक्षमेवेति नः प्रतिबद्धत्वकृतगौरवमिति मतमाद्रियते तदपि

श्रवणादिभिर्मनःसंस्कारे सिद्धेऽव्यवहितोत्तरमात्मदर्शनसंभवात्तदुत्तरं वाक्यस्मरणादिक-  
 ल्पनं महद्गौरवापादकमेव । ननु न वयं केवलेन तर्केण शब्दजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वं वदामः  
 किंतु श्रुत्यापि । तथाहि—‘तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि’ इति श्रुत्या चौपनिषदत्वं पुरु-  
 षस्य नोपनिषज्जन्यबुद्धिविषयत्वमात्रं प्रत्यक्षादिगम्येऽप्यौपनिषदत्वे व्यवहारापत्तेः । यथा  
 हि द्वादशकपालेऽष्टानां कपालानां सत्त्वेऽपि द्वादशकपालसंस्कृतेनाष्टाकपालादिव्यवहारः ।  
 यथा द्विपुत्रादवेकपुत्रादिव्यवहारस्तथात्रापि । नान्यत्र तथा व्यवहार इति । उप-  
 निषन्मात्रगम्यत्वमेव प्रत्ययार्थः । तच्च मनोगम्यत्वेऽनुपपन्नमिति चेन्न । नहि प्रत्ययेनोप-  
 निषद्भिन्नं सर्वं कारणत्वेन ध्यावर्त्यते । शब्दापरोक्षवादिना त्वयाप्यात्मपरोक्षे मनोऽदीनां  
 करणत्वस्याङ्गीकारात् । किंतु पुराणादिशब्दांतरमेव ‘श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः’ इति  
 स्मरणात्सच्चार्यो ममापि संमत इति न किंचिदेतत् । प्रमाणांतरव्यावृत्तौ तात्पर्यकल्पनं  
 चात्मपरोक्षे शब्दस्य प्रमाणत्वे सिद्ध एव वक्तुमुचितम् । शब्दांतरव्यावृत्तित्वात्तत्पर्यं तु  
 श्रुत्यादिसंमतत्वात्कल्पयितुमुचितमेव । एवं स्थिते ‘मनसैवानुदृष्टव्यं मनसैवेदमाप्तव्यम्’  
 इत्यादिश्रुत्योऽप्याजस्येन प्रतिपादिता भवेयुः । यत्तु कैश्चिदुक्तम् । दर्शनवृत्तिं प्रति  
 मनोमात्रस्थोपादानत्वपरायत्ताः श्रुतयो न विरुध्यन्त इति तदतीव विचारासहम् । यतः  
 प्रमाणाकांक्षायां प्रवृत्तास्ताः कथमुपादानपरा भवेयुः । ‘कामः संकल्पो विचिकित्सा’  
 इत्यादिश्रुत्या सावधारणया सर्वासां वृत्तीनां मनोमात्रापोदानकत्वे बोधिते आकांक्षाभा-  
 वेनोपादानतात्पर्यकत्वेन वर्णयितुं कथं शक्येरन् । पूर्वं द्वितीयवर्त्यां प्रणवस्य ब्रह्म-  
 बोधकत्वेनोक्तेस्तस्याप्यपरोक्षहेतुत्वमिति शंकां निवारयितुं ‘मनसैवानुदृष्टव्यम्’ इत्या-  
 दिसावधारणवाक्यानीत्येव वर्णयितुं शक्यानि स्युरित्यलमातिवाग्जालेन । वस्तुतस्तु  
 योगिनां समाधौ दूरविप्रकृष्टपदार्थज्ञानं सर्वशास्त्रप्रसिद्धं न परोक्षम् । तदानीं परोक्षसा-  
 मग्र्यभावात् । नापि स्मरणम् । तेषां पूर्वविशिष्याननुभवात् । नापि सुखादिज्ञानवत्सा-  
 क्षिरूपम् । अपसिद्धांतात् नाप्यप्रमाणकं प्रमासामान्ये करणनियमात् । नापि चक्षु-  
 रादिजन्यम् । तेषामसन्निकर्षात् । तस्मान्मानासिकी प्रमैव सा वाच्येति मनस इन्द्रि-  
 यत्वं प्रमाणत्वं च दूरमपह्नवमेवेति । येऽपि योगश्रुत्योः ‘समुच्चयं कल्पयति तेषामपि  
 पूर्वोक्तदूषणगणस्तदवस्थ एव । तस्माद्योगजन्यसंस्कारसचिवमनोमाश्रगम्य आत्मेति  
 सिद्धम् । न च कामिनी भावयतो व्यवहितकामिनीसाक्षात्कारस्थेव भावनाजन्यत्वेना-  
 त्मसाक्षात्कारस्याप्रमात्प्रसंगः । अबाधितविषयत्वात् दोषजन्यत्वाभावाच्च । कामिनी-  
 साक्षात्कारस्य तु बाधितविषयत्वाद्दोषजन्यत्वाच्चाप्रामाण्यं न । भावनाजन्यत्वात् । न च  
 भावनासमाधेर्ज्ञापकत्वे प्रमाणांतरापातः तस्याः मनःसहकारित्वात्प्रमाणनिरूपणानिपुणै-  
 र्नेयाधिकादिभिरपि योगजप्रत्यक्षस्यालौकिकप्रत्यक्षेऽन्तर्भावः । कृतः । योगजालौकिक-  
 सन्निकर्षेण योगिनो व्यवहितविप्रकृष्टसूक्ष्मार्थमात्मानमपि यथार्थं पश्यन्ति । तथा च

पातंजले सूत्रे—“ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात्” तत्र समाधौ या प्रज्ञास्याः श्रुतं श्रवणं शाब्दबोधः । अनुमननमनुमानं यौक्तिकज्ञानं तदूपप्रज्ञाभ्यामन्यविषया । कुतः । विशेषार्थत्वात् । विशेषो निर्विकल्पोऽर्थो विषयो यस्याः सा तथा तस्या भावस्तथात्वं तस्माच्छब्दस्यापदार्थतावच्छेदकपुरस्कारेणैवानुमानस्य व्यापकत्वावच्छेदकपुरस्कारेणैव धीजनकत्वनियमेन तद्ग्रहणे योग्यविशेष्यमात्रपरत्वादित्यर्थः । अत्र बादरायणकृतं भाष्यम्—श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयं न ह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुं कस्माच्च विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इत्यारभ्य समाधिप्रज्ञानिग्राह्य एव सविशेषो भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वेति ॥ योगबीजे—‘ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेंद्रियः । विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ॥’ किंच—‘तदेव सक्तः सह कर्मणेति लिङ्गं मनो यत्र निषिक्तमस्य’ इति श्रुतेः । ‘कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु’ इति स्मृतेश्च देहावसानसमये यत्र रागाद्यद्बुद्धो भवति ताभेव योर्नि जीवः प्राप्नोतीति योगहीनस्य जन्मांतरं स्यादेव मरणसमये समुद्भूतवैकृत्यस्यायोगिना वारयितुमशक्यत्वात् । तदुक्तं योगबीजे—‘देहावसानसमये चित्ते यद्यद्विभावयेत् । तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्मकारणम् ॥ देहांते किं भवेज्जन्म तत्र जानंति मानवाः । तस्माज्ज्ञानं च वैराग्यं जपश्च केवलं श्रमः ॥ पिपीलिका यदा लग्ना देहे ज्ञानाद्विमुच्यते । असौ किं वृश्चिकैर्दष्टो देहांते वा कथं सुखी ॥’ इति । योगिनां तु योगबलेनांतकालेऽप्यात्मभावनया मोक्ष एवेति न स्याज्जन्मांतरम् । तदुक्तं भगवता—‘प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव’ इत्यादिना । ‘शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः’ इत्यादिश्रुतेश्च । न च तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वे ताद्विचारस्य वैयर्थ्यमेवेति शङ्कयम् । वाक्यविचारजन्यज्ञानस्य योगद्वाराऽपरोक्षज्ञानसाधनत्वात् । अत्र च योगबीजे गौरीश्वरसंवादो महानस्ति ततः किंचिल्लिख्यते । देव्युवाच ॥ ज्ञानिनस्तु नृता ये वै तेषां भवति कीदृशी । गतिः कथय देवेश कारुण्यामृतवारिधे ॥ ईश्वर उवाच ॥ देहांते ज्ञानिना पुण्यात्पापात्फलमवाप्यते । यादृशं तु भवेत्तत्तदुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत् ॥ पश्चात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम् । ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा ॥ ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम् ॥ देव्युवाच ॥ ज्ञानादेव हि मोक्षं च वदंति ज्ञानिनः सदा । न कथं सिद्धयोगेन योगः किं मोक्षदो भवेत् ॥ ईश्वर उवाच ॥ ज्ञानेनैव हि मोक्षो हि तेषां वाक्यं तु नान्यथा । सर्वे वदंति खड्गेन जयो भवति तर्हि किम् ॥ विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात् । तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत् ॥’ इत्यादि । ननु जनकादीनां योगमंतरेणाप्यप्रतिबद्धज्ञानमोक्षयोः श्रवणात्कथं योगादेवाप्रतिबद्धज्ञानं मोक्षश्चेति चेत् । उच्यते । तेषां पूर्वजन्मानुष्ठितयोगजसंस्काराज्ज्ञानप्राप्तिरिति पुराणादौ श्रूयते । तथाहि—‘जैगिषव्यो

यथा विप्रो यथा चैवासितादयः । क्षत्रिया जनकाद्यास्तु तुलाधारादयो विशः ॥  
 संप्राप्ताः परमां सिद्धिं पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः । धर्मव्याधादयः सप्त शूद्राः पौलवकादयः ॥  
 मैत्रेयी सुलभा शार्ङ्गी शण्डिली च तपस्विनी । एते चान्ये च बहवो नीचयोनिगता  
 अपि ॥ ज्ञाननिष्ठां परां प्राप्ताः पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः ॥' इति । किंच । पूर्वजन्मानु-  
 ष्ठितयोगाभ्यासपुण्यतारतम्येन केचिद्ब्रह्मत्वं केचिद्ब्रह्मपुत्रत्वं केचिद्देवीर्षत्वं केचिद्ब्रह्मर्षि-  
 त्वं केचिन्मुनित्वं केचिद्भक्तत्वं च प्राप्ताः संति । तत्रोपदेशमंतरेणैवात्मसाक्षात्कारवन्तो भ-  
 वेषुः । तथाहि—हिरण्यगर्भवसिष्ठनारदसनत्कुमारवामदेवशुकादयो जन्मसिद्धा इत्येव पुरा-  
 णादिषु श्रूयते । यत्त ब्राह्मण एव मोक्षाधिकारीति श्रूयते पुराणादौ । तद्योगिपरम् ।  
 तदुक्तं गरुडपुराणे—“योगाभ्यासो नृणां येषां नास्ति जन्मांतरादतः । योगस्य प्राप्तये  
 तेषां शूद्रवैश्यादिकक्रमः ॥ स्वीत्वाच्छूद्रत्वमभ्येति ततो वैश्यत्वमाप्नुयात् । ततश्च  
 क्षत्रियो विप्रः कृपाहीनस्ततो भवेत् ॥ अनूचानः स्मृतो यज्वा कर्मन्यासी ततः  
 परम् । ततो ज्ञानित्वमभ्येति योगी मुक्तिं क्रमालभेत् ॥' इति । शूद्रवैश्यादिक्रमाद्योगी  
 भूत्वा मुक्तिं लभेदित्यर्थः । इत्थं च योगे सर्वाधिकारश्रवणाद्योगोत्पन्नतत्त्वज्ञानेन सर्व  
 एव मुच्यन्त इति सिद्धम् । योगिनस्तु भ्रष्टस्यापि न शूद्रादिक्रमः । 'शुचीनां श्रीमतां  
 गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ अथवा योगिनामेव' इत्यादि भगवद्भचनादित्यलम् ॥१५॥

भाषार्थ—अब हठाभ्यासके बिना ज्ञान और मोक्ष सिद्ध नहीं होते इसका वर्णन करते हैं  
 कि, जबतक प्राण और इंद्रिय जीवते हैं और मनभी नहीं मरता है अर्थात् जीवता है इडा  
 और पिंगलामें प्राणके बहनेको प्राणका जीवन और अपने २ विषयोंका ग्रहण करना इंद्रि-  
 योंका जीवन और नाना प्रकारके विषयोंको उत्पन्न करना मनका जीवन कहाताहै और तिस २  
 भावको प्राप्त हो जानाही यहां तिस २ का मरण । विवक्षित है कुछ स्वरूपसे इनका नाश  
 विवक्षित नहीं है—तबतक मनरूप अंतःकरणमें अपरोक्षानुभवरूप ज्ञान कैसे हो सकता है  
 अर्थात् कदाचित्भी नहीं हो सकताहै । क्योंकि प्राण, इंद्रिय, मन इनकी जो वृत्ति है वे ज्ञान-  
 की प्रतिबंधक होती हैं—और जो योगी प्राण और मन इन दोनोंका विशेषकर लय करेता  
 है वह योगी आत्यंतिक स्वरूपमें स्थितिरूप मोक्षको प्राप्त होताहै—और ब्रह्मरूपमें जो बिना  
 व्यापार प्राणकी स्थिति वही प्राणका लय कहाता है और ब्रह्मसे भिन्न विषयोंमें व्यापाररहित  
 होनाही मनका लय कहाता है और जो अन्य है अर्थात् जिसके प्राण और मनका लय नहीं  
 हुआहै वह योगी सैकड़ों उपायोंसेभी किसी प्रकार मोक्षको प्राप्त नहीं होताहै सोई योगबीजमें  
 कहाहै कि, नानाप्रकारके विचारोंसे तो मन साध्य नहीं होताहै तिससे तिस मनका जयही  
 प्राणका जय है अनेक प्रकारके मार्गोंसे बहुधा जिसमें सुख दुःख हैं वह जन्म होताहै और  
 योगमार्गसे कैवल्य ( मोक्ष ) रूप परमपद मिलताहै अन्यथा नहीं मिलताहै यह शिवजीका  
 कथन है इससे यह सिद्ध भया कि, योगके बिना ज्ञान और मोक्ष सिद्ध नहीं होते हैं और  
 श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदिकोंमें भी यही प्रसिद्ध है कि इसके अनंतर आत्मदर्श-  
 नका उपाय योग है और अध्यात्मयोगकी प्राप्तिसे देवको मानकर धीरमनुष्य हर्ष और शोकको  
 त्यागताहै और श्रद्धा भक्ति ध्यान योगसे आत्माको जानता भया और जब मनसहित पांचों

ज्ञान इंद्रिय विषयोंसे रहित टिकती हैं और बुद्धि भी चेष्टा न करती हो उसको परमगति योगीजन कहते हैं और उस स्थिर इंद्रियोंकी चोरणाकोही योग मानते हैं और उस समय योगी अप्रमत्त होजाताहै और जीव दयावान् आत्मतत्त्व (आत्मज्ञान) से योगी ब्रह्मतत्त्वको देखता है तब अज और नित्य जो संपूर्ण तत्त्वोंसे विशुद्ध देव है उसको जानकर संपूर्णबंधनोंसे छूटता है ब्रह्मरूप तेज तुझ आत्माकी ओंकाररूपसे उपासना करे-और तिन उन्नत ( सीधे ) और सम शरीरको स्थापन करके और मनसहित इंद्रियोंको हृदयमें प्राविष्ट करके ब्रह्मनामसे भयके दाता संपूर्ण स्रोतोंको विद्वान् योगी तैरे-ओंकाररूपसे आत्माका ध्यान करो-और यतिधर्म प्रकरणमें मनुने लिखाहै कि, परमात्माके योगसे भूत और भावी पदार्थोंको देखे तो स्थूल सूक्ष्मरूप दोनों देहोंको शीघ्र त्यागकर बंधनसे छुट जाताहै-याज्ञवल्क्यस्मृतिमें लिखाहै कि, यज्ञ, आचार, इंद्रियोंका दमन, अहिंसा, दान, स्वाध्याय, कर्म-इनका यही परमधर्म है कि, योगसे आत्माको देखना-मातंगमहर्षिका वाक्य है ब्राह्मण अग्निष्टोम आदि संपूर्ण यज्ञोंको छोड़कर योगाभ्यासमें तत्पर हुआ शांत होकर परब्रह्मको प्राप्त होताहै । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री और शूद्र इनके लिये पवित्रकर्मोंकी शांति और मुक्तिके अर्थ योगसे अन्य कोई वस्तु नहीं है-दक्षस्मृतिमें निषेधमुखसे कहाहै कि, स्वसंवेद्य ( स्वयं जानाजाय ) जो वह ब्रह्म उसको योगीसे भिन्न इस प्रकार नहीं जानते हैं जैसे कुमारी ( कन्या ) स्त्रीके सुखको और जन्मांध बटोंको नहीं जानताहै-इत्यादि स्मृतियोंमें और महाभारतमें भी योगमार्गमें व्यासने कहाहै कि, वर्गावकृष्ट ( पतित ) वा धर्मकाक्षिणी नारी हो वे दोनों भी इस मार्गसे परमगतिको प्राप्त होते हैं संपूर्णधर्मोंका ज्ञाता हो वा अकृती ( पुण्यहीन ) हो धार्मिक हो वा अत्यंत पापी हो पुरुष हो वा नपुंसक हो ऐसा मनुष्यभी जरामरणसमुद्रके महादुःखके सेवनके जाननेका अभिलाषी शब्दब्रह्मका अवलंबन करताहै भगवद्गीतामें भी लिखा है कि, वशीभूत है मन जिसके ऐसा मनुष्य सदा इस प्रकार आत्मयोगको करता हुआ भेरेमें स्थितिरूप और मोक्ष है परम जिसमें ऐसे शान्तिरूप स्थानको प्राप्त होताहै जो स्थान सांख्योंको प्राप्त होताहै उसीमें योगीभी जाते हैं-आदित्यपुराणमें लिखाहै, कि योगसे ज्ञानहोताहै और भेरेमें एक रस चित्त रखनेको योग कहते हैं । स्कंदपुराणमें लिखा है कि, आत्मज्ञानसे मुक्ति होती है वह आत्मज्ञान योगके विना नहीं हो सकता और वह योग चिरकालके अभ्याससेही सिद्ध होताहै, कूर्मपुराणमें शिवजीका वाक्य है कि, इससे आगे परमदुर्लभ योगको कहताहूँ जिससे सूर्यके समान ईश्वर आत्माको योगी देखते हैं योगरूप अग्नि शीघ्रही संपूर्ण पापके पंजरको दग्ध करती है और प्रसन्न ज्ञान होताहै और ज्ञानसे मोक्ष होजाताहै-गरुडपुराणमें कहा है कि, बुद्धिमान् मनुष्य तिसप्रकार यत्नकरै जैसे परमसुखहो और वह सुख योगसे मिलताहै अन्य किसीसे नहीं-संसारके तापोंसे तपायमान मनुष्योंके लिये योग परम औषध है जिसकी निर्वेद ( वैराग्य ) से उत्पन्न हुई बुद्धि परअवरमें प्रसक्त है योगरूप अग्निसे दग्धहुये हैं समस्त क्लेश-संचय जिसके ऐसा वह परमनिर्वाणपदको सदैव प्राप्त होताहै इसमें संशय नहीं है-प्राप्त हुईही है योगसिद्धि जिसको उसको और आत्माके दर्शनसे पूर्ण जो है उसको कुछभी कर्तव्य नहीं देखते उसने सब कर लिया-आत्माराम और सदा पूर्णरूप और आत्यंतिक सुखको प्राप्त है इससे परमानंदरूप उसको निर्वेद ( सुख ) हो जाताहै-तपसे जानाहै आत्मा जिन्होंने और

वशमें हैं इन्द्रियें जिनके ऐसे महात्मा योगीजन योगसेही महासमुद्र ( जगत् ) को तर जातेहैं-और विष्णुधर्मोंमें लिखाहै कि, जो सब भूतोंका श्रेय है और द्वियोंका और कीट पतंगोंका भी उपकार है उस परमश्रेयको हमारे प्रति कहो इस प्रकार देव और देवर्षियोंने कहाहै जिनको ऐसे कपिलमुनि पहिले समयमें योगकोही श्रेय कहते भये-वासिष्ठमें लिखा है कि, हे राम ! संसारके विषका जो वेग उसकी विषूचिका दुःसह है वह योगरूप और पवित्र गारुडमंत्रसेही शांत होती है कदाचित् कोई शंका करे कि तत्त्वमसि आदि महावक्योंसे भी अपरोक्ष प्रमाण ( ज्ञान ) होताहै तो किसलिये अत्यंतश्रमसे साध्ययोगमें प्रयास करते हो कदाचित् कहो कि वाक्यसे जन्य ज्ञानके अपरोक्ष होनेमें प्रमाणका असंभव है सो नहीं क्योंकि, तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे उत्पन्न हुआ ज्ञान अपरोक्ष है-अपरोक्ष विषयक होनेसे चक्षुसे हुये घट आदिके प्रत्यक्षकी तुल्य यह अनुमान प्रमाण है । कदाचित् कहो कि, विषयकी अपरोक्षताके नीरूप ( रूपहीन ) होनेसे हेतुकी असिद्धि है सो ठीक नहीं. क्योंकि अज्ञानका विषय चित्त, और चित्तके संग तादात्म्यरूपको प्राप्तत्व, ये दोनोंहैं रूप जिसके ऐसी जो विषयकी अपरोक्षता वह भलीप्रकार निरूपण करने योग्य है जैसे घट आदिमें जब चक्षुकी संनिकर्ष दशमें उसके अधिष्ठानरूप चैतन्यकी अज्ञाननिवृत्तिके होनेपर उसका चैतन्य अज्ञानका विषय होना, और उस घटका अज्ञान विषय चैतन्यके संग तादात्म्यकी प्राप्ति होना ये दोनों अपरोक्ष हैं-तिसीप्रकार तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे शुद्ध चैतन्याकार वृत्तिके होनेपर उसके अज्ञानकी निवृत्ति होनेसेही तत्त्व अज्ञानका विषय नहीं रहा इससे चैतन्य अपरोक्ष है इससे हेतुकी असिद्धि नहीं है-कदाचित् कहो कि, हेतु अप्रयोजक है अर्थात् अपने साध्यको सिद्ध नहीं करसकता, अपरोक्षता ज्ञानसे होती है इससे प्रत्यक्ष जो परोक्ष उसका विषयक होनेसे हेतु प्रयोजक है कुछ इन्द्रियजन्यही अपरोक्ष नहीं होता, क्योंकि मन इन्द्रिय नहीं है उसकोभी सुख आदिकी विषयकता होनेसे व्यभिचार होजायगा अथवा अभिव्यक्त ( प्रकट ) चैतन्यके अभिव्यक्तसे जो भासमान होना वही विषयकी अपरोक्षताहै और आवरणकी निवृत्ति होनेकोभी अभिव्यक्त कहतेहैं-और परोक्ष वृत्तिके स्थूलमें आवरण निवृत्तिका अभाव है इससे वहां अतिव्याप्तिरूप दोष नहीं है-जो मनुष्य रज्जु आदिमें सर्प आदि भ्रमके उत्पादक दोषवाला है उसको जो यह सर्प नहीं किंतु रज्जु है इस वाक्यसे उत्पन्न हुई जो वृत्ति वह आवरणको निवृत्त नहीं करती है इससे वहां परोक्षही विषय है और वेदांतके वाक्योंसे जो ज्ञान उत्पन्न होताहै आवरणका निवर्तक होनेसे वह अपरोक्षही है क्योंकि वह मनन आदिसे पूर्व उत्पन्न हुआ है और ज्ञाननिवर्तक प्रमाणकी असंभावना आदि. संपूर्ण दोषोंके अभाव विशिष्टही उस वेदांतवाक्योंसे जन्यज्ञानको अज्ञानकी निवर्तकता है और उस उपनिषदोंसे प्रतिपादन किये पुरुषको पूछताहूँ इस श्रुतिसे प्रतिपन्न ( सिद्ध ) उपनिषद् मात्रसे जो जाना जाताहै वह योगसेही जानाजायगा तिससे तत्त्वमसि. आदि वाक्यसेही अपरोक्षज्ञान होताहै सो ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमान अप्रयोजक है, क्योंकि प्रत्यक्षके प्रति और पूर्वोक्त अक्ष ( इन्द्रिय ) सामान्यके प्रति इन्द्रियरूपसे कारणता है इससे इन्द्रियसे जन्यत्वही प्रयोजक है और नित्य अनित्य साधारण प्रत्यक्षमें तो कुछ प्रयोजक नहीं होताहै और उनके मतमें तो किसी प्रत्यक्षमें इन्द्रिय कारण है और किसी प्रत्यक्षमें शब्दविशेष कारण है

इस प्रकार दो कार्य कारणभाव होजायेंगे अर्थात् एक कार्यके दो कारण मानने पड़ेंगे—कदाचित् कहो कि मन इंद्रिय नहीं है सो भी नहीं क्योंकि, मन इंद्रियोंका नाथ है यह वचन मनुष्यके समान उद्देश करके मनुष्योंका यह राजा है इसके समान मनुष्योंमें ही कुछ उत्कर्षको कहताहै कुछ मनको इंद्रियभिन्न नहीं कहताहै और तत्त्व तो यह है कि, मन इंद्रियोंमें एक अखंडोपाधिरूपही है इसीसे पायु ( गुदा ) आदि कर्मेन्द्रिय और मन नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रिय है और जो प्रत्यक्ष हो वह ऐन्द्रियक और जो अप्रत्यक्ष हो वह अतीन्द्रिय कहाताहै इन शक्तिके निर्णायक कोशोंमें इंद्रियाप्रमाणक ज्ञानको अप्रत्यक्ष कहते हुये मनको इंद्रिय होना प्रतीत कराते हैं और दश और एक इंद्रिय है यह गीता वचनभी मनके इंद्रिय होनेमें प्रमाण है और तत्त्वमासि आदि वाक्योंसे पैदा हुआ ज्ञान-शब्दसे उत्पन्न है, शब्दसे उत्पन्न होनेसे, यज्ञ करे इत्यादि वाक्योंसे उत्पन्न ज्ञानके समान—इस अप्रत्यक्ष विरोधि शब्दजन्यके साधक अनुमानसे सत्प्रतिपक्षभी है विरोधि पदार्थके साधक हेतुको सत्प्रतिपक्ष कहते हैं—कदाचित् कहो कि, यह अनुमान अप्रयोजक है सोभी नहीं क्योंकि शब्दजन्य ज्ञानकाही शब्द जनक होताहै यह लाघवमूलक अनुकूल तर्क इस अनुमानमें है तेरे मतमें तो शब्दसेभी प्रत्यक्षके स्वीकार करनेसे दो कार्य कारण भाव होजायेंगे इससे गौरव है—और मनन, निदिध्यासनसे पहिले भी उत्पन्न है और तेरे मतमें परोक्षभी उक्तज्ञान अज्ञानका निवर्तक नहीं होगा इससे अज्ञाननिवृत्तिके प्रति बाधज्ञानरूपसेही हेतु मानना पड़ेगा यह भी गौरव है, मेरे मतमें तो समाधिका जो अभ्यास उसके परिपाकसे असंभावना आदि संपूर्ण मलोंसे रहित अर्थात् अंतःकरणसे आत्माके देखनेपर और दर्शनमात्रसेही अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है इससे कोईभी गौरवका अवकाश नहीं है—और संपूर्ण भूतोंमें यह गुप्त आत्मा प्रकाशित नहीं होता है, परन्तु सूक्ष्मदर्शी मनुष्य इस आत्माको सूक्ष्म और मुख्य जो बुद्धि उससे देखते हैं—धीर मनुष्य वाणी और मनको रोके इन वचनोंसे लेकर अज्ञानकी निवृत्ति है अर्थ जिसका ऐसे इस कठवल्लीके मृत्युके मुखसे छुटताहै मृत्युके उपदेशकोभी यह बात संमत है इससे इसमें कोई विवाद नहीं है—और यदि मनन आदिसे पूर्व उत्पन्न हुआ ज्ञान परोक्षही है इससे प्रतिबंधका किया गौरव नहीं है इस मतको मानोगे तो तब भी श्रवण आदिसे मनका संस्कार सिद्ध होनेपर उसके अनंतर कालहीमें आत्माका दर्शन संभव है इससे उसके अनन्तर वाक्योंके स्मरण आदिको कल्पना करनेमें भी महान् गौरव है—कदाचित् शंका करो कि हम केवल तर्कसे शब्दजन्य ज्ञानको अपरोक्ष नहीं करते हैं किंतु श्रुति भी कहती है सोई दिखातेहैं कि, उस उपनिषदोंसे कहे हुये पुरुषको मैं पूछता हूँ इस श्रुतिसे जो पुरुषको औपनिषदरूप कहाहै वह कुछ उपनिषदोंसे उत्पन्न जो बुद्धि उसकी विषयमात्र नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष आदिसे जानने योग्यमें औपनिषद् यह व्यवहार होजायगा जैसे बारह कपालोंमें आठ कपालोंके होनेपरभी द्वादश कपालोंमें संस्कार किये पदार्थमें आठ कपालोंमें संस्कृत यह व्यवहार नहीं होताहै और जैसे द्विपुत्र मनुष्यमें एक पुत्र व्यवहार नहीं होताहै तैसेही यहां भी समझना और अन्यत्र तैसा व्यवहार नहीं होताहै इससे उपनिषदमात्रसे जानने योग्यही यहां प्रत्ययका अर्थ है और मनसे जानने योग्य आत्माको मानोगे तो वह सिद्ध नहीं होगा यह शंका भी ठीक नहीं है, क्यों कि प्रत्ययसे, उपनिषदसे भिन्न जो सब कारण हैं उनकी निवृत्ति ( निषेध ) नहीं होती है, क्योंकि

शब्दके अपरोक्षवादी अपने भी आत्माके परोक्षज्ञानमें मन आदि करण माने हैं किन्तु प्रत्ययसे पुराण आदि जो अन्य शब्द हैं उनकीही व्यावृत्ति होती है, क्योंकि श्रुतिके वाक्योंसे आत्मा सुनने योग्य है यह कहा है और वह अर्थ मुझे भी संमत है इससे आपका कथन तुच्छ है और प्रमाणांतरकी व्यावृत्तिमें श्रुतिके तात्पर्यकी कल्पना तभी कहनी योग्य है जब शब्दरूप प्रमाण सिद्ध होजाय और पुराण आदि शब्दांतरकी व्यावृत्तिमें तात्पर्य तो श्रुति आदिका संमत होनेसे कल्पना करनेको उचितही है ऐसा सिद्ध होनेपर यह आत्मा मनसेही देखने योग्य है इत्यादि श्रुतिभी अनायाससे लगसकती है जो किसीने यह कहा है कि, दर्शनवृत्तिके प्रति जो मंनमात्रकोही उपादान कहती हैं उन श्रुतियोंके संग कुछ विरोध नहीं है । यह उनका कहना तो अत्यंतही विचारमें नहीं आसकता क्योंकि, प्राणकी आकांक्षामें प्रवृत्त हुई ये श्रुति उपादानमें तत्पर कैसे होसकती हैं क्योंकि काम, संकल्प, विचिकित्सा (संदेह) ये सब मनहीसे हैं इत्यादि श्रुतिसे निश्चयपूर्वक सब वृत्तियोंका मनकोही उपादान कारण बोधन करदिया तब आकांक्षाके अभावसे उपादानमें तात्पर्यको श्रुति कैसे वर्णन करसकती है । पहिले दूसरी वल्लीमें ओंकारको ब्रह्मबोधक कहा है इससे ओंकारभी अपरोक्षज्ञानका हेतु होजायगा, इस शंकाके निवारण करनेके लिये मनसे ही आत्मा देखने योग्य है, इत्यादि निश्चायक वचन हैं इस रीतिसे संपूर्ण श्रुति वर्णन करने (लगाने) को शक्य हैं इस प्रकार वाक्जालसे अलं है अर्थात् वाणीके जालको समाप्त करते हैं सिद्धांत तो यह है कि, योगियोंको समाधिकेविषे दूर और विप्रकृष्टपदार्थोंका जो ज्ञानहै संपूर्ण शास्त्रोंमें प्रसिद्ध वह ज्ञान परोक्ष नहीं है, क्योंकि उसी समय कोई परोक्षकी सामग्री नहीं है और स्मरण भी नहीं है क्योंकि उनका पहिले पृथक् २ अनुभव नहीं है और सुखआदिके ज्ञान समान वह साक्षित्वरूपभी नहीं है क्योंकि इसमें सिद्धांतका विघात है और प्रमाणरहितभी नहीं है क्योंकि संपूर्ण प्रमाणोंमें कारणका नियम है और चक्षुआदिसे उत्पन्न भी वह ज्ञान नहीं है क्यों कि चक्षुआदिका उस समय संनिकर्ष नहीं है तिससे वह मानसिक प्रमाही कहनी चाहिये इससे मन प्रमाणरूप और इंद्रिय है यह निर्दोषहै-और भी जो योग और श्रुतिके समुच्चयकी कल्पना करते हैं उनके भी मतमें पूर्वोक्त दूषणोंका गण तदवस्थही है तिससे यह सिद्धभया कि, योगजन्य संस्कारहै सहायक जिसका ऐसे मनसेही आत्मा जानने योग्यहै कदाचित् कोई कहै कि, कामिनीकी भावना करनेवाले पुरुषको जैसे व्यवहित (दूरस्थित) कामिनीका साक्षात्कार अप्रमा होताहै इसी प्रकार भावनासे उत्पन्न आत्मसाक्षात्कारभी अप्रमा होजायगा सोभी ठीक नहीं क्योंकि आत्मसाक्षात्कारका विषय (आत्मा) बाधित नहीं है और न दोषसे जन्य है कामिनीका साक्षात्कार तो बाधित विषयक है और दोषजन्यभी है इससे अप्रमाणहै तिससे भावनासे जन्य आत्मसाक्षात्कार अप्रमाण नहीं है कदाचित् कहो कि, भावनाको समाधिका ज्ञापक मानोगे तो यह भी एक प्रमाण होजायगा सो ठीक नहीं क्योंकि, भावना मनकी सहकारिणी है इससे प्रमाणके निरूपणमें अनिपुण नैयायिक आदिकोंने भी योगजप्रत्यक्षका अलौकिक प्रत्यक्षमें अन्तर्भाव किया है और योगसे उत्पन्न हुये अलौकिक संनिकर्षसे योगीजन व्यवहित विप्रकृष्ट और सूक्ष्म पदार्थरूप भी आत्माको यथार्थरीतिसे देखते हैं-सोई इस पातंजलसूत्रमें कहाहै कि, उक्त समाधिमें जो सत्यप्रज्ञा (बुद्धि) है उसके शाब्दबोध और अनुमानसे अर्थात् युक्ति

सिद्धज्ञान है उनसे वह प्रज्ञा अन्यविषयक हो जाती है अर्थात् भिन्न अर्थकोभी विषय करलेती है क्योंकि उसका विषय निर्विकल्प अर्थ है—तिससे शब्द पदार्थ वृत्तिधर्म (घटत्व आदि) पुरस्कारके विनाही और अनुमानव्यापकमें वर्तमान धर्मके पुरस्कार (ज्ञान) सेही बोधके जनक नियमसे है इससे अर्थके ग्रहणमें योग्य विशेष्यमेंही तत्पर है अर्थात् योगविषयकोही ग्रहण करतेहैं—यहां व्यासजीका रचा यह भाष्यहै कि, श्रुतनाम आगमविज्ञान है—वह आगमविज्ञान सामान्य विषय है क्योंकि आगम विशेषको नहीं कहसकता; क्योंकि विशेषरूपसे शब्दका संकेत नहीं होताहै—इससे आरम्भ करके समाधि प्रज्ञासे भलीप्रकार ग्रहण करने योग्य वह विशेष है और वह पुरुषगत है वा भूतसूक्ष्मगत है—योगबीजमें कहाहै कि, ज्ञाननिष्ठहो वा विरक्तहो धर्मज्ञहो वा जितेंद्रियहो योगके विना देव भी हे प्रिये ! मोक्षको प्राप्त नहीं होता है और यह श्रुति भी है कि, कर्मके संग उसीबातके करनेमें यह मनुष्य असक्त है जिसमें इसका मनरूप लिंग प्रविष्ट है और स्मृति भी है कि सत् असत् योनियोंके जन्मोंमें इसको गुणोंका संगही कारण है—देहके मरणसमयमें जिसविषयमें राग आदिसे उद्वुद्ध होताहै उसी योनिको जीव प्राप्त होताहै इससे योगहीनका अन्य जन्म होताही है, क्योंकि मरणके समयमें हुई जो विकृति उसको अयोगी नहीं हटा सकता है सोई योगबीजमें कहाहै कि, देहके अन्तसमयमें जिस २ को विचारता है वही वह जीव होजाता है यही जन्मका कारण है देहके अन्तमें कौन जन्म होगा यह मनुष्य नहीं जानते हैं—तिससे ज्ञान, वैराग्य, जप ये केवल श्रम है जब पिपीलिका ( चेंटी ) देहमें लग जाती है और ज्ञानसे झूटजाती है तो वृश्चिकोंसे डसा हुआ यह जीव देहके अन्तमें कैसे सुखी हो संकंताहै—योगियोंको तो योगके बलसे अन्तकालमेंभी आत्म-विचारसे मोक्षही होताहै जन्मांतर नहीं होताहै, सोई भगवानने कहाहै कि मरण समयमें अचल मनसे भक्तिसे युक्त वा योगके बलसे मोक्ष होताहै और यह श्रुतिभी है कि एकसौ एक हृदयकी नाडी हैं कदाचित् कहो कि, तत्त्वमासि आदि वाक्यको अपरोक्षज्ञानका जनक मानोगे तो उसका विचार करना व्यर्थ है,—सो ठीक नहीं क्योंकि वाक्यके विचारसे उत्पन्न जो ज्ञान है वह योगके द्वारा अपरोक्ष साधन है इसविषयमें योगबीजमें गौरी और महादेवका बहुत संवाद है उसमेंसे कुछ यहां लिखते हैं कि पार्वती बोली जो ज्ञानी मरते हैं उनकी कैसी गति होती है—हे देवेश ! हे दयारूप अमृतके समुद्र ! इसको कहो, ईश्वर बोले कि, देहके अंतमें ज्ञानीको पुण्य पापसे जो फल प्राप्त होता है उसको भोगकर फिर ज्ञानी होजाताहै फिर पुण्यसे सिद्धोंके संग संगतिको प्राप्त होता है फिर सिद्धोंकी कृपासे योगी होताहै अन्यथा नहीं होता, फिर संसार नष्ट होजाता है अन्यथा नहीं । यह शिवका कथनहै, पार्वती बोली ज्ञानी सदा ज्ञानसेही मोक्षको कहते हैं तो सिद्धयोगसे योग मोक्षका दाता कैसे होजाता है ? ईश्वर बोले ज्ञानसे मोक्ष होताहै यह उनका वचन अन्यथा नहीं है—जैसे सब कहते हैं कि, खड्गसे जय होता है तो युद्ध और वीर्यके विना जयकी प्राप्ति कैसे होगी—तैसेही योगरहित ज्ञानसे मोक्ष नहीं होताहै इत्यादि—कदाचित् कोई शंका करे कि, जनक आदिकोंको योगके विनाही प्रतिबंध रहित ज्ञान और मोक्ष सुने जाते हैं तो कैसे योगसेही प्रतिबंधरहित ज्ञान और मोक्ष होंगे—इस शंकाका उत्तर देते हैं कि, उनको पूर्वजन्ममें किये योगसे उत्पन्न जो संस्कार उससे ज्ञानकी प्राप्ति पुराण आदिमें सुनी जाती है सोई दिखातेहैं कि जैसे जैगीषव्य

ब्राह्मण और असित आदि ब्राह्मण और जनक आदि क्षत्रिय और तुलाधार आदि वैश्य ये पूर्व-जन्ममें किये अभ्यासके योगसे परमासिद्धिको प्राप्त हुये और धर्मव्याध आदि सात शूद्र पैल-वकआदि-और मैत्रेयी सुलभा शाङ्गी शांडिली ये तैत्तिरी-और अन्य बहुतसे नीचयो-निमें गतभी पूर्वजन्ममें किये अभ्यासके योगसे परमज्ञान निष्ठाको प्राप्त हुये-और पूर्वजन्ममें किये योगके पुण्यके अनुसार कोई ब्रह्मा कोई ब्रह्माके पुत्र कोई देवाधि कोई ब्रह्माधि कोई मुनि कोई भक्तरूपको प्राप्त हुये हैं-और उपदेशके विनाही आत्मसाक्षात्कारवाले हो जायेंगे सोई दिखातेहैं कि हिरण्यगर्भ, वसिष्ठ, नारद, सनत्कुमार, वामदेव, शुक आदि ये पुराण आदिमें जन्मसेही सिद्ध सुनेहैं और जो पुराण आदिमें यह सुनाहै कि, ब्राह्मणही मोक्षका अधिकारी है-वह योगीसे भिन्नके विषयमें समझना सोई गरुडपुराणमें कहाहै कि, जन्मांतरमें किया योगाभ्यास जिन मनुष्योंको नहीं है उनको योगप्राप्तिके लिये शूद्र वैश्य आदिका क्रम है वे स्त्रीसे शूद्र होतेहैं और शूद्रसे वैश्य होतेहैं और दयासे रहित क्षत्रिय होजाते हैं फिर अनूचान ( विद्यावान् )-यज्ञका कर्ता-फिर कर्मसंन्यासी होते हैं फिर ज्ञानी योगी होकर क्रमसे मुक्तिको प्राप्त होजाते हैं अर्थात् शूद्र वैश्य आदि क्रमसे योगी होकर मुक्तिको प्राप्त होजातेहैं इस प्रकार सब जातियोंका अधिकार सुननेसे योगसे उत्पन्न तत्त्वज्ञानके द्वारा सब मुक्त होते हैं यह सिद्ध भया-और अष्टमी योगीको तो शूद्र आदिका क्रम नहीं है क्योंकि भगवानका यह वचन है कि, योगसे अष्टमनुष्य, शूद्र जो धनी उनके कुलमें पैदा होताहै अथवा बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें पैदा होताहै-इति अलम्-भावार्थ-यहहै कि, जबतक प्राण जीवै और मन न भै तबतक इस लोकमें ज्ञान कहाँसे होसकता है और जो मनुष्य प्राण और मनका लय-करे वह मोक्षको प्राप्त होता है अन्यमनुष्य किसीप्रकार भी प्राप्त नहीं होताहै ॥ १५ ॥

**ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ॥**

**स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरंध्रे निरोधयेत् ॥ १६ ॥**

प्राणमनसोर्लयं विना मोक्षो न सिध्यतीत्युक्तम् । तत्र प्राणलयेन मनसोऽपि लयः सिध्यतीति तल्लयरीतिमाह-ज्ञात्वेति ॥ सदैव सर्वदैव सुस्थाने शोभने स्थाने 'सुराज्ये धार्मिके देशे' इत्याद्युक्तलक्षणे स्थित्वा स्थितिं कृत्वा वसतिं कृत्वेत्यर्थः । सुषुम्ना मध्यनाडी तस्याः सद्भेदं शोभनं भेदनप्रकारं ज्ञात्वा गुरुमुखाद्विदित्वा वायुं प्राणं मध्यनं मध्यनाडीसंचारिणं कृत्वा ब्रह्मरंध्रे मूर्धावकाशे निरोधयेन्नितरां रुद्धं कुर्यात् ॥ प्राणस्य ब्रह्मरंध्रे निरोधो लयः प्राणलये जाते मनोऽपि लीयते । तदुक्तं वासिष्ठे-  
'अभ्यासेन परिस्पंदे प्राणानां क्षयमागते । मनः प्रक्षममायाति निर्वाणमवशिष्यते ॥'  
इति । प्राणमनसोर्लये सति भावनाविशेषरूपसमाधिसहकृतेनांतःकरणेनावधितात्मसाक्षात्कारो भवति तदा जीवन्नेव मुक्तः पुरुषो भवति ॥ १६ ॥

भाषार्थ-प्राण और मनके लयविना मोक्ष सिद्ध नहीं होता यह कहा उनमें प्राणके लयसे मनकाभी लय सिद्ध होताहै इससे प्राणके लयकी रीतिका वर्णन करतेहैं कि, सदैव उत्तमस्था-नमें अर्थात् उत्तमराज्य और धार्मिकदेशमें स्थित होकर सुषुम्ना नाडीके भेदनको भली प्रकार

गुरुमुखसे जानकर और प्राणवायुको मध्यनाडीमें गत (संचारी) करके ब्रह्मरंध्र (मूर्द्धाके अवकाश) में निरुद्ध करे (रोकै) प्राणका ब्रह्मरंध्रमें जो निरोध वही लय है और प्राणके लय होनेपर मनका भी लय होजाताहै सोई वासिष्ठमें कहा है कि अभ्याससे जब प्राणोंकी क्रियाका क्षय होजाताहै तब मन शांत होजाता है और निर्वाणही शेष रहजाताहै और प्राण और मनका लय होनेपर भावना विशेषरूप समाधि है सहकारी जिसकी ऐसे अंतःकरणसे अबाधित आत्मसाक्षात्कार जब होजाताहै तब पुरुष जीवन्मुक्त होजाताहै ॥ १६ ॥

**सूर्याचंद्रमसौ धत्तः कालं रात्रिदिवात्मकम् ॥**

**भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥ १७ ॥**

प्राणलये कालजयो भवतीत्याह—सूर्याचंद्रमसाविंति ॥ सूर्यश्च चंद्रमाश्च सूर्याचंद्रमसौ ॥ “देवताद्वंद्वे च” इत्यानङ्ग । रात्रिश्च दिवा च रात्रिदिवम् ‘अचतुर’ इत्यादिना निपातितः । रात्रिदिवं आत्मा स्वरूपं यस्य स रात्रिदिवात्मकस्तं रात्रिदिवात्मकं कालं समयं धत्तो विधत्तः कुरुतः । सुषुम्ना सरस्वती कालस्य सूर्याचंद्रमोभ्यां कृतस्य रात्रिदिवात्मकस्य समयस्य भोक्त्री भक्षिका विनाशिका । एतद्गुह्यं रहस्यमुदाहृतं कथितम् । अयं मावः । सार्धं घटिकाद्वयं सूर्यो वहति सार्धं घटिकाद्वयं चंद्रो वहति । यदा सूर्यो वहति तदा दिनमुच्यते । यदा चंद्रो वहति तदा रात्रिरुच्यते । पंचघटिकामध्ये रात्रिदिवात्मकः कालो भवति ॥ लौकिकाहोरात्रमध्ये योगिनां द्वादशाहोरात्रात्मकः कालव्यवहारो भवति । तादृशकालमानेन जीवानामायुर्मानमस्ति । यदा सुषुम्नामार्गेण वायुब्रह्मरंध्रे लीनो भवति । तदा रात्रिदिवात्मकस्य कालस्याभावादुक्तम् ‘भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य’ इति । यावद्ब्रह्मरंध्रे वायुलीयते तावद्योगिन आयुर्वर्धते । दीर्घकालाभ्यस्तसमाधिर्योगी पूर्वमेव मरणकालं ज्ञात्वा ब्रह्मरंध्रे वायुं नीत्वा कालं निवारयति स्वेच्छया देहत्यागं च करोतीति ॥ १७ ॥

भाषार्थ—अब प्राणका लय होनेपर कालका जय होताहै इसको वर्णन करते हैं कि सूर्य और चंद्रमा, रात्रिदिन है स्वरूप जिसके ऐसे कालको करते हैं और सुषुम्ना जो नाडी है वह सरस्वतीरूप नाडी सूर्य और चंद्रमाके किये रात्रिदिनरूप कालको भक्षण करनेवाली है अर्थात् नाशिका है यह गुप्त वस्तु कही है तात्पर्य यह है कि, अढाई घडीतक सूर्य बहताहै और अढाई घडीतक चंद्रमा बहता है जब सूर्यस्वर बहता है वह दिन कहाता है और जब चंद्रमा बहाता है तब रात्रि कहाती है. इस प्रकार पांच घडीके मध्यमेंही रात्रिदिनरूप काल होजाताहै लौकिक अहोरात्रके मध्यमें योगियोंके बारह अहोरात्र होते हैं और उसी लौकिक कालके मानसे जीवोंकी आयुका प्रमाण है जब सुषुम्नाके मार्गरे वायु ब्रह्मरंध्रमें लीन होजाताहै तब रात्रिदिनरूप कालके अभावसे कहा है कि, सुषुम्ना कालकी भोक्त्री है जितने कालतक वायु ब्रह्मरंध्रमें लीन रहता है उतनेही कालतक योगियोंकी आयु बढ़तीहै बहुत कालतक कियाहै समाधिका अभ्यास जिसने ऐसा योगी पहिलेही अपने मरण-समयको जानकर और ब्रह्मरंध्रमें प्राण वायुको लेजाकर कालका निवारण करताहै और अपनी इच्छासे देहका त्याग करता है ॥ १७ ॥

**द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पंजरे ॥**

**सुषुम्ना शंभवी शक्तिः श्लेषास्त्वेव निरर्थकाः ॥ १८ ॥**

द्वासप्ततीति ॥ पंजरे पंजरवच्छिरास्थिभिर्वद्धे शरीरे द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीनां शिराणां द्वाराणि वायुप्रवेशमार्गाः सन्ति सुषुम्ना मध्यनाडी शंभवी शक्तिरस्ति शं सुखं भवत्यस्माद्भक्तानामिति शंभुरीश्वरस्तस्येयं शंभवी । ध्यानेन शंभुप्रापकत्वात् । शंभोराविर्भावजनकत्वाद्वा शंभवी । यद्वा शं सुखरूपो भवति तिष्ठतीति शंभुरात्मा तस्येयं शंभवी चिदभिव्यक्तिस्थानत्वाद्ध्यानेनात्मसाक्षात्कारहेतुत्वाच्च । शेषा इडापिंगलादयस्तु निरर्थका एव निर्गतोऽर्थः प्रयोजनं यासां ता निरर्थकाः । पूर्वोक्तप्रयोजनाभावात् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—इस मनुष्यके पंजरमें अर्थात् पंजरके समान शिरा अस्थियोंसे बंधेहुये शरीरमें बहत्तर सहस्र नाडियोंके द्वार हैं अर्थात् वायुप्रवेश होनेके मार्ग हैं उनमें सुषुम्ना जो मध्यनाडी है वह शंभवी शक्ति है अर्थात् तिससे भक्तोंको सुख हो ऐसे शंभु ( शिवजी ) की शक्ति है क्योंकि वह नाडी ध्यानसे शंभुको प्राप्त करती है वा शंभुकी प्रकटताको पैदा करती है इसीसे शंभवी कहाती है अथवा शं ( सुख ) रूप जो टिकै उस आत्माको शंभु कहते हैं उसकी जो शक्ति वह शंभवी कहाती है क्योंकि वह चैतन्यकी अभिव्यक्ति ( प्रकटता ) का स्थान है और ध्यानसे आत्माके साक्षात्कारका हेतु भी सुषुम्ना है और शेष जो इडा पिंगला आदि नाडी हैं वे सब निष्प्रयोजन हैं अर्थात् उनसे पूर्वोक्त प्रयोजन सिद्ध नहीं होताहै ॥ १८ ॥

**वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुण्डलीम् ॥**

**बोधयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ॥ १९ ॥**

वायुरिति ॥ यस्मात्परिचितोऽभ्यस्तो वायुस्तस्मादग्निना जठराग्निना सह कुण्डलीं शक्तिं बोधयित्वा अनिरोधतोऽप्रतिबंधात्सुषुम्नायां सरस्वत्यां प्रविशेत् वायोः सुषुम्नाप्रवेशार्थमभ्यासः कर्तव्य इत्यर्थः ॥ १९ ॥

भाषार्थ—जिससे परिचित अर्थात् अभ्यास किया वायु जठराग्निके संग कुण्डलीशक्तिके बोधन ( जगा ) करके निरोध ( रोक ) के अभावसे सरस्वतीरूप सुषुम्नामें प्रविष्ट होजाताहै इससे वायुका सुषुम्नामें प्रवेशके लिये अभ्यास करना उचित है ॥ १९ ॥

**सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी ॥**

**अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् ॥ २० ॥**

सुषुम्नेति ॥ प्राणे सुषुम्नावाहिनि सति मनोन्मनी उन्मन्यवस्या सिद्ध्यत्येव । अन्यथा प्राणे सुषुम्नावाहिन्यसति तु इतराभ्यासाः सुषुम्नेतराभ्यासा योगिनां योगाभ्यासिनां प्रयासायैव श्रमायैव भवन्तीत्यर्थः ॥ २० ॥

भाषार्थ—जब प्राण सुषुम्नामें बहने लगता है तब मनोन्मनी अवश्य सिद्ध होजाती है और प्राणके सुषुम्नावाही न होनेपर तो सुषुम्नाके अभ्याससे भिन्न जितने अभ्यास योगियोंके हैं वे सब वृथा हैं अर्थात् परिश्रमके ही जनक होनेसे उनसे कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता है ॥ २० ॥

**पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ॥**

**मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥ २१ ॥**

पवन इति ॥ येन योगिना पवनः प्राणवायुर्बध्यते बद्धः क्रियते तेनैव योगिना मनो बध्यते । येन मनो बध्यते तेन पवनो बध्यते । मनःपवनयोरैकतरे बद्धे उभयं बद्धं भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

भाषार्थ—योगी जिससे पवनका बंधन करलेता है उसीसे मनको भी बंधन करलेता है और जिस कारणसे मनका बंधन करसकता है उसी रीतिसे प्राणकोभी बांध सकता है अर्थात् मन और पवन इन दोनोंमेंसे एकके बंधनसे दोनोंका बंधन हो सकता है ॥ २१ ॥

**हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ॥**

**तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः ॥ २२ ॥**

हेतुद्वयं तु चित्तस्येति ॥ चित्तस्य प्रवृत्तौ हेतुद्वयं कारणद्वयमस्ति । किं तदित्याह—वासना भावनाख्यः संस्कारः समीरणः प्राणवायुश्च तयोर्वासनासमीरणयोरैकोस्मिन् विनष्टे सति क्षीणे सति तौ द्वावपि विनश्यतः । अयमाशयः । वासनाक्षये समीरणचित्ते क्षीणे भवतः समीरणे क्षीणे चित्तवासने क्षीणे भवतः । चित्ते क्षीणे समीरणवासने क्षीणे भवतः । तदुक्तं वासिष्ठे—‘द्वे बीजे राम चित्तस्य प्राणस्यंदनवासने । एकस्मिंश्च तयोर्नष्टे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः ॥’ तत्रैव व्यतिरेकेणोक्तम्—‘यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः । न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति ॥ न यावद्याति विज्ञानं न तावच्चित्तसंक्षयः । यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम् ॥ यावन्न वासनामाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः । यावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः ॥ तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च । मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः ॥ त्रय एते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः । तावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्भवत्यपि समाश्रितैः ॥’ इति ॥ २२ ॥

भाषार्थ—चित्तकी प्रवृत्तिमें दो हेतु हैं एक तो वासना अर्थात् भावना नामका संस्कार और प्राणवायु, वासना और प्राणवायु इन दोनोंमेंसे एकके नष्ट होनेपर वे दोनोंभी नष्ट हो जाते हैं यहां यह आशय है कि, वासनाके क्षय होनेपर पवन और चित्त नष्ट होजाते हैं और पवनके क्षीण होनेपर चित्त और वासना नष्ट होजाते हैं और चित्तके क्षीण होनेपर पवन और वासना क्षीण होजाते हैं सोई वासिष्ठमें कहा है कि, हे राम ! प्राणकी क्रिया और वासना ये दोनों चित्तके बीज हैं उन दोनोंके मध्यमें एकके नष्ट होनेपर वे दोनोंभी नष्ट होजाते हैं और, वासिष्ठमें ही व्यतिरेक ( निषेध ) के द्वारा कहा है कि जबतक मनका लय नहीं होता तबतक वास-

नाका क्षय नहीं होता है और इतने वासनाका क्षय नहीं होता तब तक चित्त शांत नहीं होता है और जबतक विज्ञान नहीं होता तबतक चित्तका संक्षय नहीं होता है और जबतक चित्त शांत नहीं होता तबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता है और जबतक वासनाका नाश न हो तबतक तत्त्वका आगमन कहाँ और जबतक तत्त्वका आगम ( प्राप्ति ) न हो तबतक वासनाका क्षय नहीं होता इससे तत्त्वज्ञान मनका नाश और वासनाका क्षय ये तीनों परस्पर कारण होकर दुःखसे साध्यरूप होकर स्थित हैं इससे जबतक इन तीनोंका, समरीतिसे बारंबार अभ्यास न किया जाय तबतक अन्य कारणोंसे तत्त्व (ब्रह्मज्ञान) की संप्राप्ति नहीं होती है ॥ २२

**मनो यत्र विलीयत पवनस्तत्र लीयते ॥**

**पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥ २३ ॥**

मन इति ॥ यत्र यस्मिन्नाधारे मनो लीयते तत्र तस्मिन्नाधारे पवनो विलीयत इत्यन्वयः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—जिसमें मनका लय होता है वहाँही पवनका लय हो जाता है और जहाँ पवनका लय होता है वहाँ ही मनभी लीन हो जाता है ॥ २३ ॥

**दुग्धांबुवत्संमिलिताबुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि ॥**

**यतो मरुतत्र मनःप्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः ॥ २४ ॥**

दुग्धांबुवदिति ॥ दुग्धांबुवत्क्षीरनीरवत्संमिलितौ सम्यक् मिलितौ ताबुभौ द्वावपि मानसमारुतौ मानसं च मारुतश्च मानसमारुतौ चित्तप्राणौ तुल्यक्रियौ तुल्या समा क्रिया प्रवृत्तिर्ययोस्तादृशौ भवतः तुल्यक्रियत्वमेवाह—यत इति । यतः यत्र सार्वविभक्तिर्वस्तसिः । यस्मिन् चक्रे मरुद्वायुः प्रवर्तते तत्र तस्मिन् चक्रे मनःप्रवृत्तिः मनसः प्रवृत्तिर्भवति । यतो यस्मिन् चक्रे मनः प्रवर्तते तत्र तस्मिन्चक्रे मरुत्प्रवृत्तिः वायोः प्रवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । तदुक्तं वासिष्ठे—‘अविनाभाविनी नित्यं जंतूनां प्राणचेतसी । कुसुमामोदवन्मिश्रे तिलतैले इवास्थिते ॥ कुरुतश्च विनाशेन कार्यं मोक्षारूपमुत्तमम्’ इति ॥ २४ ॥

भाषार्थ—दूध और जलके समान मिलेहुये मन और पवनरूप जो चित्त और प्राण हैं वे दोनों तुल्यक्रिय हैं अर्थात् दोनोंकी प्रवृत्ति तुल्य होती है अर्थात् जिस नाडियोंके चक्रमें वायु प्रवृत्त होता है उसी चक्रमें मनकी प्रवृत्ति होती है और जिस चक्रमें मन प्रवृत्त होता है उसी चक्रमें वायुकी प्रवृत्ति होती है सोई वासिष्ठमें कहा है कि, प्राणियोंके प्राण और चित्त दोनों अविनाभावी हैं अर्थात् एकके विना एक नहीं होसकता है और पुष्प और सुगंधके समान मिलेहुए तिल और तेलके समान स्थित हैं और ये अपने विनाशसे मोक्षरूप उत्तम कार्यको करते हैं ॥ २४ ॥

**तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः ॥**

**अध्वस्तयोश्चंद्रियवर्गवृत्तिः प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्यसिद्धिः ॥ २५ ॥**

तत्रेति ॥ तत्र तयोर्मानसमारुतयोर्मध्ये एकस्य मानसस्य माहृतस्य वा नाशाल्ल-  
यादपरस्यान्यस्य मारुतस्य मानसस्य वा नाशो ल्यो भवति । एकप्रवृत्तेरेकस्य मानसस्य  
मारुतस्य वा प्रवृत्तेर्व्यापारादपरप्रवृत्तिरपरस्य मारुतस्य मानसस्य वा प्रवृत्तिर्व्यापारो  
भवति । अध्वस्तथोरलीनयोर्मानसमारुतयोः सतोर्निद्रियवर्गवृत्तिरिन्द्रियसमुदायस्य स्वस्व-  
विषये प्रवृत्तिर्भवति । अध्वस्तयोः प्रलीनयोस्तयोः सतोर्मोक्षपदस्य मोक्षारूपपदस्य सिद्धि-  
निष्पत्तिर्भवति । तयोर्लये पुरुषस्य स्वरूपेऽवस्थानादित्यर्थः । 'तत्रापि साध्यः पवनस्य  
नाशः षडंगयोगादिनिषेवणेन । मनोविनाशस्तु गुरोः प्रसादान्निमेषमात्रेण सुसाध्य  
एव' ॥ योगबीजे मूलश्लोकस्यायमुत्तरः श्लोकः ॥ २५ ॥

भाषार्थ—उन दोनों पवन और मनके मध्यमें एक मन वा पवनके नाशसे दूसरा पवन वा  
मनका नाश होता है और एक मन पवनके व्यापारसे दूसरे मन वा पवनका व्यापार होता है  
और जबतक मन और पवन नष्ट नहीं होते तबतक संपूर्ण इन्द्रियोंका समुदाय अपने २ विष-  
यमें प्रवृत्त होता है और जब मन और प्राणका भलीप्रकार लय हो जाता है तब मोक्षरूप  
पदकी सिद्धि होती है, क्योंकि इन दोनोंका लय होनेपर पुरुषकी अपने स्वरूपमें स्थिति हो-  
जाती है और इस मूलके श्लोकके उत्तरश्लोक योगबीजमें यह लिखा है कि, षडंगयोग आदि-  
के सेवनसे पवनका नाश साधन करने योग्य है और मनका विनाश तो गुरुके प्रसादद्वारा  
निमेषमात्रसे सुसाध्य है ॥ २५ ॥

**रसस्य मनसश्चैव चंचलत्वं स्वभावतः ॥**

**रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिद्ध्यति भूतले ॥ २६ ॥**

रसस्येति ॥ रसस्य पारदस्य मनसो मानसस्य स्वभावतः स्वभावाच्चंचलत्वं चांच-  
ल्यमस्ति । रसः पारदो बद्धश्चेन्मनश्चित्तं बद्धं भवति । ततो भूतले पृथिवीतले किं न  
सिद्ध्यति सर्वं सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

भाषार्थ—और रस ( पारद ) और मन ये दोनों स्वभावसे चंचल हैं । यदि रस और मन ये  
दोनों बंधजायें तो भूतलमें ऐसी वस्तु कौन है जो सिद्ध न हो सकै अर्थात् सब पदार्थ सिद्ध  
होसकते हैं ॥ २६ ॥

**मूर्च्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति रुदयम् ॥**

**बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ॥ २७ ॥**

तदेवाह—मूर्च्छित इति ॥ औषधिविशेषयोगेन गतचापलो रसो मूर्च्छितः कुम्भकांते  
रेचकानिवृत्तो वायुर्मूर्च्छित इत्युच्यते । हे पार्वतीति । पार्वतीसुबोधायेश्वरवाक्यम् ।  
मूर्च्छितो रसः पारदो वायुः प्राणश्च व्याधीन् रोगान् हरते नाशयति । मस्मीभूतो  
रसो ब्रह्मरंध्रे लीनो वायुश्च मृतः स्वयमात्मना स्वसामर्थ्येनेत्यर्थः । जीवयति दीर्घ-  
कालं जीवनं करोति । क्रियाविशेषेण गुटिकीकारकृतो रसः बद्धो भ्रूमध्यादौ धारणा-

विशेषेण धृतो वायुश्च वद्धः खेचरतामाकाशगतिं धत्ते विधत्ते करोतीत्यर्थः । तदुक्तं  
ओरक्षशतके—‘यद्भिन्नांजनपुंजसन्निभमिदं वृत्तं भ्रुवोरन्तरे तत्त्वं वायुमयं पकारसहितं तत्रे-  
श्वरो देवता । प्राणं तत्र विलाप्य पंचघटिकं चित्तान्वितं धारयेद्देवा खे गमनं करोति  
यमिनां स्याद्वायुना धारणा’ इति ॥ २७ ॥

भाषार्थ—औषधिविशेषके योगसे नष्टहुईहै चपलता जिसकी ऐसा रस मूर्च्छित कहाता है और  
कुम्भकके अंतमें रेचकसे निवृत्त वायुको मूर्च्छित कहते हैं, हे पार्वती ! मूर्च्छित कियाहुआ  
पारद और प्राणवायु सम्पूर्ण रोगोंको नष्ट करता है और माराहुआ अर्थात् भस्म कियाहुआ  
पारा और ब्रह्मरंध्रमें लीन प्राणवायु, यह अपने सामर्थ्यसे मनुष्यको दीर्घकालतक जिवा सक-  
ताहै और वद्ध किये हुए वे दोनों अर्थात् क्रियाविशेषसे गुटिकाकार किया हुआ पारा और  
भ्रुकुटिके धारणविशेषसे धारण किया हुआ प्राणवायु ये दोनों आकाशगतिको करते हैं अर्थात्  
वह योगी पक्षियोंके समान आकाशमें उडसकता है सोई ओरक्षशतकमें कहा है कि, भि-  
न्नांजन पुंजके समान अर्थात् पिसे हुए अंजनके समूहकी तुल्य गोलाकार वायुरूप और पकार  
सहित तत्त्व ( प्राण ) भ्रुकुटियोंके मध्यमें है उस तत्त्वका ईश्वर देवता है उस ईश्वरमें प्राणको  
चित्तसहित लय करके पांचवर्ती पर्यंत धारण करै, यह वायुके संग चित्तकी धारणा योगीज-  
नोंका आकाशमें गमन करती है ॥ २७ ॥

**मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेत् ॥**

**बिंदुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिंडस्थैर्यं प्रजायते ॥ २८ ॥**

मनःस्थैर्य इति ॥ मनः स्थैर्ये सति वायुः प्राणः स्थिरो भवेत् । ततो वायुस्थै-  
र्याद्भिन्दुर्वीर्यं स्थिरो भवेत् । बिंदोः स्थैर्यात्सदा सर्वदा सत्त्वं बलं पिंडस्थैर्यं देहस्थैर्यं  
प्रजायते ॥ २८ ॥

भाषार्थ—मनकी स्थिरता होनेपर प्राणभी स्थिर होताहै और वायुकी स्थिरतासे वीर्यकी स्थि-  
रता होती है और वीर्यकी स्थिरतासे सदैव बल होता है और उससेही देहकी स्थिरता  
होतीहै ॥ २८ ॥

**इंद्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ॥**

**मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥ २९ ॥**

इंद्रियाणामिति ॥ इंद्रियाणां श्रोत्रादीनां मनोऽतःकरणं नाथः प्रवर्तकः । मनोनाथो  
मनसो नाथो मारुतः प्राणः । मारुतस्य प्राणस्य लयो मनोविलयो नाथः । स लयो  
मनोलयः नादमाश्रितो नादे मनो लीयत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

भाषार्थ—श्रोत्र आदि इंद्रियोंका नाथ ( प्रवर्तक ) अंतःकरण मन है और मनका नाथ  
प्राण है और प्राणका नाथ मनका लय है और वह मनका लय नादके आश्रित है अर्थात्  
नादमें मनका लय होता है ॥ २९ ॥

**सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापि मतांतरे ॥**

**मनःप्राणलये कश्चिदानंदः संप्रवर्तते ॥ ३० ॥**

सोऽयमिति ॥ सोऽयमेव चित्तलय एव मोक्षाख्यो मोक्षपदवाच्यः । मतांतरेऽन्यमते मास्तु वा । चित्तलयस्य सुषुप्तावपि सत्त्वान्मनःप्राणयोर्लये सति कश्चिदनिर्वाच्य आनंदः संप्रवर्तते सम्यक् प्रवृत्तो भवति । अनिर्वाच्यानंदाविर्भावे जीवन्मुक्तिमुखं भवत्येवेति भावः ॥ ३० ॥

भाषार्थ—सो यही चित्तका लय मोक्षरूप है अर्थात् इसकोही मोक्ष कहते हैं अथवा मतांतरमें इसको मोक्ष मत मानो, क्योंकि चित्तका लय सुषुप्तिमें भी होताहै तो भी मन और प्राणके लय होनेपर जो कुछ अकथनीय आनंद प्रकट होता है उस अनिर्वचनीय आनंदके प्रकट होनेपर जीवन्मुक्ति रूप सुख अवश्य होता है ॥ ३० ॥

**प्रनष्टश्चासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः ॥**

**निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥ ३१ ॥**

प्रनष्टेति ॥ श्वासश्च निश्वासश्च श्वासनिश्वासौ प्रनष्टौ लीनौ श्वासनिश्वासौ यस्मिन् स तथा बाह्यवायोरेतः प्रवेशनं श्वासः अंतःस्थितस्य वायोर्बहिर्निःसरणं निश्वासः प्रध्वस्तः प्रकर्षेण ध्वस्तो नष्टो विषयाणां शब्दादीनां ग्रहो ग्रहणं यस्मिन् निर्गता चेष्टा कायक्रिया यस्मिन् निर्गतो विकारोऽतः करणक्रिया यस्मिन् पतादृशयोगिनां लयोऽन्तःकरणवृत्तेर्ध्वेयाकारा वृत्तिर्जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—जिसमें श्वास और निःश्वास भलीप्रकार नष्ट होजाय अर्थात् बाहरकी पवनका जो भीतर प्रवेश वह श्वास और भीतरकी पवनका बाहर निकासना यह निःश्वास, यह दोनों जिसमें न रहें और इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण करनाभी जिससे भलीप्रकार नष्ट होजाय, और देहकी क्रियारूप चेष्टाभी जिसमें न रहे, और अंतःकरणका क्रियारूप विकारभी जिसमें न हो, ऐसा जो योगियोंका लय है अर्थात् ध्यान करने योग्य वस्तुके आकारकी जो अंतःकरणवृत्तिहै वह सबसे उत्तम है ॥ ३१ ॥

**उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः ॥**

**स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ॥ ३२ ॥**

उच्छिन्नेति ॥ उच्छिन्ना नष्टाः सर्वे संकल्पा मनःपरिणामा यस्मिन् स तथा निर्गतः शेषो येभ्यस्तानि निःशेषाण्यशेषाणि चेष्टितानि यस्मिन् स तथा स्वेनैवावगंतुं बोद्धुं शक्यः स्वावगम्यः वाचामगोचरो विषयः कोऽपि विलक्षणो लयः जायते योगिनां प्रादुर्भवति ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—जिसमें मनके परिणाम रूप संपूर्ण संकल्प नष्ट होगये हों और जिसमें संपूर्ण चोष्टित न रहे हों अर्थात् कर चरण आदिका व्यापार निवृत्त हो और जो अपने आपही जानते

योग्य हो अर्थात् जिसको अन्य पुरुष न जानसके और जो वाणीकाभी अगोचर हो अर्थात् वाणीभी जिसको न कहसके ऐसा विलक्षण लय योगीजनोंको प्रगट ( उत्पन्न ) होताहै ॥ ३२ ॥

**यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतेन्द्रियसनातनी ॥**

**सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये लयं गते ॥ ३३ ॥**

यत्र दृष्टिरिति ॥ यत्र यस्मिन्विषये ब्रह्मणि दृष्टिरंतःकरणवृत्तिस्तत्रैव लयो भवति । भूतानि पृथिव्यादीनि इंद्रियाणि श्रोत्रादीनि सनातनानि शाश्वतानि यस्यां सा सत्कार्यवादेऽविद्यायां कार्यजातस्य सत्त्वात् । जीवभूतानां प्राणिनां शक्तिर्विद्या इमे द्वे अलक्ष्ये ब्रह्मणि लयं गते योगिनामिति शेषः ॥ ३३ ॥

भाषार्थ-जिस ब्रह्मरूप विषयमें अन्तःकरणकी वृत्ति होतीहै उसीमें मन लय होताहै और पृथ्वी आदि पंच महाभूत और श्रोत्र आदि इन्द्रिय ये जिसमें न हों वह अविद्या, क्योंकि सत्कार्यवाद मतेमें अविद्यामें सम्पूर्ण कार्यका समूह रहता है, सत्कार्यवाद यह है कि घट आदिकार्य सतरूप है-और प्राणियोंकी शक्तिरूप विद्या, ये अविद्या और विद्यारूप दोनों अलक्ष्य ब्रह्ममेंही योगियोंके लय हो जाते हैं ॥ ३३ ॥

**लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम् ॥**

**अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः ॥ ३४ ॥**

लय इति ॥ लय इति प्राहुर्वदन्ति बहवः । लयस्य लक्षणं लयस्वरूपं कीदृशमिति प्रश्नपूर्वकं लयस्वरूपमाह-अपुनरिति । अपुनर्वासनोत्थानात्पुनर्वासनास्थानाभावाद्विषयविस्मृतिर्विषयाणां शब्दादीनां ध्येयाकारस्य विषयस्य वा विस्मृतिर्ल्यो लयशब्दार्थ इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ-बहुतसे मनुष्य लय ऐसा कहते हैं परन्तु लयका लक्षण ( स्वरूप ) क्या है ऐसा कोई पूछे तो शब्द आदि सम्पूर्ण विषयोंकी वा ध्यान करनेयोग्य विषयकी जो विस्मृति उसको लय कहते हैं क्योंकि उस मनमें फिर वासना नहीं उठती हैं वा वह मन फिर वासनाओंका स्थान नहीं रहता है ॥ ३४ ॥

**वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ॥**

**एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलबधूरिव ॥ ३५ ॥**

वेदेति ॥ वेदाश्चत्वारः शास्त्राणि षट् पुराणान्यष्टादश सामान्या गणिका इव वेश्या इव । बहुपुरुषगम्यत्वात् । एका शांभवी मुद्रैव कुलबधूरिव कुलस्त्रीव गुप्ता । पुरुष विशेषगम्यत्वात् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ-चारों वेद और छहोंशास्त्र और अष्टादश १८ पुराण ये सब सामान्य गणिका ( वेश्या ) के समान हैं क्योंकि ये अनेक पुरुषोंके जानने योग्य हैं और एक पूर्वोक्त शांभवी-मुद्राही कुलबधूके समान गुप्त है क्योंकि उसको कोई बिरला मनुष्यही जानसकता है ॥ ३५ ॥

अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ॥

एषा सा शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥ ३६ ॥

चित्तल्याय प्राणलयसाधनीभूतां मुद्रां विवक्षुस्तत्र शांभवीं मुद्रामाह—अंतर्लक्ष्य-  
मिति ॥ अंतः आधारादिब्रह्मरंध्रातेषु चक्रेषु मध्ये स्वामिमते चक्रे लक्ष्यमंतःकरण-  
वृत्तिः । बहिर्देहाद्बहिःप्रदेशे दृष्टिः चक्षुःसंबंधः कीदृशी दृष्टिः निमेषोन्मेषवर्जिता निमेषः  
पक्ष्मसंयोगः उन्मेषः पक्ष्मसंयोगविश्लेषः ताभ्यां वर्जिता रहिता चित्तस्य ध्येयाकारा-  
वेशे निमेषोन्मेषवर्जिता दृष्टिर्भवति । सोक्तैषा मुद्रा शांभवी शंभोरियं शांभवी शिव-  
प्रिया शिवाविर्भावजनिका वा भवति । कीदृशी वेदशास्त्रेषु गोपिता वेदेषु ऋगादिषु  
शास्त्रेषु सांख्यपातंजलादिषु गोपिता रक्षिता ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—चित्तके लयार्थ प्राणलयका साधन जो शांभवीमुद्रा उसके कथनके अभिलाषी आ-  
चार्य प्रथम शांभवीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, भीतरके जो आधार आदि चक्र हैं उनके मध्यमें  
अपनेको अभीष्ट जो चक्र हो उसमें लक्ष्य ( अंतःकरणकी वृत्ति ) हो और बाहिरके विषयोंमें  
जो दृष्टि हो वह निमेष और उन्मेषसे वर्जित हो अर्थात् पक्ष्म ( पलक ) के संयोग और वि-  
योगसे हीन हो, क्योंकि चित्तमें ध्यान करनेके योग्य जो वस्तु उसके आकारके आवेश होनेसे  
निमेष रहित प्रकाशितहो नेत्र बने रहते हों वेद और शास्त्रोंमें गुप्त यह मुद्रा अर्थात् ऋग्वेद  
आदि वेद और सांख्य पातंजल आदिशास्त्रोंमें भी छिपीहुई यह मुद्रा शांभवी कहलाती है कि  
इससे शंभुका आविर्भाव ( प्रकटता ) होता है वा यह मुद्रा शंभु भगवान्ने कही है ॥ ३६ ॥

अंतर्लक्ष्यविलिनिचित्तपवनो योगी यदा वर्तते

दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ॥

मुद्रयं खलु शांभवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः

शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्त्वं परं शांभवम् ॥ ३७ ॥

शांभवीं मुद्रामभिनीय दर्शयति—अंतर्लक्ष्यमिति ॥ यदा यस्यस्यवस्थायामंतः अना-  
हतपद्मादौ यल्लक्ष्यं सगुणेश्वरमूर्त्यादिकं तत्त्वमस्यादिवाक्यलक्ष्यं जीवेश्वराभिन्नमहं  
ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थभूतं ब्रह्म वा तस्मिन्विलीनौ विशेषेण लीनौ चित्तपवनौ मनोमारुतौ  
यस्य स तथा योगी वर्तते निश्चलतारया निश्चला स्थिरा तारा कनीनिका यस्य तादृश्या  
दृष्ट्या बहिर्देहाद्बहिःप्रदेशे पश्यन्नपि चक्षुःसंबंधं कुर्वन्नपि अपश्यन् बाह्यविषयग्रहण-  
मकुर्वन् वर्तते आस्ते । खल्विति वाक्यालंकारे । इयमुक्ता शांभवी मुद्रा शांभवीनामिका  
मुद्रयति क्लेशानिति मुद्रा गुरोर्देशिकस्य प्रसादात्प्राप्तिपूर्वकादनुग्रहालब्धा प्राप्ता चेत्तदि-  
दमिति वक्तुमशक्यं शांभवं शांभवीमुद्रायां भासमानं पदं पद्यते गम्यते योगिभिरिति  
पदमात्मस्वरूपं शून्याशून्यविलक्षणं ध्येयाकारवृत्तेः सद्भावाच्छून्यविलक्षणं तस्या अपि  
मानाभावादशून्यविलक्षणं तत्त्वं वास्तविकं वस्तु स्फुरति प्रतीयते । तथाचोक्तम्—अन्त-

लक्ष्यमनन्यधीरविरतं पश्यन्मुदा संयमी दृष्ट्युन्मेषनिमेषवर्जितमियं मुद्रा भवेच्छात्मवी ॥  
 गुप्तेयं गिरिज्ञेन तंत्रविदुषा तंत्रेषु तत्त्वार्थिनामेषा स्याद्यमिनां मनोव्यकरी मुक्तिप्रदा  
 दुर्लभा ॥ १ ॥ ऊर्ध्वदृष्टिरधोदृष्टिरूर्ध्ववेधो ह्यधः शिराः । राधायंत्रविधानेन जीवन्मुक्तो  
 भवेत्क्षितौ । २ । ' ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—अब शांभवीमुद्राके स्वरूपको घटाकर दिखाते हैं कि, जिस कालमें योगी इस प्रकार वर्तै अर्थात् स्थित रहै कि, भीतर अनाहत ( निश्चल ) पद्म आदिमें जो सगुण मूर्ति आदि लक्ष्य है वा तत्त्वमासी आदि महावाक्योंसे लक्ष्य जो जीव ईश्वरके अभेदरूप में ब्रह्म हैं इस वाक्यका अर्थरूप ब्रह्म है उसमेंही विशेषकर जिसके चित्त और पवन ( प्राण ) ये दोनों लीन हों और निश्चल है तारे जिसमें ऐसी दृष्टि ( नेत्र ) से देखे बाहिरके देशमें देखताहुआभी अद्रष्टाके समान हो अर्थात् बाहिरके विषयको न जानताहुआ अधोदृष्टि रहताहै—यह पूर्वोक्त शांभवी नामकी मुद्रा है और जो केशोंको छिपाए उसे मुद्रा कहते हैं—यदि यह मुद्रा गुरुके प्रसादसे प्राप्त होजाय तो वह शांभव शंभुभगवान्का तत्त्व जिसको इस प्रकार नहीं बता सकते कि, यह है शांभवीमुद्रामें भासमान वह योगियोंको प्राप्त होनेयोग्य आत्मारूप तत्त्व अर्थात् ध्येयाकार वृत्तिके होनेसे शून्यसे विलक्षण और अंतमें ध्येयाकार वृत्तिकेभी अभावसे अशून्यसे विलक्षण वास्तविकं वस्तु योगीजनोंके मनमें स्फुरती है अर्थात् प्रतीत होती है—सोई कहा है कि अनन्यबुद्धि होकर अर्थात् अन्यविषयमें बुद्धिको न लगाकर भीतरके लक्ष्य ( ब्रह्म ) को दृष्टिके उन्मेष निमेषसे वर्जित नेत्रोंसे निरंतर आनंदसे देखताहुआ संयमी ( योगी ) होय तो यह शांभवी मुद्रा होती है और तंत्रके ज्ञाता गिरिश ( शिव ) ने यह गुप्त रक्खी है और यह दुर्लभमुद्रा तत्त्वके अभिलाषी योगीजनोंके मनको लय करती है और मुक्तिको भलीप्रकार देती है और ऊर्ध्व और अधोदृष्टि होकर और ऊर्ध्व-वेध और अधःशिर होकर स्थित योगी इस राधायंत्रके विधानसे भूमिमें रहताहुआभी जीवन्मुक्त होताहै—भावार्थ यह है कि, भीतरके लक्ष्यमें लयहुये हैं चित्त पवन जिसके और निश्चल हैं तारा जिसके ऐसी दृष्टिसे बाहिरके विषयको देखताहुआभी न देखनेके समान हो ऐसे योगीकी यह शांभवीमुद्रा होती है यदि यह गुरुके प्रसादसे प्राप्त हो जाय तो योगीको शून्य अशून्यसे विलक्षण जो शंभुका पदरूप परम तत्त्व है वह प्रतीत होताहै ॥ ३७ ॥

**श्रीशांभव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः ॥**

**भवेच्चित्तलयानंदः शून्ये चित्सुखरूपिणि ॥ ३८ ॥**

श्रीशांभव्या इति ॥ श्रीशांभव्याः श्रीमत्याः शांभवीमुद्रायाः खेचरीमुद्रायाश्चावस्थाधामभेदतः अवस्थाऽवस्थितिर्धाम स्थानं तयोर्मेदाच्छांभव्यां बाहिरदृष्ट्या, बहिःस्थितिः खेचर्या भ्रूमध्यदृष्ट्याऽवस्थितिः । शांभव्यां हृदयभावनादेशः खेचर्या भ्रूमध्य एव देशः । तयोर्मेदाभ्यां शून्ये देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्ये सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्ये या चित्सुखरूपिणि चिदानंदस्वरूपिण्यात्मानि चित्तलयानंदो भवेत्स्यात् । श्रीशांभवीखेचर्योवस्थाधामरूपसाधनांशे भेदः, नतु चित्तलयानंदरूपफलांश इति भावः ३८

भाषार्थ—इस पूर्वोक्त श्रीमती शोभवीमुद्राके और खेचरीमुद्राके द्वारा अवस्था और धाम ( स्थान ) के भेदसे अर्थात् शोभवीमुद्रामें बाहिर दृष्टिसे बाहिःस्थिति और खेचरीमुद्रामें भ्रुकुटीका मध्यमें दृष्टिसे स्थिति होती है और शोभवीमें हृदय भावनाका देश है और खेचरीमें भ्रुकुटीका मध्यही देश है इन दोनों भेदोंसे देश काल वस्तुके परिच्छेदसे और सजातीय विजातीय स्वगतरूप भेदसे शून्य ( रहित ) चिदानन्द स्वरूप आत्मामें चित्तके लयका आनन्द होता है अर्थात् दोनों शोभवी खेचरीमुद्राओंका अवस्था और धामरूपः साधन अंशमें तो भेद है और चित्तलयके आनन्दरूप फलके अंशमें भेद नहीं है ॥ ३८ ॥

**तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयेदधुवौ ॥**

**पूर्वयोगं मनो युञ्जन्नुन्मनीकारकः क्षणात् ॥ ३९ ॥**

उन्मनीमुद्रामाह—तारे इति ॥ तारे नेत्रयोः कनो निके ज्योतिषी तारयोर्नासाग्रे योजनात्प्रकाशमाने तेजसि संयोज्य संयुक्ते कृत्वा ध्रुवौ किंचित्स्वलपमुन्नयेदधुवौ नयेत् । पूर्वः पूर्वोक्तोऽन्तर्लक्ष्यबाहिर्दृष्टिरित्याकारको योगो युक्तिर्यस्मिन् तत्तादृशं मनोऽन्तःकरणं युञ्जन् युक्तं कुर्वन् योगी क्षणान्मुहूर्तादुन्मनीकारक उन्मन्यवस्थाकारको भवति ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—अब उन्मनीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, नेत्रोंकी कनीनिकारूप तारोंको ज्योतिमें अर्थात् तारोंको नासिकाके अग्रभागमें संयोग करनेसे प्रकाशमान जो तेज उसमें संयुक्त करके भ्रुकुटियोंको किंचित् ( कुछेक ) ऊपरको करदे और पूर्वोक्त जो अंतःलक्ष्य बाहिःदृष्टि ( भीतर लक्ष्य बाहिर दृष्टि ) रूप योग है जिसमें ऐसा अंतःकरण ( मन ) उसको युक्त करता हुआ योगी क्षणमात्रमें उन्मनी अवस्थाका कारक होता है अर्थात् पूर्वोक्त अवस्थासे स्थित योगीकी उन्मनीमुद्रा होती है ॥ ३९ ॥

**केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः ॥**

**केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम् ॥ ४० ॥**

उन्मनीमन्तराऽन्यस्तरणोपायो नास्तीत्याह—केचिदिति ॥ केचिच्छास्त्रतन्त्रादिविदः आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्त्यर्था येभ्य इत्यागमाः शास्त्रतन्त्रादयस्तेषां जालैर्जालबद्धंधनसाधनैस्तदुक्तैः फलैर्मुह्यन्ति मोहं प्राप्नुवन्ति । तन्त्रासक्ता बध्यन्त इति भावः । केचिद्दिदिका निगमसंकुलैर्निगमानां निगमोक्तानां संकुलैः फलबाहुल्यैर्मुह्यन्ति । केचिद्वैशेषिकादयस्तर्केण स्वकल्पितयुक्तिविशेषेण मुह्यन्ति । तारयतीति तारकस्तं तारकं तरणोपायं नैव जानन्ति । उक्तोन्मन्येव तरणोपायस्तं न जानन्तीत्यर्थः ॥ ४० ॥

भाषार्थ—अब इसका वर्णन करते हैं कि, उन्मनीके बिना अन्य तरनेका उपाय नहीं है कि कोई शास्त्र और तन्त्र आदिके ज्ञाता आगमनके जालसे अर्थात् जिससे बुद्धिमें पदार्थ आजाय उन्हें आगम कहते हैं वे शास्त्र और तन्त्ररूपोंके समूहसे मोहको प्राप्त होजाते हैं अर्थात् जालके समान बंधनके कर्ता जो शास्त्रतन्त्रमें कहेहुये फल उनमेंही मोहित रहते हैं

उनमें आसक्त हुये बंध जाते हैं-और कोई निगम ( वेद ) में कहे जो फलोंके समुदायः उससेही मोहित रहते हैं-और कोई वैशेषिक आदि अपनी कल्पना कियेहुये जो युक्तिरूप-विशेष तर्क उनसेही मोहित रहते हैं-परन्तु तारकको नहीं जानते हैं अर्थात् संसारसमुद्रके तरेका उपाय जो पूर्वोक्त उन्मनी उसको नहीं जानते हैं-भावार्थ यह है कि, कोई शास्त्र आर तंत्रके जालसे कोई वेदोक्त फलोंसे कोई तर्कसे मोहित रहते हैं परन्तु उन्मनीरूप तारकको नहीं जानते हैं ॥ ४० ॥

**अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-**

**श्चंद्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्पंदभावेन यः ॥**

**ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परं**

**तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥ ४१ ॥**

अर्धोन्मीलितेति ॥ अर्धम् उन्मीलिते अर्धोन्मीलिते अर्धोन्मीलिते लोचने येन स अर्धोन्मीलितलोचनः अर्धोद्घाटितलोचन इत्यर्थः। स्थिरं निश्चलं मनो यस्य स स्थितमनाः नासाया नासिकाया अग्रेऽग्रभागे नासिकायां द्वादशांगुलपर्यन्ते वा दत्ते ग्रहिते ईक्षणे येन स नासाग्रदत्तेक्षणः। तथाह वसिष्ठः-‘द्वादशांगुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलेंद्वरे। संवि-  
हृत्सोः प्रशाम्यन्त्योः प्राणस्पंदो निरुध्यते ॥’ इति। निष्पंदस्य निश्चलस्य भावो निष्पंद-  
दभावः कार्येन्द्रियमनसां निश्चलत्वं तेन चंद्रार्को चंद्रसूर्यावपि लीनतां लीनस्य भावो लीनता लयस्तमुपनयन्प्रापयन्कार्येन्द्रियमनसां निश्चलत्वेन प्राणसंचारमपि स्तंभयन्नि-  
त्यर्थः। तदुक्तं प्राक्-‘मनो यत्र बिलीयेत’ इत्यादिपूर्वोक्तविशेषणसंपन्नो योगी ज्योती-  
रूपं ज्योतिरिवाखिलप्रकाशकं रूपं यस्य स तथा तमशेषबीजमाकाशाद्युत्पत्तिद्वारा सर्वकारणमखिलं पूर्णं देदीप्यमानमतिशयेन दीप्यत इति देदीप्यमानं तत्तथा स्वप्रका-  
शकं परं कार्येन्द्रियमनसां साक्षिणं तत्त्वमनारोपितं वास्तविकमित्यर्थः। तदिदमिति वक्तुमशक्यं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं परमं सर्वोत्कृष्टं वस्तु आत्मस्वरूपमेति प्राप्नोति। उन्मन्यवस्थायां स्वस्वरूपावस्थितो योगी भवतीत्यर्थः। अत्राधिकं किं वा-  
च्यम्। अपरं वस्तु प्राप्नोतीत्यत्र एक वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

भाषार्थ-आधे उन्मीलित किये ( खोले ) हैं नेत्र जिसने और निश्चल है मन जिसका और नासिकाके बारह अंगुलपर्यंत अग्रभागमें लगाये हैं नेत्र जिसने-सोई वसिष्ठने कहाहै कि, द्वादश अंगुल पर्यंत निर्मल जो नासिकाके अग्रभागमें आकाश उसमें यदि ज्ञान, दृष्टि दोनों भलीप्रकार शांत होजायें तो प्राणोंका स्पंद ( गति ) रुक जाती है-ऐसा योगी और देह इंद्रिय मन इनके निस्पंदभाव ( निश्चलता ) से चंद्रमा और सूर्यकी भी लीनताको करताहुआ अर्थात् देह, मन, इंद्रियोंकी निश्चलतासे प्राणके संचारको भी रोकताहुआ सोई कहभी आये हैं कि, जहां मनभी विलय हो जाता है इस पूर्वोक्त प्रकारका योगाभ्यासी ज्योतिके समान सबका

प्रकाशक-और आकाश आदिकी उत्पत्तिके द्वारा सबका कारण और अखिल ( पूर्ण ) रूप और अत्यंत प्रकाशमान और देह इंद्रिय मन इनका साक्षीरूप पर-और वास्तविक तत्त्वरूप-जो वह पद है जिसको यह नहीं कह सकते कि, वह यह है- और योगीजन जिसमें जायें उसे पद कहते हैं-उस परम ( सबसे उत्तम ) आत्मस्वरूपको प्राप्त होताहै अर्थात् उन्मनी अवस्थामें योगी अपने स्वरूपमें स्थित होताहै-इसमें अधिक और क्या कहने योग्य है अन्य वस्तुओंकी तो अवश्यही प्राप्ति होती है-भावार्थ यह है कि, जिसके आधे नेत्र खुले हो मन स्थिरहो नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि हो और जिसने देह आदिकी निश्चिन्तासे प्राण-कोभी छीन करालियाहो ऐसा योगी, ज्योतिस्वरूप सबके कारण, पूर्ण देदीप्यमान साक्षीरूप जो तत्त्व उस परमपदको प्राप्त होताहै इसमें अधिक क्या कहने योग्य है ॥ ४१ ॥

**दिवा न पूजयेल्लिंगं रात्रौ चैव न पूजयेत् ॥**

**सर्वदा पूजयेल्लिंगं दिवारात्रिनिरोधतः ॥ ४२ ॥**

उन्मनीभावनायाः कालनियमाभावमाह-दिवा नेति ॥ दिवा सूर्यसंचारे लिंगं सर्व-कारणमात्मानम् । 'एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यादि श्रुतेः । न पूजयेत् न भावयेत् । ध्यानमेवात्मपूजनम् । तदुक्तं वासिष्ठे-'ध्यानोपहार एवात्मा ध्यानमस्य महा-र्चनम् । विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो' इति । रात्रौ चंद्रसंचारे च नैव पूजयेन्नैव भावयेत् । चंद्रसूर्यसंचारे चित्तस्थैर्याभावात् । 'चले वाते चलं चित्तम्' इत्युक्त-त्वात् । दिवारात्रिनिरोधतः सूर्यचंद्रौ निरुध्य । ल्यब्लोपे पंचमी तस्यास्तसिल् । सर्वदा सर्वस्मिन् काले लिंगमात्मानं पूजयेद्भावयेत् । सूर्यचंद्रयोर्निरोधे कृते सुषुम्नांतर्गते प्राणे मनःस्थैर्यात् । तदुक्तम्-'सुषुम्नांतर्गते वायौ मनःस्थैर्यं प्रजायते' इति ॥ ४२ ॥

भावार्थ-अब उन्मनीभावनामें कालके नियमका अभाव वर्णन करते हैं कि दिनमें अर्थात् सूर्यके संचारमें लिंगका पूजन न करै अर्थात् सबके कारण लिंगरूप आत्माका ध्यान करै सोई कहा है कि, इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ और यहाँ ध्यानही पूजनशब्दसे लेना पुष्प आदिसे पूजन नहीं सोई वासिष्ठमें वासिष्ठजीने कहाहै कि, आत्माका उपहार (मेंट) ध्यानही है और ध्यानही इसका अर्चन ( पूजा ) है उसके विना यह आत्मा प्राप्त नहीं होता है और रात्रिमें अर्थात् चंद्रमाके वारमेंभी लिंगरूप आत्माका पूजन न करै क्योंकि, चंद्र और सूर्यके वास्ते चित्तकी स्थिरता नहीं रहती है कहभी आये हैं कि प्राणवायुके चलायमान होनेसे चित्तभी चलायमान होजाताहै और दिवा और रात्रिके निरोधको करके सब कालमें लिंगका पूजन करै क्योंकि सूर्य और चंद्रका निरोध होनेपर प्राण सुषुम्नाके अंतर्गत होजा-ताहै और उससे मनकी स्थिरता होजाती है उस समय लिंगरूप आत्माका ध्यान करै सोई कहा है कि, सुषुम्नाके अंतर्गत सूर्यके होनेपर मनकी स्थिरता होजाती है-भावार्थ यह है कि, सूर्य और चंद्रमाके संचारमें आत्माका ध्यान करै और सूर्य और चंद्र संचारको रोककर सब-कालमें आत्माका ध्यान करै ॥ ४२ ॥

सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः ॥

तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्स्थाने न संशयः ॥ ४३ ॥

खेचरीमाह-सव्येति ॥ सव्यदक्षिणनाडिस्थो वामतदितरनाडिस्थो मरुतो वायुर्यत्र मध्ये चरति यस्मिन्मध्यप्रदेशे गच्छति तस्मिन्स्थाने तस्मिन्प्रदेशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरा भवति । 'प्रकाशनस्थेयारव्ययोश्च' इत्यात्मनेपदम् । न संशयः उक्तेऽर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

भाषार्थ-अब खेचरीमुद्राका वर्णन करते हैं कि, इडा पिंगला नामकी जो सव्य दक्षिण नाडी हैं उनमें स्थित प्राणवायु जिस मध्य प्रदेशमें गमन करताहै उसी स्थानमें खेचरीमुद्रा स्थिर होजाती है इसमें संशय नहीं है ॥ ४३ ॥

इडापिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ॥

तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनः पुनः ॥ ४४ ॥

इडापिंगलयोरिति ॥ इडापिंगलयोः सव्यदक्षिणनाडयोर्मध्ये यच्छून्यं त्वम् । कर्तुं अनिलं प्राणवायुं यत्र ग्रसेत् । शून्ये प्राणस्य स्थिरीभाव एव आसः । तत्र तस्मिञ्छून्ये खेचरी मुद्रा तिष्ठते । पुनः पुनः सत्यमिति योजना ॥ ४४ ॥

भाषार्थ-इडा पिंगला जो सव्य दक्षिण नाडी हैं उनके मध्यमें जो शून्य ( आकाश ) है वह शून्य जिसमें प्राणवायुको ग्रसले और शून्यमें प्राणकी जो स्थिरता उसकोही आस कहते हैं उस शून्यमें खेचरीमुद्रा स्थिर होती है यह बात बारंवार सत्य है ॥ ४४ ॥

सूर्याचंद्रमसोर्मध्ये निरालंबांतरं पुनः ॥

संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥ ४५ ॥

सूर्याचंद्रमसोरिति ॥ सूर्याचंद्रमसोरिडापिंगलयोर्मध्ये निरालंबं यदंतरमवकाशस्तत्र । पुनः पादपूरणे । व्योम्नां खानां चक्रे समुदाये । भ्रूमध्ये सर्वखानां समन्वयात् । तदुक्तम्-'पंचस्रोतःसमन्विते' इति । या संस्थिता सा मुद्रा खेचरीनाम ॥ ४५ ॥

भाषार्थ-सूर्य और चंद्रमा अर्थात् इडा और पिंगलाके मध्यमें जो निरालंब अंतर ( अवकाश ) है उस आकाशोंके समुदायरूप चक्रमें क्योंकि, भ्रुकुटीके मध्यमें सब आकाशोंका समन्वय ( मेल ) है सोई कहाहै कि, पांच स्रोतोंसे युक्त भ्रूका मध्य है उस उक्त अवकाशमें जो भलीप्रकार स्थित हो वह खेचरी नामकी मुद्रा होती है ॥ ४५ ॥

सोमाद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववल्लभा ॥

पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे ॥ ४६ ॥

सोमादिति ॥ सोमाद्यंत्राद्यत्र यस्यां खेचरी धाराऽमृतधारा उदितोद्भूता, सा खेचरी साक्षाच्छिववल्लभा शिवस्य प्रियेति पूर्वेणान्वयः । अतुलां निर्मलां निरुपमां दिव्यां सर्वनाड्युत्तमां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे पूरयेत् । जिह्वेति शेषः ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—जिस खेचरीमुद्रामें चंद्रमासे अमृतकी धारा उत्पन्न होती है वह खेचरीमुद्रा साक्षात् शिवजीको वल्लभ ( प्यारी ) है और अतुल अर्थात् जिसकी उपमा न हो और दिव्यरूप अर्थात् सब नाडियोंमें उत्तम जो सुषुम्ना है उसको पश्चिम मुखके विषे जिह्वासे पूर्ण करै ॥ ४६ ॥

**पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत् ॥**

**अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी संप्रजायते ॥ ४७ ॥**

पुरस्ताच्चैवेति ॥ पुरस्ताच्चैव पूर्वतोऽपि पूर्येत । सुषुम्नां प्राणेनेति शेषः । यदि तर्हि निश्चिताऽसंदिग्धा खेचरी खेचर्याख्या मुद्रा भवेदिति । यदि तु पुरस्तात्प्राणेन न पूर्येत जिह्वामात्रेण पश्चिमतः पूर्येत तर्हि मूढावस्थाजनिका । न निश्चिता खेचरी स्यादिति भावः । खेचरोमुद्राप्यभ्यस्ता सती उन्मनी संप्रजायते चित्तस्य ध्येयाकारा-वेशातुर्यावस्था भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—और पूर्वमुखके विषेभी पूर्ण करै अर्थात् सुषुम्नाको प्राणसे पूर्ण करै तो निश्चयसे अर्थात् निःसंदेह खेचरी नामकी मुद्रा होती है और यदि पूर्वमुखमें प्राणसे पूर्ण न करै और पश्चिम मुखमें केवल जिह्वेसेही पूर्ण करदे तो खेचरीमुद्रा मूढ अवस्थाकी पैदा करती है इससे वह निश्चित नहीं है और अभ्यास कीहुई खेचरीमुद्राभी उन्मनी होजाती है अर्थात् चित्तके ध्येयाकार होनेसे तुर्यावस्था होजाती है ॥ ४७ ॥

**भ्रुवोर्म्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विधीयते ॥**

**ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥ ४८ ॥**

भ्रुवोरिति ॥ भ्रुवोर्म्ये भ्रुवोरंतराले शिवस्थानं शिवस्येश्वरस्य स्थानं शिवस्य सुखरूपस्यात्मनोऽवस्थानमिति शेषः । तत्र तस्मिन् शिवे मनो लीयते शिवाकारवृत्ति-प्रवाहवद्भवति तच्चित्तलयरूपं तुर्यं पदं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभ्यश्चतुर्थाख्यं ज्ञातव्यम् । तत्र तस्मिन् पदे कालो मृत्युर्न विद्यते । यद्वा सूर्यचंद्रयोर्निरोधादायुःक्षयकारकः कालः समयो न विद्यत इत्यर्थः ॥ तदुक्तम् । 'मोक्षी सुषुम्ना कालस्य' इति ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—दोनों भ्रुवुटियोंके मध्यमें शिवरूप ईश्वरका वा सुखरूप आत्माका स्थान है उस शिव वा आत्मामें मन लीन होताहै अर्थात् मनकी वृत्तिका प्रवाह शिवाकार होजाताहै और वह चित्तका लय तुर्यपद अर्थात् जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तिसे चौथा पद जानना और उस पदमें काल ( मृत्यु ) नहीं है अथवा सूर्य और चंद्रके निरोधसे अवस्थाके क्षयका करक समय नहीं है सोई कह आये हैं कि, सुषुम्ना कालके भोगनेवाली है ॥ ४८ ॥

**अभ्यसेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः ॥**

**संप्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥ ४९ ॥**

अभ्यसेदिति ॥ तावत्खेचरीं मुद्रामभ्यसेत् । यावद्योगनिद्रितः । योगः सर्ववृत्ति-निरोधः सैव निद्रा योगनिद्राऽस्य संजाता इति योगनिद्रितः तादृशः स्यात् । संप्राप्ता

योगनिद्रा येन स संप्राप्तबोगनिद्रस्तस्य कदाचन कस्मिंश्चिदपि समये कालो मृत्यु-  
र्नास्ति ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—योगी जषतक योगनिद्रित हो अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंका निरोधरूप जो योग वह  
निद्रारूप जिसको हो वह योगनिद्रित कहाताहै तबतक खेचरीमुद्राका अभ्यास करे और जिस  
योगीको योगनिद्रा भलीप्रकार प्राप्त होगई हो उसका किसी कालमें भी-मृत्यु नहीं होती॥४९॥

**निरालंबं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥**

**स बाह्याभ्यंतरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥ ५० ॥**

निरालंबमिति ॥ यो निरालंबमालंबशून्यं मनः कृत्वा किंचिदपि न चिंतयेत्  
खेचरीमुद्रायां जायमानायां ब्रह्माकारामपि वृत्तिं परमवैराग्येण परित्यजेदित्यर्थः । स  
योगी बाह्याभ्यंतरे बाह्ये बहिर्भवे आभ्यंतरेऽभ्यंतर्भवे च व्योम्याकाशे घटवत्तिष्ठति  
ध्रुवम् । निश्चितमेतत् । यथाकाशे घटो बहिर्गंतश्चाकाशपूर्णो भवति तथा खेचर्यामालं-  
बनपरित्यागेन योगी ब्रह्मणा पूर्णस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ५० ॥

भाषार्थ—जो योगी निरालंब ( निराश्रय ) मनको करके किंचित् भी चिंता नहीं करताहै  
अर्थात् खेचरीमुद्राके सिद्ध होनेपर ब्रह्माकार वृत्तिकाभी परमवैराग्यसे त्याग करता है वह योगी  
बाहिर और भीतरके आकाशमें घटके समान निश्चय कर टिकताहै अर्थात् जैसे घट आकाशके  
विषय बाहिर और भीतर आकाशसे पूर्ण होताहै तिसी प्रकार खेचरीमुद्राके होनेपर आलंबनके  
परित्यागसे योगीभी ब्रह्मसे पूर्ण टिकताहै ॥ ५० ॥

**बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः ॥**

**स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥ ५१ ॥**

बाह्येति ॥ बाह्यो देहाद्बहिर्भवो वायुर्यथा लीनो भवति खेचर्याम् । तस्यांतःप्रवृ-  
त्त्यभावात् । तथा मध्यो देहमध्यवर्ती वायुर्लीनो भवति तस्य बहिःप्रवृत्त्यभावात् । न  
संशयः । अस्मिन्नर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः । स्थीयते स्थिरीभूयतेऽस्मिन्निति स्थानं  
स्वस्थ प्राणस्य स्थानं स्थैर्याधिष्ठानं ब्रह्मरंध्रं तत्र मनसा चित्तेन सह पवनः प्राणः  
स्थिरतां निश्चलतामेति प्राप्नोति ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—खेचरीमुद्राके विषय देहसे बाहिरका पवन जिस प्रकार लीन होताहै, क्योंकि, उसकी  
भीतर प्रवृत्ति नहीं होती, तिसी प्रकार देहके मध्यका वायुभी लीन होजाताहै क्योंकि, उसकी  
बाहिर प्रवृत्ति नहीं होती इसमें संशय नहीं है किंतु मनसहित पवन प्राणको स्थिरताका स्थान  
जो ब्रह्मरंध्र है उसमें निश्चलताको प्राप्त होजाताहै ॥ ५१ ॥

**एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ॥**

**अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥ ५२ ॥**

एवमिति ॥ एवमुक्तप्रकारेण वायुमार्गे प्राणमार्गे सुषुम्नायामित्यर्थः । दिवानिशं रात्रिदिवमभ्यसमानस्याभ्यासं कुर्वतो योगिनोऽभ्यासाद्यत्र यस्मिन्नाधारे वायुः प्राणो जीर्यते क्षीयते लीयत इत्यर्थः । तत्रैव वायोर्लयाधिष्ठाने मनश्चित्तं लीयते जीयत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—इस पूर्वोक्त प्रकारसे प्राणरूप वायुका मार्ग जो सुषुम्ना उसमें रात्रिदिन अभ्यास करतेहुए योगिके अभ्याससे जिस आधारमें प्राणवायु जीर्ण होजाताहै अर्थात् लय होजाता है उसीवायुके लयाधिष्ठान ( स्थान ) में मनभी लीन होजाताहै ॥ ५२ ॥

**अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ॥**

**सिद्ध्यत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ॥ ५३ ॥**

इति खेचरी ।

अमृतैरिति ॥ अमृतैः सुषिरनिर्गतैः पादतलं च मस्तकं च पादतलमस्तकम् । 'द्वंद्वश्च प्राणितूर्यसेनांगानाम्' इत्येकवद्भावः । पादतलमस्तकमभिव्याप्येत्यापादतलमस्तकं देहमाप्लावयेदाप्लावितं कुर्यात् । महानुत्कृष्टः कायो यस्य स महाकायः महान्तौ बलपराक्रमौ यस्येत्येतादृशो योगी सिद्ध्यत्येव । अमृतप्लावनेन सिद्धो भवत्येव ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—योगी पादतल और मस्तक पर्यंत देहको सुषिर ( चन्द्रमा ) से निकसे जो अमृत उनसे सेचन करे तो उत्तम है काया जिसकी और अधिक बल पराक्रम जिसके ऐसा योगी पूर्वोक्त अमृतके स्नानसे शुद्ध होजाताहै ॥ ५३ ॥

**शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ॥**

**मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥ ५४ ॥**

शक्तिमध्ये इति ॥ शक्तिः कुण्डलिनी तस्या मध्ये मनः कृत्वा तस्यां मनो धृत्वा तदाकारं मनः कृत्वेत्यर्थः । शक्तिं मानसमध्यगां कृत्वा । शक्तिध्यानावेशाच्छक्तिं मनस्येकीकृत्य तेन कुण्डलीं बोधयित्वेति यावत् । 'प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह, इति गोरक्षोक्तेः । मनसांतःकरणेन मन आलोक्य बुद्धिं मनसाऽवलोकनेन स्थिरीकृत्वेत्यर्थः । परमं पदं सर्वोत्कृष्टं स्वरूपं धारयेद्धारणाविषयं कुर्यादित्यर्थः ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—शक्ति ( कुण्डलिनी ) के मध्यमें मनको धरकर अर्थात् कुंडलीके आकारका मनको करके और शक्तिको मनके मध्यमें करके अर्थात् शक्ति ध्यानके आवेशसे शक्तिको मनमें एककरके और उससे कुंडलीका बोधन करके सोई गोरक्षने कहा है कि, मन और पवन सहित कुंडली वह्निके योगसे प्रबुद्ध होती है और अंतःकरणरूप मनसे मनको देखकर अर्थात् मनसे देखनेके द्वारा बुद्धिको स्थिर करके सर्वोत्तम स्वरूप जो परमपद है उसकी धारणा करे अर्थात् ब्रह्ममें मनको लगावे ॥ ५४ ॥

**स्वमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ॥**

**सर्वं च स्वमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ ५५ ॥**

खमध्य इति ॥ खमिव पूर्णं ब्रह्म खं तन्मध्ये आत्मानं स्वस्वरूपं कुरु । ब्रह्माह-  
मिति भावयेत्यर्थः । आत्ममध्ये स्वस्वरूपे च खं पूर्णं ब्रह्म कुरु । अहं ब्रह्मेति च  
भावयेत्यर्थः । सर्वं च खमयं कृत्वा ब्रह्ममयं विभाव्य किमपि न चिंतयेत् । अहं ब्रह्मे-  
ति ध्यानमपि परित्यजोदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—आकाशके समान पूर्ण जो ब्रह्म उसके विषे अपने आत्माको करके अर्थात् ब्रह्म  
में हूँ, ऐसी भावना करके अपने रूप स्वरूप आत्मामें पूर्ण ब्रह्मको करो—मैं ब्रह्म हूँ ऐसी  
भावना कर, और संपूर्ण प्रपंचको ब्रह्ममय करके अर्थात् ब्रह्मरूप विचारकर किसीकीभी  
चिंता न करे अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ इस ध्यानकामी परित्याग करदे ॥ ५५ ॥

अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुम्भ इवांबरे ॥

अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णः कुम्भ इवाणवे ॥ ५६ ॥

एवं समाहितस्य स्वरूपे स्थितिमाह—अन्तःशून्य इति ॥ अन्तः अन्तःकरणे  
शून्यः । ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्द्वितीयशून्यः । बाहिरंतःकरणाद्बहिरपि शून्यः ।  
द्वितीयादर्शनात् । अंबरे आकाशे कुम्भो घटो यथांतर्बाहिःशून्यस्तद्वदंतःकरणे हृदा-  
काशे वायुपूर्णः ब्रह्माकारवृत्तेः सद्भावाद्ब्रह्मवासत्वाद्वा । बहिः पूर्णोऽन्तःकरणाद्बहिर्हृदया-  
काशाद्बहिर्वा पूर्णः । सत्तया ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्ब्रह्मपूर्णत्वाद्वा । अणवे समुद्रे  
कुम्भो घटो यथा सर्वतो जलपूर्णो भवत्येवं समाधिनिष्ठो योगी ब्रह्मपूर्णो भवती-  
त्यर्थः ॥ ५६ ॥

भाषार्थ— इस प्रकार समाधिमें स्थित योगीकी अपने स्वरूपमें स्थितिका वर्णन करते हैं कि  
अन्तःकरणमें शून्य हो अर्थात् ब्रह्मसे अतिरिक्त वृत्तिके अभावसे दूसरेकी प्रतीति न होती हो  
और दूसरेके न देखनेसे अन्तःकरणसे बाहिरभी इस प्रकार शून्य हो जैसे आकाशमें स्थित  
घट भीतर और बाहिर जलसे शून्य होता है—और तिसी प्रकार हृदयके आकाशरूप अन्तः-  
करणमें ब्रह्माकार वृत्तिके होनेसे वा ब्रह्मकी वासनासे वायुसे पूर्ण हो और अंतःकरणसे वा  
हृदयाकाशसे बाहिरभी पूर्ण हो अर्थात् सत्तारूपसे वा ब्रह्मातिरिक्त वृत्तिके अभावसे वा  
ब्रह्मरूपसे इस प्रकार पूर्ण जैसे समुद्रके विषे डुबाहुआ कुम्भ चारों तरफसे जलपूर्ण होताहै इसी  
प्रकार समाधिके स्थित पुरुषभी ब्रह्मसे पूर्ण होताहै ॥ ५६ ॥

बाह्यार्चिता न कर्तव्या तथैवांतरर्चितनम् ॥

सर्वार्चितां परित्यज्य न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ ५७ ॥

बाह्यार्चितेति ॥ समाहितेन योगिनेत्यध्याहारः । बाह्यार्चिता बाह्यविषया चिन्ता न  
कर्तव्या तथैव बाह्यार्चिताकरणवदांतरर्चितनमांतराणां मनसा परिकल्पितानामाशाभोद-  
कसौधवाटिकादीनां चिंतनं न कर्तव्यमिति लिंगविपरिणामेनान्वयः । सर्वार्चितां बाह्या-  
भ्यंतरर्चितनं परित्यज्य किंचिदपि न चिंतयेत्परवैराग्येणात्माकारवृत्तिमपि परित्यजेत् ।  
तेत्याग स्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिर्भवतीति भावः ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—समाधिमें स्थित योगी बाहिरके माला, चंदन आदि विषयोंकी चिंता न करे और तिसी प्रकार अंतःकरणमें मनसे कल्पना किये जो आशामोदक, श्वेतमंदिर, वाटिका आदि हैं उनका भी चिन्तन न करे इस प्रकार बाहर भीतरकी सम्पूर्ण चिंताओंका परित्याग करके किंचित् भी चिंता न करे अर्थात् परमवैराग्यसे ब्रह्माकारवृत्तिकाभी परित्याग करदे क्योंकि ब्रह्माकारवृत्तिका त्याग अपने स्वरूपमें स्थितिरूप मुक्तिजीवन समयमें ही हो जाती है ५७॥

**संकल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं**

**संकल्पमात्रकलनैव मनोविलासः ॥**

**संकल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-**

**माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शांतिम् ॥ ५८ ॥**

बाह्याभ्यंतरचिंतापरित्यागे शांतिश्च भवतीत्यत्र वसिष्ठवाक्यं प्रमाणयति—संकल्पोति । संकल्पो मानसिको व्यापारः स एव संकल्पमात्रं तस्य कलनैव रचनैवेदं दृश्यमानं समग्रं जगत् बाह्यप्रपंचो मनोमात्रकल्पित इत्यर्थः । मनसो मानसस्य विलासो नाना-विषयाकारकल्पना आशामोदकसौधवाटिकादिकल्पनारूपो विलासः संकल्पमात्रकल-नैव । मानसः प्रपंचोऽपि संकल्पमात्ररचनैवेत्यर्थः । संकल्पमात्रे बाह्याभ्यंतरप्रपंचे या मतिः सत्यत्वबुद्धिस्तामुत्सृज । तर्हि किं कर्तव्यमित्यत आह—निर्विकल्पमिति । विशि-ष्टकल्पना विकल्पः । आत्मानि कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वसजातीयविजातीयस्वगतभेददेश-कालवस्तुपरिच्छेदकल्पनारूपः तस्मान्निष्क्रांतो निर्विकल्पस्तमात्मानमाश्रित्य धारणा-दिविषयं कृत्वा हे राम ! निश्चयमसंदिग्धं शांतिं परमोपरतिमवाप्नुहि । ततः सुखमपि प्राप्स्यसीति भावः । तदुक्तं भगवता व्यतिरेकेण—‘न चाभावयतः शांतिरशांतस्य कुतः सुखम्’ इति ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—बाह्य और आभ्यंतर चिंताओंके परित्यागसे शांति भी होती है इसमें वसिष्ठके वाक्यका प्रमाण देते हैं, कि, मानसिक व्यापाररूप जो संकल्प है उसकी रचनारूपही यह दृश्यमान संपूर्ण जगत् है अर्थात् बाह्य प्रपंच मनसेही कल्पित है और आशामोदक श्वेतमंदिर वाटिका आदि नाना प्रकारके विषयोंकी कल्पनाका जो विलास है वहभी संकल्पकीही रचना है अर्थात् मानसप्रपंचभी संकल्पकीही रचनारूप है इससे हे राम ! संकल्प मात्रमें जो मति अर्थात् बाह्य और आभ्यंतरके प्रपंचमें सत्यत्व बुद्धि है उसको त्याग दे कदाचित् कहो कि, फिर क्या करूँ इससे कहते हैं कि, निर्विकल्पके आश्रय होकर अर्थात् आत्माके विषे जो कर्ता भोक्ता सुखी दुःखी—सजातीय—विजातीय—स्वगत भेद—देश—काल—वस्तु—परिच्छेदरूप विशिष्ट कल्पना है उनसे रहित जो निर्विकल्पस्वरूप अर्थात् पूर्वोक्त विशिष्ट कल्पनासे शून्य आत्मा है उस-कोही धारणाका विषय करके हे राम ! निश्चयसे तू शांतिको प्राप्त हो उस शांतिसे फिर सुखको भी प्राप्त हो जायगा—सोई भगवान्ने गीतामें कहा है कि विचारहीन पुरुषको शांति नहीं होती है और अशांत मनुष्यको सुख कहाँसे होता है ॥ ५८ ॥

**कर्पूरमनले यद्वत्सैधवं सलिले यथा ॥**

**तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥ ५९ ॥**

कर्पूरमिति ॥ यद्यथाऽनलेऽग्नौ संधीयमानं संयोज्यमानं कर्पूरं विलीयते विशेषेण लीयते लीनं भवति । अग्न्याकारं भवति । यथा सलिले जले संधीयमानं सैधवं लवणं विलीयते लवणाकारं परित्यज्य जलाकारं भवति तथा तद्वत्तत्त्वे आत्मनि संधीयमानं कार्यमाणं मनो विलीयते आत्माकारं भवति ॥ ५९ ॥

भाषार्थ—जैसे कर्पूर अग्निमें संयोग करनेसे विशेषकर लीन होता है अर्थात् अग्निके आकार हो जाता है और जैसे जलमें संयुक्त किया सैधव लवण विलीन होता है अर्थात् लवणके आकारको त्यागकर जलाकार होजाता है—तिसी प्रकार तत्त्वरूप आत्मामें संयुक्त किया मन विलीन होता है । अर्थात् आत्माकार हो जाता है ॥ ५९ ॥

**ज्ञेयं सर्वं प्रतीतिं च ज्ञानं च मन उच्यते ॥**

**ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पंथा द्वितीयकः ॥ ६० ॥**

मनसो विलये जाते द्वैतमपि लीयत इत्याह त्रिभिः—ज्ञेयमिति ॥ सर्वं सकलं ज्ञेयं ज्ञानार्हं प्रतीतिं च ज्ञातं च ज्ञानं च इदं सर्वं मन उच्यते । सर्वस्य मनःकल्पनामात्र-त्वाभ्युपगमः शब्देनोच्यते । ज्ञानं ज्ञेयं च समं मनो विलीयते मनसा सार्धं नष्टं यदि तर्हि द्वितीयकः द्वितीय एव द्वितीयकः पंथा मनोविषयो नास्ति । द्वैतं नास्तीति फलितार्थः ६०

भाषार्थ—अब मनके लय होनेपर द्वैतकाभी लय वर्णन करते हैं कि, संपूर्ण जो ज्ञेय ( ज्ञानके योग्य ) अर्थात् ज्ञात प्रतीयमान है और ज्ञान यह सब मन कहाता है क्योंकि ये सब मनकी कल्पनामात्र है यदि ज्ञान और ज्ञेय मन सहित नष्ट हो जायें तो दूसरा मार्ग नहीं है अर्थात् मनका विषय जो द्वैत है वह नहीं रहता है ॥ ६० ॥

**मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित्सचराचरम् ॥**

**मनसो ह्युन्मनीभावाद्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ ६१ ॥**

मनोदृश्यमिति ॥ इदमुपलभ्यमानं यत्किञ्चित्सचराचरं चरं जंगममचरं स्थावरं चरं चाचरं च चराचरे ताभ्यां सह वर्तत इति सचराचरं यज्जगत्सर्वं मनोदृश्यं मनसा दृश्यम् । मनःसंकल्पमात्रमित्यर्थः । मनःकल्पनासत्त्वे प्रतीतिस्तदभावे चाप्रतीतिभ्रम एव सर्वं जगत् । भ्रमस्य प्रतीतकशरीरत्वात् । न च बौद्धमतप्रसंगः । भ्रमाधिष्ठानस्य ब्रह्मणः सत्यत्वाभ्युपगमात् । मनस उन्मनीभावाद्वैतं भेदः नैवोपलभ्यते नैव प्रतीयते । द्वैतभ्रमहेतोर्मनःसंकल्पस्वभावात् । हि तद्धेतावव्ययम् ॥ ६१ ॥

भाषार्थ—यह दीखता हुआ जो स्थावर जंगम ( चराचर ) रूप सहित जगत् जो कुछ है वह सब मनसे देखने योग्य है अर्थात् मनसे कल्पित है अर्थात् मनकी कल्पना होनेपर प्रतीत होता है और कल्पनाके अभावमें प्रतीति नहीं होता है इससे भ्रमरूपही है और भ्रमका शरीर

प्रतीतिमात्र होता है कदाचित् कहो कि, ऐसे कहोगे तो बौद्धमतका प्रसंग होजायगा सो ठीक नहीं क्योंकि, भ्रमके अधिष्ठान ब्रह्मको सत्य मानते हैं-और उक्त मनके उन्मनीभाव ( विलय ) से द्वैत ( भेद ) प्रतीतही नहीं होताहै क्योंकि, द्वैत भ्रमका हेतु जो मनका संकल्प है उसका अभाव है ॥ ६१ ॥

**ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् ॥**

**मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते ॥ ६२ ॥**

ज्ञेयमिति ॥ ज्ञेयं ज्ञानविषयं यद्वस्तु सर्वं चराचरं यदृश्यं तस्य परित्यागात्तामरूप-  
प्राप्तकस्य तस्य परिवर्जनाद्विलयं सच्चिदानंदरूपात्माकारं भवति मनसो विलये जाते  
सति कैवल्यं केवलस्यात्मनो भावः कैवल्यमवशिष्यते । अद्वितीयात्मस्वरूपमवशिष्टं  
भवतीत्यर्थः ॥ ६२ ॥

भाषार्थ-ज्ञानका विषय जो चराचररूप दृश्य है उसके परित्यागसे अर्थात् नामरूपात्मक  
जगतके वर्जित करनेसे मन विलयको प्राप्त होजाता है अर्थात् सच्चिदानंदरूप आत्माकार  
होजाता है और मनका विलय होनेपर कैवल्य शेष रहजाता है अर्थात् अद्वितीय आत्मारूप  
वही शेष रहजाता है ॥ ६२ ॥

**एवं नानाविधोपायाः सम्यक्स्वानुभवान्विताः ॥**

**समाधिमार्गाः कथिताः पूर्वाचार्यैर्महात्मभिः ॥ ६३ ॥**

एवमिति ॥ एवमंतर्लक्ष्यं वहिर्दोष्टिरित्याद्युक्तप्रकारेण महान् समाधिपरिशीलनशुद्ध  
आत्मांतःकरणं येषां ते महात्मानस्तैर्महात्मभिः पूर्वं च ते आचार्याश्च पूर्वाचार्याः  
मत्स्येन्द्रादयस्तैः समाधेश्चित्तवृत्तिनिरोधस्य मार्गाः प्राप्त्युपायाः कथिताः । कीदृशाः  
समाधिमार्गाः । नानाविधोपायाः नानाविधा उपायाः साधनानि येषां ते तथा सम्यक्  
समीचीनतया संशयविपर्ययरहित्येन यः स्वानुभव आत्मानुभवस्तेनान्विता युक्ताः ६३

भाषार्थ-इस प्रकार नानाप्रकारके उपाय ( साधन ) हैं जिनके और भलीप्रकार जो स्वानु-  
भव अर्थात् संशय और विपर्ययसे रहित आत्मानुभव उससे युक्त चित्तवृत्तिनिरोधरूप समा-  
धिके मार्ग अर्थात् प्राप्तिके उपाय पहिले महात्मा आचार्योंने कहे हैं अर्थात् समाधिके अभ्या-  
ससे महान् ( शुद्ध ) है आत्मा ( अन्तःकरण ) जिनका ऐसे महात्मा मत्स्येन्द्र आदि पूर्वा-  
चार्योंने अपने अनुभवसे पूर्वोक्त समाधिके मार्ग वर्णन किये हैं ॥ ६३ ॥

**सुषुम्नायै कुंडालिन्यै सुधायै चन्द्रजन्मने ॥**

**मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ॥ ६४ ॥**

सुषुम्नादिभ्यः कृतकृत्यस्ताः प्रणमति-सुषुम्नायै इति ॥ सुषुम्ना मध्यनाडी तस्यै  
कुंडालिन्यै आधारशक्त्यै चन्द्राद्भूमध्यस्थजन्म यस्याः तस्यै सुधायै पीयूषायै मनो-  
न्मन्यै तुर्यावस्थायै चिच्चैतन्यभात्मा स्वरूपं यस्याः सा तथा तस्यै । महीती जडानां

कार्येन्द्रियमनसां चैतन्यसंपादकत्वात्सर्वोत्तमा या शक्तिश्चिच्छक्तिः पुरुषरूपा तस्यै ।  
तुभ्यमिति प्रत्येकं संबध्यते । नमः प्रह्लाभावोऽस्तु ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—सुषुम्ना आदि नाडियोंसे कृतकृत्य हुये आचार्य उनको प्रणाम करते हैं कि, मध्य-  
नाडीरूप सुषुम्नाको और आधारशक्तिरूप कुंडलिनीको और चन्द्रमासे है जन्म जिसका ऐसी  
सुधाको और तुर्याक्स्थारूप उस मनोन्मनीको नमस्कार है जो मनोन्मनी देह इंद्रिय मनरूप  
जो जड पदार्थ है उनकोभी चैतनताकी संपादक होनेसे सबसे बड़ी शक्ति (चित् शक्ति  
पुरुष) रूप है और जो चेतन आत्मा स्वरूप है—इस श्लोकमें तुमको नमस्कार है इस पदका  
सर्वत्र संबन्ध है ॥ ६४ ॥

**अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि संमतम् ॥**

**प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ॥ ६५ ॥**

नानाविधान् समाधुपायानुवत्वा नादानुसंधानरूपं मुख्योपायं प्रतिजानीते—अज्ञा-  
कथ्येति ॥ अव्युत्पन्नत्वादशक्यस्तत्त्वबोधस्तत्त्वज्ञानं येषां ते तथा तेषां मूढानामनधीतानां  
संमतम् । अपिशब्दात्किमुताधीतानामिति गम्यते । गोरक्षनाथेन प्रोक्तमित्यनेन महद्-  
क्तत्वादुपादेयत्वं गम्यते । नादस्यानाहतध्वनेरुपासनेऽनुसंधानरूपं सेवनमुच्यते  
कथ्यते ॥ ६५ ॥

भाषार्थ—अनेकप्रकारके समाधिके उपायोंको कहकर नादानुसंधान रूप मुख्य जो उपाय  
है उसके वर्णनकी प्रतिज्ञा करते हैं कि, अव्युत्पन्न (मूर्ख) होनेसे जिनको तत्त्वज्ञान अशक्य  
है उन मूढ़ोंकोभी जो संमत है और अपिशब्दसे पठित मनुष्योंको तो संमत क्यों न होगा  
ऐसे गोरक्षनाथके कहेहुये नादोपासन अर्थात् अनाहतध्वनिका सेवन वर्णन करते हैं और  
यह नादका अनुसन्धान गोरक्षनाथ महान् पुरुषने कहाहै इससे अवश्य करने योग्य है ॥ ६५ ॥

**श्रीआदिनाथेन संपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयन्ति ॥**

**नादानुसंधानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥ ६६ ॥**

श्रीआदिनाथेनेति ॥ श्रीआदिनाथेन शिवेन कथिताः प्रोक्ताः पादेन चतुर्यांशेन सह  
वर्तमानाः कोटिसंख्याका लयप्रकाराश्चित्तलयसाधनभेदा जयत्युत्कर्षेण वर्तन्ते । वयं तु  
नादानुचितनमेव एकं केवलं लयानां लयसाधनानां मध्ये मुख्यतममतिशयेन मुख्यं  
मन्यामहे जानीमहे उत्कृष्टानां लयसाधनानां मध्ये उत्कृष्टतमत्वाद्गोरक्षामिमतत्वाच्च  
नादानुसंधानमेव अवश्यं विधेयमिति भावः ॥ ६६ ॥

भाषार्थ—श्रीआदिनाथ (शिवजी) ने सवा करोड़ चित्तके लयके प्रकार कहे हैं और वे  
सर्वोत्तम रूपसे वर्तते हैं हम तो एक नादानुसंधान (नादका सेवन) कोही केवल अत्यंत  
मुख्य लयके साधनोंमें मानते हैं क्योंकि, वह सबसे उत्तम है और गोरक्षनाथको अभिमत  
है इससे अवश्य करने योग्य है ॥ ६६ ॥

**मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय शोभवीम् ॥**  
**शृणुयादक्षिणे कर्णे नादमंतःस्थमेकधीः ॥ ६७ ॥**

शोभवीमुद्राया नादानुसंधानमाह—मुक्तासन इति ॥ मुक्तासने सिद्धासने स्थितो योगी शोभवीं मुद्राम् ‘अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिः’ इत्यादिनोक्तां संधाय कृत्वा । एकधीरेका-  
 ग्रचित्तः सन् दक्षिणे कर्णेऽन्तःस्थसुषुम्नानाड्यां संतमेव नादं शृणुयात् । तदुक्तं त्रिपु-  
 रसारसमुच्चये—‘आदौ मत्तालिमालाजनितरवसमस्तारसंस्कारकारी नादोऽसौ वांशिकस्य  
 निलमरितलसदंशनिःस्वानतुल्यः । घंटानादानुकारी तदमु च जलधिध्वानधीरो गभीरो  
 गर्जनपर्जन्यघोषः पर इह कुहरे वर्तते ब्रह्मनाड्या’ इति ॥ ६७ ॥

भाषार्थ—अब शोभवी मुद्रासे नादानुसंधानका वर्णन करते हैं कि, मुक्तासन सिद्धासनमें  
 स्थित योगी भीतर लक्ष्य और बाहिर दृष्टि इत्यादि ग्रंथसे कही हुई शोभवीमुद्राको करके और  
 एकाग्रचित्त होकर दक्षिणकर्णके विषे सुषुम्नानाडीमें वर्तमान जो देहके भीतरका शब्द है  
 उसको सुनै सोई त्रिपुरसारसमुच्चयमें कहा है कि, तारके संस्कारका कर्ता नाद प्रथम तो उन्मत्त  
 भ्रमरोंके समूहका जो शब्द उसके समान और फिर पवनसे भरेहुये शोभित वंशके शब्दकी  
 तुल्य और फिर घंटाके शब्द समान और समुद्रके शब्दकी तुल्य धीर और फिर गर्जतेहुये  
 मेघका जो शब्द उसके समान गंभीर ऐसा पूर्वोक्त नाद इस देहमें सुषुम्नानाडीके छिद्रमें वर्तता  
 है ॥ ६७ ॥

**श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम् ॥**  
**शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥ ६८ ॥**

पराङ्मुखीमुद्रया नादानुसंधानमाह—श्रवणेति ॥ श्रवणपुटे नयनयोर्नेत्रयोर्गुणलं  
 युग्मं घ्राणशब्देन घ्राणपुटे मुखमास्यमेषाम् । द्वे प्राण्यंगत्वादेकवद्भावे प्राप्तेऽपि सर्व-  
 स्यापि द्वैकवद्भावस्य वैकल्पिककत्वान्न भवति । तेषां निरोधनं करांगुलिभिः कार्यम् ।  
 निरोधनं चेत्यम्—अंगुष्ठाभ्यामुभौ कर्णौ तर्जनीभ्यां च चक्षुषी । नासापुटौ तथान्या-  
 भ्यां प्रच्छाद्य करणानि च’ इति । चकारात्तदन्याभ्यां मुखं प्रच्छाद्येति समुच्चीयते ।  
 शुद्धा प्राणाचामैर्मलरहिता या सुषुम्नासरणिः सुषुम्नापद्धतिस्तस्याममलो नादः स्फुटं  
 व्यक्तं श्रूयते ॥ ६८ ॥

भाषार्थ—अब पराङ्मुखीनाडीसे नादके अनुसंधानका वर्णन करते हैं कि, कर्ण और नेत्र  
 और घ्राण इन तीनोंके युगल ( दोनों छिद्र ) और मुख इनका निरोध करे अर्थात् हाथकी  
 अंगुलियोंसे इनको रोकै और निरोध भी इस वचनके अनुसार करे कि अंगुष्ठोंसे दोनों कानों-  
 का और तर्जनीयोंसे दोनों नेत्रोंका और मध्यमाओंसे नासापुटोंका और चकारके पढनेसे तर्ज-  
 मियोंसे मुखका आच्छादन करे इस प्रकारका इंद्रियोंका निरोध करनेसे प्राणायामोंसे मलरहित  
 जो सुषुम्नाका मार्ग है उसमें स्फुट ( प्रत्यक्ष ) अमल ( स्पष्ट ) नाद सुनताहै ॥ ६८ ॥

**आरंभश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ॥**

**निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ॥ ६९ ॥**

अथ नादस्य चतस्रोऽवस्थाः प्राह—आरंभश्चेति ॥ आरंभावस्था घटावस्था परिचया-  
वस्था निष्पत्त्यवस्था इति । सर्वयोगेषु सर्वेषु चित्तवृत्तिनिरोधोपायेषु शांभव्यादिषु  
व्यवस्थाचतुष्टयं स्यात् । चचैवतथापिचाः पादपुरणार्थाः ॥ ६९ ॥

भाषार्थ—अब नादकी चार अवस्थाओंका वर्णन करतेहैं कि, आरंभ अवस्था—घटावस्था—  
परिचयावस्था और निष्पत्ति अवस्था ये चार अवस्था संपूर्ण चित्तवृत्तिके निरोधरूप योगोंमें  
होती हैं अर्थात् शांभवीमुद्रादिकोंमें ये चारही अवस्था होती है ॥ ६९ ॥

**अथारंभावस्था ।**

**ब्रह्मग्रंथेर्भवेद्देहो ह्यानंदः शून्यसंभवः ॥**

**विचित्रः कणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥ ७० ॥**

तत्रारंभावस्थामाह—ब्रह्मग्रंथेरेति ॥ ब्रह्मग्रंथेरेनाहतचक्रे वर्तमानाया भेदः प्राणायाम-  
माभ्यासेन भेदनं यदा भवेत्तदेति यत्तदोरेध्याहारः । आनंदयतीत्यानंदः आनंदजनकः  
शून्ये हृदयाकाशे संभवतीति शून्यसंभवो हृदाकाशोत्पन्नो विचित्रो नानाविधः कणो  
भूषणनिनदः स एव कणकः भूषणनिनदसदृश इत्यर्थः । ‘भूषणानां तु शिंजितम् ॥  
निकाणो निकणः क्वाणः क्कणः क्कणनमित्यपि’ इत्यमरः । अनाहतो ध्वनिरनाहतो  
निर्हातो देहे देहमध्ये श्रूयते श्रवणविषयो भवतीत्यर्थः ॥ ७० ॥

भाषार्थ—उन चारोंमें आरंभावस्था जो सबसे प्रथम है उसका वर्णन करतेहैं कि, अनाहत-  
चक्रेमें वर्तमान ब्रह्मग्रंथिका जब प्राणायामोंके अभ्याससे भेद होताहै तब आनंदका उत्पादक  
और हृदयाकाशरूप शून्यमें उत्पन्न—और अनेकविध और भूषणोंके शब्दकी तुल्य—अनाहत  
अर्थात् बिना ताडनासे उत्पन्न ध्वनि ( शब्द ) देहके मध्यमें सुनता है—इस श्लोकमें कण-  
शब्दसे भूषणोंका शब्द—इस अमरके श्लोकसे लेना कि, भूषणोंके शब्दको शिंजित-निकाण-  
निकण-क्वाण क्कण क्कणन कहतेहैं ॥ ७० ॥

**दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगंधस्त्वरोगवान् ॥**

**संपूर्णहृदयः शून्य आरंभो योगवान्भवेत् ॥ ७१ ॥**

दिव्यदेह इति ॥ शून्ये हृदाकाशे य आरंभो नादारंभस्तस्मिन् सति हृदाकाशवि-  
शुद्धाकाशभ्रूमध्याकाशाः शून्यातिशून्यमहाशून्यशब्दैर्व्यवहियंते योगिभिः संपूर्णहृदयः  
प्राणवायुना सम्यक् पूर्णं हृदयं यस्य स तथा आनंदेन पूर्णं हृदयं योगवान् योगी  
दिव्यो रूपलावण्यबलसंपन्नो देहो यस्य स दिव्यदेहः तेजस्वी प्रतापवान् दिव्यगंधः  
दिव्य उत्तमो गंधो यस्य स तथा अरोगवान् रोगरहितो भवेदिति संबंधः ॥ ७१ ॥

भाषार्थ—हृदाकाशरूप शून्यमें आरंभ ( नादका प्रारंभ ) होनेपर अर्थात् यदि हृदयमें नादकी प्रतीति होय तो-प्राणवायुसे मलीप्रकार पूर्ण है हृदय जिसका और आनंदसे पूर्ण हृदयके होनेपर योगी रूपलावण्यसे संपन्नरूप दिव्यदेह होताहै और तेजस्वी ( प्रतापी ) और उत्तम गंधवान् और रोगोंसे रहित होताहै यहां शून्यसे हृदयाकाश इसलिये कहाहै कि हृदाकाश विशुद्धाकाश श्रुतिमध्यका आकाश इन तीनोंको क्रमसे शून्य अतिशून्य महाशून्य शब्दोंसे व्यवहार योगीजन करते हैं ॥ ७१ ॥

अथ घटावस्था ।

**द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ॥**

**दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ॥ ७२ ॥**

घटावस्थामाह—द्वितीयायामिति ॥ द्वितीयायां घटावस्थायां वायुः प्राणः घटीकृत्य आत्मना सहापानं नादविंदू चैकीकृत्य मध्यगो मध्यचक्रगतः कण्ठस्थाने मध्यचक्रम् । तदुक्तमत्रैव जालंधरबंधे—‘मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबंधनम्’ इति । यदा भवेदित्यध्याहारः । तदास्यामवस्थायां योगी योगाभ्यासी दृढमासनं यस्य स दृढासनः स्थिरासनो ज्ञानी पूर्वापेक्षया कुशलबुद्धिर्देवसमो रूपलावण्याधिक्यादेवतुल्यो भवेत् । तदुक्तमीश्वरोक्ते राजयोगे—‘प्राणापानौ नादविंदू जीवात्मपरमात्मनोः । मिलित्वा घटते यस्मात्तस्मात्स घट उच्यते ॥ ’ इति ॥ ७२ ॥

भाषार्थ—अब घटावस्थाको कहते हैं कि, दूसरी घटावस्थामें प्राण वायु अपने संग अपान और नाद बिंदु इनको एक करके कण्ठस्थानके विषे वर्तमान जो मध्यचक्र उसमें गत हो ( पहुँच ) जाता है सोई जालंधर बन्धमें कह आये हैं कि, सोलह आधार हैं बंधन जिसका ऐसा यह मध्यचक्र जानना अर्थात् यह पूर्वोक्त अवस्था होजाय तो योगी उस अवस्थामें दृढ ( स्थिर ) आसन और ज्ञानी अर्थात् पूर्वकी अपेक्षासे कुशलबुद्धि और रूप लावण्यकी अधिकतासे देवतुल्य होजाता है सोई ईश्वरोक्त राजयोगमें कहा है कि, जिससे प्राण अपान नाद बिंदु जीवात्मा परमात्मा इनको मिलकर यह घटती है तिससे घटावस्था कहाती है ॥ ७२ ॥

**विष्णुग्रंथेस्ततो भेदात्परमानंदसूचकः ॥**

**अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥ ७३ ॥**

विष्णुग्रंथेरिति ॥ ततो ब्रह्मग्रंथिभेदनानंतरं विष्णुग्रंथेः कण्ठे वर्तमानायां भेदात्कुंभकैर्भेदनात्परमानंदस्य भाविनो ब्रह्मानंदस्य सूचको ज्ञापकः । अतिशून्ये कण्ठावकाशे विमर्दोऽनेकनादसंमर्दो भेर्याः शब्द इव शब्दो भेरीशब्दो भेरीनादश्च तदा तस्मिन् काले भवेत् ॥ ७३ ॥

भाषार्थ—फिर ब्रह्मग्रंथिभेदनके अनन्तर कण्ठके विषे वर्तमान जो विष्णुग्रंथि है उसके भेदसे अर्थात् कुंभकप्राणायामोंसे विष्णुग्रंथिके खुलनेपर होनेवाला जो परमानंद ( ब्रह्मानंद ) है उसको

सूचक ( ज्ञापक ) अतिशून्यरूप कण्ठाकाशमें विमर्द अर्थात् भेरीके शब्द समान अनेक नादोंका समर्द और भेरीका शब्द उस समय होते हैं ॥ ७३ ॥

अथ परिचयावस्था ।

तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः ॥

महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥ ७४ ॥

परिचयावस्थामाह सार्धद्वाभ्याम्-तृतीयायामिति ॥ तृतीयायां परिचयावस्थायां विहायोमर्दलध्वनिर्विहायसि भ्रूमध्याकाशे मर्दलस्य वाद्यविशेषस्य ध्वनिरिव ध्वनिर्विज्ञेयो विशेषेण ज्ञानार्हो भवति । तदा तस्यावस्थायां सर्वसिद्धिसमाश्रयं सर्वासां सिद्धीनामणिमादीनां समाश्रयं स्थानम् । तत्र संयमादणिमादिप्राप्ते महाशून्यं भ्रूमध्याकाशं याति गच्छति प्राण इति शेषः ॥ ७४ ॥

भाषार्थ-अब अढाई श्लोकोसे परिचयावस्थाका वर्णन करते हैं कि, तीसरी परिचयावस्थामें श्रुत्युक्तिके मध्यरूप आकाशमें मर्दलनाम वाद्यविशेष ( ढोल ) की ध्वनी विशेष करके जाननी और उस अवस्थामें प्राणवायु संपूर्ण अणिमा आदि सिद्धियोंका समाश्रय जो ( स्थान ) महाशून्य है, भ्रूमध्याकाशरूप उसमें पहुँच जाता है क्योंकि महाशून्यमें वायुका संयम करनेसे अणिमा आदि सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है ॥ ७४ ॥

चित्तानंदं तदा जित्वा सहजानंदसंभवः ॥

दोषदुःखजरान्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः ॥ ७५ ॥

चित्तानंदमिति ॥ चित्तानंदं नादविषयांतःकरणवृत्तिजन्यं सुखं जित्वाभिभूय सहजानंदसंभवः सहजानंदः स्वाभाविकात्मसुखं तस्य संभव आविर्भावः स दोषा वातपित्तकफा दुःखं तज्जन्या वेदना आध्यात्मिकादि च जरा वृद्धावस्था व्याधिज्वरादिः क्षुधा बुभुक्षा निद्रा स्वाप एतैर्विवर्जितो रहितस्तदा योगी भवतीति ॥ ७५ ॥

भाषार्थ-और उस योगीका नादका विषय जो अंतःकरणकी वृत्ति है उससे उत्पन्न रूप जो चित्तका आनंद है उसका तिरस्कार करनेके अनंतर स्वाभाविक आत्मसुखरूप जो सहजानंद है उसका आविर्भाव ( प्रकटता ) होता है-फिर वह योगी वातपित्तकफरूप दोषोंका दुःख, वृद्ध अवस्था, और आध्यात्मिक दुःख, और ज्वर आदि व्याधि क्षुधा ( भोजनकी इच्छा ) निद्रा-इनसे विवर्जित उस समय होता है ॥ ७५ ॥

रुद्रग्रंथि यदा भित्त्वा शर्वपीठगतोऽनिलः ॥

निष्पत्तौ वैणवः शब्दः कणद्गीणाकणो भवेत् ॥ ७६ ॥

तदा कदेत्यपेक्षायामाह-रुद्रेति ॥ यदा रुद्रग्रंथि भित्त्वा आज्ञाचक्रे रुद्रग्रंथिः शर्वस्येश्वरस्य पीठं स्थानं भ्रूमध्यं तत्र गतः प्राप्तोऽनिलः प्राणो भवति तदा । निष्पत्त्यवस्थामाह-निष्पत्ताविति ॥ निष्पत्तौ निष्पत्त्यवस्थायाम् । ब्रह्मरंध्रे गत्वे प्राणे निष्प-

त्यवस्था भवति । वैणवः वेणोरयं वैणवो वंशसंबन्धी शब्दो निनादः कणंती शब्दाय-  
माना या वीणा तस्याः कणः शब्दो भवेत् ॥ ७६ ॥

भाषार्थ—जिस समय प्राण उस रुद्रग्रंथिका भेदन करके जो रुद्रग्रंथि आज्ञाचक्रमें होती है शर्व ( ईश्वरका ) पीठ ( स्थान ) जो भुक्कुटीका मध्य है उसमें प्राप्त होजाता है—अब निष्पत्तिअवस्थाका वर्णन करते हैं कि, निष्पत्तिअवस्थामें अर्थात् प्राणके ब्रह्मग्रंथमें पहुँचनेपर ऐसा वेणु ( वंश ) के शब्दकी तुल्य शब्द होता है जैसा शब्द करती हुई वीणाका शब्द होता है ७६

**एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् ॥**

**सृष्टिसंहारकर्तासौ योगीश्वरसमो भवेत् ॥ ७७ ॥**

एकीभूतामिति ॥ तदा तस्यामवस्थायां चित्तमंतःकरणमेकीभूतमेकाविषयीभूतम् । विषयीभूतम् । विषयविषंयिणोरभेदोपचारात् । तद्राजयोगाभिधानकं राजयोग इत्यभिधानं यस्य तद्राजयोगाभिधानकं चित्तस्यैकाग्रतैव राजयोग इत्यर्थः ॥ सृष्टिसंहारोति । असौ नादानुसंधानपरो योगी सृष्टिसंहारकर्ता सृष्टिं संहारं च करोतीति तादृशः । अतएवेश्वरसम ईश्वरतुल्यो भवेत् ॥ ७७ ॥

भाषार्थ—उस निष्पत्तिअवस्थामें चित्त एकीभूत होजाता है अर्थात् विषय और विषयी ( ज्ञान ) इनका अभेद ( एकता ) होनेसे राज है नाम जिसका ऐसा यह चित्त होजाता है क्योंकि, चित्तकी एकाग्रताकोही राजयोग कहते हैं और वह योगी सृष्टि और संहारका कर्ता ईश्वरके समान होजाता है अर्थात् नादके अनुसंधानसे रचना और संहारका कर्ता ईश्वररूप होजाता है ॥ ७७ ॥

**अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखंडितं सुखम् ॥**

**ल्योद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥ ७८ ॥**

**राजयोगमजानंतः केवलं हठकर्मिणः ॥**

**एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान् ॥ ७९ ॥**

अस्तु वेति ॥ राजयोगमिति ॥ उभौ प्राग्व्याख्यातौ ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

भाषार्थ—यद्यपि इन दोनों श्लोकोंका अर्थ पहिले लिख आये हैं तथापि यहांभी किंचित लिखते हैं कि, मुक्ति हो वा मत हो इस नादानुसंधान करनेमेंही अखंड सुख होता है और ल्यसे उत्पन्न हुआ यह सुख राजयोगसे प्राप्त होता है ॥ ७८ ॥ और जो योगी राजयोगको नहीं जानते हैं और हठयोगकी क्रियाको करते हैं उन अभ्यासियोंको मैं परिश्रमके फलसे वर्जित मानता हूँ अर्थात् उनको हठयोगका फल नहीं होता है ॥ ७९ ॥

**उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भूध्यानं मम संमतम् ॥**

**राजयोगपदं प्राप्तुं सुखोपायोऽल्पचेतसाम् ॥**

**सद्यः प्रत्ययसंधायी जायते नादजो लयः ॥ ८० ॥**

उन्मन्यवाप्तये इति ॥ शीघ्रं त्वरितमुन्मन्या उन्मन्यवस्थाया अवाप्तये प्राप्त्यर्थं  
भ्रूध्यानं भ्रूबोर्ध्यानं भ्रूमध्ये ध्यानं मम स्वात्मारामस्य संमतम् । राजयोगो योगानां  
राजा तदेव पदं राजयोगपदं तुर्यावस्थारूपं प्राप्तुं, लब्धुं पूर्वोक्तभ्रूध्यानरूपः सुखो-  
पायः सुखसाध्यः उपायः सुखोपायः अल्पचेतसामल्पबुद्धीनामपि । किमुतान्येषामि-  
त्यभिप्रायः । नादजः नादाज्जातो लयाश्चित्तविलयः सद्यः शीघ्रं प्रत्ययं प्रतीतिं संधा-  
तीति प्रत्ययसंधायी प्रतीतिकरो जायते प्रादुर्भवति ॥ ८० ॥

भाषार्थ—उन्मनीअवस्थाकी शीघ्र प्राप्तिके लिये मुझ स्वात्मारामयोगीको भ्रुकुटियोंके मध्यमें  
जो ध्यान है वह संमत है और सब योगोंका राजारूप जो राजयोग है उस तुर्यअवस्थाना-  
मके राजयोगकी प्राप्तिके लिये पूर्वोक्त भ्रुकुटियोंका ध्यानही अल्पबुद्धियोंके लिये सुख ( सरल )  
उपाय है—और नादसे उत्पन्न भया जो चित्तका विलय है वह शीघ्रहीप्रतीतिको करनेवाला  
होता है ॥ ८० ॥

**नादानुसंधानसमाधिभाजां योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम् ॥**

**आनंदमेकं वचसामगम्यं जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः ॥ ८१ ॥**

नादानुसंधानेति ॥ नादस्यानाहतध्वनेरनुसंधानमनुचित्तनं तेन समाधिश्चित्तैकाग्र्यं  
तं भजंतीति नादानुसंधानसमाधिभाजस्तेषां योगिषु योगयुक्तेष्वीश्वराः समर्थास्तेषां  
हृदि हृदये वर्धते इति वर्धमानस्त्वं वर्धमानं वचसां वाचामगम्यम् । इदमिति वक्तुम-  
शक्यं तं योगशास्त्रप्रसिद्धमेकं मुख्यमानंदमाह्लादमेकोऽनन्यः श्रीगुरुनाथः श्रीमान्  
गुरुरेव नाथो जानाति वेत्ति । एतेन नादानुसंधानानंदो गुरुगम्य एवेति सूचितम् ॥ ८१ ॥

भाषार्थ—अनाहतध्वनिरूप जो नाद है उसके अनुसंधान ( स्मरण ) से जो चित्तकी एका-  
ग्र्यतारूप समाधि है उसके कर्ता जो योगीश्वर ( योगियोंमें जो उत्तम ) हैं उनके हृदयमें बढ-  
ताहुआ और वाणी जिसको 'यह है' इसप्रकार नहीं कहसकती है—ऐसा जो योगशास्त्रमें प्रसिद्ध  
एक ( मुख्य ) आनंद होता है एक श्रीगुरुनाथ अर्थात् श्रीयुत गुरुस्वामीही जानते हैं—इससे  
यह सूचित किया कि नादके अनुसंधानका आनंद गुरुकी दयासेही प्रतीत हो सकता है अन्य  
प्रकारसे नहीं हो सकता ॥ ८१ ॥

**कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः ॥**

**तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजेत् ॥ ८२ ॥**

नादानुसंधानात्प्रत्याहारादिक्रमेण समाधिमाह—कर्णावित्यादिभिः ॥ मुनिर्मननशीलो  
योगी हस्ताभ्यामित्यनेन हस्तांगुष्ठौ लक्ष्येते । ताभ्यां कर्णौ श्रोत्रे पिधाय । हस्तां-  
गुष्ठौ श्रोत्राविवरयोः कृत्वेत्यर्थः । यं ध्वनिमनाहतनिःस्वनं शृणोत्याकर्णयति तत्र  
तस्मिन् ध्वनौ चित्तं स्थिरीकुर्यादास्थिरं स्थिरं संपद्यमानं कुर्यात् । यावत्स्थिरं पदं स्थिर-  
पदं तुर्यारूपं गच्छेत् । तदुक्तम्—तुर्यावस्था चिदाभिव्यंजकनादस्य वेदनं प्रोक्तमिति

नादानुसंधानेन वायुस्थैर्यमणिमादयोऽपि भवन्तीति । उक्तं च त्रिपुरसारसमुच्चये—‘वि-  
जितो भवतीह तेन वायुः सहजो यस्य समुत्थितः प्रणादः । अणिमादिगुणा  
भवन्ति तस्यामितपुण्यं च महागुणोदयस्य ॥ सुरराजतनूजवैरिरंग्रे विनिरुध्य स्वकर  
गुल्बिद्वयेन । जलधेरिव धीरनादमन्तः प्रसरन्तं सहसा शृणोति मर्त्यः ॥ ’ इति । सुर-  
राज इंद्रस्तस्य तनूजोऽर्जुनस्तस्य वैरी कर्णस्तदंग्रे स्पष्टमन्यत् ॥ ८२ ॥

भाषार्थ—नादके अनुसंधानसे प्रत्याहार आदिके क्रमसे समाधिका वर्णन करते हैं कि मन-  
नका कर्ता योगी हाथोंके अंगूठोंसे कर्णोंको ढककर अर्थात् अंगूठोंको कर्णोंके छिद्रोंमें लगाकर  
जिस अनाहतध्वनिको सुनता है उस अनाहतध्वनिमें अस्थिरभी चिन्तको तबतक स्थिर करै  
जबतक तुर्यावस्थारूप स्थिरपदको प्राप्त न हो—सोई कहाहै कि, तुर्यावस्था, चेतनका अभिव्यंजक  
( ज्ञापक ) जो नाद उसका ज्ञानरूप है और नादके अनुसंधानसे वायुकी स्थिरता और अणिमा  
आदि सिद्धिभी होती हैं—और त्रिपुरसारसमुच्चयमेंभी कहा है कि जिस योगीके देहमें स्वामावि-  
क नाद भलीप्रकार उठता है वह वायुको जीतलेताहै और उसको अणिमा आदिगुण, और उस  
महोदयको अतुल पुण्य होते हैं, अपने हाथकी दो अंगुलियोंसे कर्णोंके छिद्रोंको रोककर—समु-  
द्रके समान धीरे जो नाद देहके भीतर फैलाता है उसको मनुष्य ( योगी ) शीघ्रही सुनताहै ८२

**अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ॥**

**पक्षाद्रिक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥ ८३ ॥**

अभ्यस्यमान इति ॥ अभ्यस्यमानोऽनुसंधीयमानोऽयं नादोऽनाहताख्यो बाह्य-  
ध्वनिं बहिर्भवं शब्दमावृणुते श्रुत्योर्विषयम् । योगी नादाभ्यासी पक्षान्मासार्धादखिलं  
सर्वं विक्षेपं चित्तचांचल्यं जित्वाऽभिभूय सुखी स्वानंदो भवेत् ॥ ८३ ॥

भाषार्थ—अभ्यास कियाहुआ अर्थात् अनुसंधान किया यह नाद बाहिरका जो शब्द है उसका  
आवरण करता है अर्थात् बाह्यके शब्दकोभी योगी सुनलेता है और वह नादका अभ्यासी  
योगी एक पक्षभरसेही चित्तकी चंचलता रूप मंपूर्ण विक्षेपको जीतकर सुखी होता है अर्थात्  
आत्मानंदरूप सुखको प्राप्त होताहै ॥ ८३ ॥

**श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ॥**

**ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः ॥ ८४ ॥**

श्रूयते इति ॥ प्रथमाभ्यासे पूर्वाभ्यासे नानाविधोऽनेकाविधो महान् जलधिजीमूत-  
मेर्यादिसदृशो नादोऽनाहतस्वनः श्रूयते आकर्ण्यते । ततोऽनंतरमभ्यासे नादानुसंधा-  
नाभ्यासे वर्धमाने साति सूक्ष्मसूक्ष्मकः सूक्ष्मः सूक्ष्म एव श्रूयते श्रवणविषयो  
भवति ॥ ८४ ॥

भाषार्थ—प्रथम २ के अभ्यासमें अनेकप्रकारका अर्थात् समुद्र मेघ, मेरीके शब्दकी तुल्य  
महान् ( भारी ) नाद सुना जाताहै और उसके अनंतर अभ्यासके होनेपर सूक्ष्म २ शब्द सुना  
जाताहै ॥ ८४ ॥

आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसंभवाः ॥

मध्ये मर्दलशंखोत्था घंटाकाहलजास्तथा ॥ ८५ ॥

नानाविधं नादमाह द्वाभ्याम्-आदाविति ॥ आदौ वायोब्रह्मरंध्रगमनसमये जलधिः समुद्रो जीमूतो मेघो भेरी वाद्यविशेषः । 'भेरी स्त्री दुंदुभिः पुमान्' इत्यमरः । झर्झरो वाद्यविशेषः । 'वाद्यप्रमेदा डभ्ररुमड्डुडिं' डिमझर्झराः । मर्दलः पणवोऽन्येऽपि' इत्यमरः । जलधिप्रमुखेभ्यः संभव इव संभवो येषां ते तथा मध्ये ब्रह्मरंध्रे वायोः स्थैर्या-नंतरं मर्दलो वाद्यविशेषः शंखो जलजस्ताभ्यामुत्था इव मर्दलशंखोत्थाः घण्टाकाहलौ वाद्यविशेषौ ताभ्यां जाता इव घण्टाकाहलजाः ॥ ८५ ॥

भाषार्थ-अब दो श्लोकोंसे नाना प्रकारके नादका वर्णन करते हैं कि प्रथम २ प्राणवायुके ब्रह्मरंध्रमें गमनसमयमें समुद्र, मेघ, भेरी ( घोंस ) जो बाजे हैं और झर्झरी ( झांझ ) जो वाद्य विशेष हैं उनके शब्दके समान शब्द ब्रह्मरंध्रमें सुने जाते हैं और मध्यमें अर्थात् सुषुम्नामें प्राणवायुकी स्थिरताके अनंतर मर्दल, शंख इनके शब्दकी तुल्य शब्द सुने जाते हैं और तिस प्रकार घंटा और काहलनामके जो बाजे हैं उनके शब्दकी सदृश शब्दभी प्रतीत होते हैं ॥ ८५ ॥

अंते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः ॥

इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः ॥ ८६ ॥

अंते त्वाति ॥ अंते तु प्राणस्य ब्रह्मरंध्रे बहुस्थैर्यानंतरं तु किंकिणी क्षुद्रघंटिका वंशो वेणुः वीणा तंत्री भ्रमरो मधुपः तेषां निःस्वना इति पूर्वोक्ताः नानाविधा अनेक प्रकारका देहस्य मध्ये गताः प्राप्ताः श्रूयन्ते ॥ ८६ ॥

भाषार्थ-फिर प्राणकी ब्रह्मरंध्रमें स्थिरताके अंतमें किंकिणी-वंश-वीणा-भ्रमर इनके शब्दकी तुल्य शब्द सुनेजाते हैं-इस प्रकार देहके मध्यमें नाना प्रकारके शब्द सुने जाते हैं ॥ ८६ ॥

महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ॥

तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥ ८७ ॥

महतीति ॥ मेघश्च भेरी च ते आदी यस्य स मेघभेर्यादिकस्तस्मिन् मेघभेरीशब्दौ तज्जन्यनिर्घोषपरो । महति बहुले ध्वनौ निनादे श्रूयमाणे आकर्ष्यमाने सत्यापि तत्र तेषु नादेषु सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरमातिसूक्ष्मं नादमेव परामृशेच्चिन्तयेत् । सूक्ष्मस्य नादस्य चिरस्थायित्वात्तत्रासक्तचित्तश्चिरं स्थिरमतिर्भवेदिति भावः ॥ ८७ ॥

भाषार्थ-मेघ, भेरी, आदिका जो महान् शब्द है उसकी तुल्य शब्दके सुननेपरभी उन शब्दोंमें सूक्ष्मसेभी सूक्ष्म जो नाद है उसका चिंतन करे क्योंकि सूक्ष्मनाद चिरकालतक रहता है उसमें आसक्त हुआ है चित्त जिसका ऐसा मनुष्यभी चिरकालतक स्थिरमति होजाता है ॥ ८७ ॥

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ॥

रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥ ८८ ॥

घनमिति ॥ घनं महांतं नादं मेघभेर्यादिकमुत्सृज्य घने वा नादे रममाणं घनसूक्ष्मा-  
न्यतरनादग्रहणपरित्यागाभ्यां क्रीडंतमपि क्षिप्तं रजसात्यंतचंचलं मनोऽन्यत्र विषयांतरे  
न चालयेन्न प्रेरयेत् । क्षिप्तं मनो विषयांतरासक्तं न समाधीयते नादेषु रममाणं तु  
समाधीयत इति भावः ॥ ८८ ॥

भाषार्थ—मेघ, भेरी आदिके महान् नादको त्यागकर सूक्ष्ममें वा सूक्ष्मनादको त्यागकर  
महान्नादमें रमण करतेहुये रजोगुणसे अत्यंत चंचल चित्तको अर्थात् महान्, सूक्ष्म शब्दके  
ग्रहण वा परित्यागसे क्रीडा करतेहुये मनको चलायमान न करै—क्योंकि, विषयांतरोंमें आसक्त  
मन समाधान नहीं होसकता है और नादमें रमताहुआ जो मन उसका समाधान होसकताहै—

यत्र कुत्रापि वा नादे लगाति प्रथमं मनः ॥

तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥ ८९ ॥

यत्रेति ॥ वा अथवा यत्रकुत्रापि नादे यस्मिन्कार्मिश्चिदने सूक्ष्मे वा नादे प्रथमं  
पूर्वं मनो लगाति लग्नं भवति तत्रैव तस्मिन्नेव नादे सुस्थिरीभूय सम्यक् स्थिरं भूत्वा  
तेन नादेन सार्धं साकं विलीयते लीनं भवतीत्यर्थः । अत्र पूर्ववाक्येन प्रत्याहारो द्विती-  
येन धारणा तृतीयेन ध्यानद्वारा समाधिरुक्तः ॥ ८९ ॥

भाषार्थ—अथवा जिस किसी घन वा सूक्ष्म नादमें प्रथम मन लगे उसी नादमें भलीप्रकार  
स्थिर होकर उसी नादके संग लय होजाताहै—यहां पूर्व वाक्यसे प्रत्याहार दूसरेसे धारणा और  
तीसरेसे ध्यानके द्वारा समाधि कही है ॥ ८९ ॥

मकरंदं पिबन्भृंगो गंधं नापेक्षते यथा ॥

नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्न हि कांक्षते ॥ ९० ॥

मकरंदमिति ॥ मकरंदं पुष्परसं पिबन् भृंगो भ्रमरो गंधं यथा नापेक्षते  
नेच्छति । तथा नादासक्तं नाद आसक्तं चित्तमंतःकरणं विषयान् विषिष्वंत्यवब्रूयति  
प्रमातारं स्वसंगेनेति विषयाः स्रक्चंदनवनितादयस्त्वान् न कांक्षते नेच्छति । हीति  
निश्चये ॥ ९० ॥

भाषार्थ—जैसे मकरंद ( पुष्पका रस ) का पान करताहुआ भ्रमर पुष्पके गंधकी अपेक्षा  
नहीं करता है तिसी प्रकार नादमें आसक्त हुआ चित्त भी अपने बंधनके कर्ता जो स्रक् चंदन  
आदि विषय हैं उनकी आकांक्षा नहीं करता है यह निश्चित है ॥ ९० ॥

मनो मत्तगर्जेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ॥

नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशिताकुशः ॥ ९१ ॥

मन इति ॥ विषयः शब्दादिरबोधानं वनं तत्र चरतीति विषयोद्यानचारी तस्य मन एव मत्तगजेंद्रः । दुर्निवारत्वात् । तस्य निनाद एवानाहतध्वनिरेव निशितां-कुशः तीक्ष्णांकुशः नियंत्रणे परावर्तने समर्थः शक्तः । एतैः श्लोकैः । 'चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् । यत्प्रत्य हरणं तेषां प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ॥' इन्द्रियाणां विषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहार इत्युक्तलक्षणः प्रत्याहारः प्रोक्तः ॥ ९१ ॥

भाषार्थ-शब्द आदि विषयरूप जो उद्यान उसमें विचरता हुआ जो मनरूप उन्मत्त गजेंद्र है उसके परावर्तन ( लौटाना ) में यह-नादरूप जो तीक्ष्ण अंकुश है वही समर्थ है-इन श्लोकोंसे इन्द्रियोंका विषयोंसे वह प्रत्याहार कहाहै जो इस श्लोकमें कहाहै कि विषयोंमें क्रमसे चरते हुये जो नेत्र आदि इन्द्रिय हैं उनकी जो विषयोंसे निवृत्ति उनको प्रत्याहार कहते हैं ॥ ९१ ॥

**बद्धं तु नादबंधेन मनः संत्यक्तचापलम् ॥**

**प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ॥ ९२ ॥**

बद्धं त्विति ॥ नाद एव बंधः बध्यतेऽनेनेति बंधः बंधनसाधनं तेन स्वशक्त्या स्वाधीनकरणेन बद्धं बंधनमिव प्राप्तम् । नादधारणादावासक्तमित्यर्थः । अत एव ब्रह्म्यक् त्यक्तं चापलं क्षणेक्षणे विषयग्रहणपरित्यागरूपं येन तत्तथा मनः सुतरां स्थैर्यं प्रयाति नितरां धारणमेति । तत्र दृष्टान्तमाह-छिन्नौ पक्षौ यस्य तादृशः खे गच्छतीति खगः पक्षी यथा । एतेन-‘प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेंद्रियम् । वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थैर्यं शुभाश्रये ॥’ शुभाश्रये चित्तस्थापनं धारणेत्युक्तलक्षणा धारणा प्रोक्ता ॥ ९२ ॥

भाषार्थ-नादरूप जो बंधनका साधन है उससे अपनी शक्तिके अनुसार बंधनको प्राप्त हुआ मन अर्थात् नादकी धारणा आदिमें आसक्त हुआ चित्त और इसीसे मलीप्रकार त्याग-देहै क्षण २ में विषयोंका ग्रहणरूप चपलता जिसने ऐसा मन निरन्तर स्थिरताको प्राप्त होता है अर्थात् धारणाको प्राप्त इस प्रकार होताहै जैसे छेदन किये हैं पक्ष जिसके ऐसा पक्षी हो जाताहै इस श्लोकसे शुभ आश्रयमें चित्तका स्थापनरूप उस धारणाको कहाहै जो इस वचनमें कहीहै कि प्राणायामसे पवनको और प्रत्याहारसे इन्द्रियोंको वशमें करके शुभाश्रय ( ब्रह्मं ) में चित्तकी स्थिरताको करे ॥ ९२ ॥

**सर्वचिंतां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ॥**

**नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥ ९३ ॥**

सर्वचिंतामिति ॥ सर्वेषां बाह्याभ्यंतरविषयाणां या चिंताचिंतनं तां परित्यज्य त्यक्त्वा सावधानेनैकाग्रेण चेतसा योगानां साम्राज्यं समाजो भावः । योगशब्दोऽर्थाद्यर्जतः । राजयोगित्वमिति यावत् । इच्छता वाञ्छता पुंसा नाद एवानाहतध्वनिरेवाहुः संधयोऽनुचितनीयः । नादाकारवृत्तिप्रवाहः कर्तव्य इत्यर्थः । एतेन 'तद्व्यपत्यैकाग्र्य

संततिश्चान्यनिस्पृहा । तद्ध्यानं प्रथमैरंगैः षडभिर्निष्पाद्यते नृप ॥' तत्र प्रत्ययैक-  
तानता ध्यानमित्युक्तलक्षणं ध्यानमुक्तम् ॥ ९३ ॥

भाषार्थ—बाह्य और भीतरके जो संपूर्ण विषयहैं उनकी चिंताको त्यागकर सावधान (एकाग्र) चित्ते राजयोगका अभिलाषी योगी नादकाही अनुसंधान करै अर्थात् नादाकार वृत्तिका प्रवाह करै इससे वह चित्तकी प्रत्ययैकतानतारूप ध्यान कहा जो इस वचनमें कहाहै कि ब्रह्मरूप प्रत्ययकी जो एकाग्र (एकरस) संतति और अन्य विषयोंकी निःस्पृहा वह ध्यान हे नृप । छः प्रथम अंगोंसे प्राप्त होताहै अर्थात् उसकी प्राप्तिके छः अंग कारणहै ॥ ९३ ॥

**नादोत्तरंगसारंगबंधने वागुरायते ॥**

**अंतरंगकुरंगस्य वधे व्याधायतेऽपि च ॥ ९४ ॥**

नादोत्तरंगेति ॥ नादः अंतरंगं मन एव सारंगो मृगस्तस्य बंधने चांचल्यहरणो वागुरायते वागुरेवाचरति वागुरा जालम् । यथा वागुराबंधनेन सारंगस्य चांचल्यं हरति तथा नादोऽन्तरंगस्य स्वशक्त्या चांचल्यं हरतीत्यर्थः । अंतरंगं मन एव सारंगो हरिणस्तस्य बंधने 'नानावृत्त्युत्पादनापनयनमेव मनसो बंधस्तस्मिन् व्याधायते व्याध इवाचरति । यथा व्याधो वागुराबद्धं मृगं हंति एवं नादोऽपि स्वासक्तं मनो हंतीत्यर्थः ॥ ९४ ॥

भाषार्थ—नाद अंतरंग ( मन ) जो सारंग मृग उसके बंधन ( चंचलताका हरण ) में वागुरा ( मृगबंधनमें जाल ) के समान है अर्थात् जैसे वागुराके बंधनसे मृगकी चंचलता हरी जाती है इसीप्रकार नादभी मनकी चंचलताको अपनी शक्तिसे हरताहै और नादही अंतरंग ( मन ) हरिणके बंधनमें व्याधके समान है अर्थात् जैसे व्याध वागुरामें बन्धेहुये मृगको हरताहै इसी प्रकार अपनेमें आसक्तहुये मनको नादभी हरताहै अर्थात् नानावृत्ति जो मनमें उत्पन्न होती हैं उनको दूर करताहै ॥ ९४ ॥

**अंतरंगस्य यमिनो वाजिनः परिधायते ॥**

**नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना ॥ ९५ ॥**

अंतरंगस्येति ॥ यमिनो योगिनोऽंतरंगं मनस्तस्य चपलत्वाद्वाजिनोऽश्वस्य परिधायते वाजिशाला द्वारपरिघ इवाचरति नाद इति शेषः । यथा वाजिशालापरिघो वाजिनोऽन्यत्र गतिं रुणाद्धि तथा नादोऽन्तरंगस्येत्यर्थः । अतः कारणाद्योगिना नादस्योपास्तिरुपासना नित्यं प्रत्यहमवधार्याविधारणीया । इतीति निश्चयेऽव्ययम् ॥ ९५ ॥

भाषार्थ—और योगीजनका जो अंतरंग ( मन ) रूप बाजी है उसके परिघ अर्थात् घुड़-शालाके द्वारमें अवरोधक लोहदंडके समान नाद है निदान जैसे वाजिशालाका परिघ बाजीकी अन्यत्र गतिको रोकताहै इसीप्रकार नादभी मनकी अन्यत्र विषयादिकोंमें जो गति है उसको रोकैहै इस कारणसे योगीजन निश्चल करके नादकी उपासनाका निश्चय करै ॥ ९५ ॥

**बद्धं विमुक्तचांचल्यं नादगंधकजारणात् ॥**

**मनःपारदमाप्नोति निरालंबारूपस्वेऽटनम् ॥ ९६ ॥**

वद्धमिति ॥ नाद एव गंधक उपधातुविशेषस्तेन जारणं जारणीकरणं नादगंध-  
कसंबंधेन चांचल्यहरणं तस्माद्वद्धं नादैकासक्तम् । पक्षे गुटिकाकृतिं प्राप्तम् अत एव  
विमुक्तं त्यक्तं चांचल्यमनेकविषयाकारपरिणामरूपं येन । पक्षे विमुक्तलौल्यं मनःपारदं  
मन एव पारदं चंचलं निरालंबं ब्रह्म तदेवाख्या यस्य तन्निरालंबाख्यं तदेव स्वमपरि-  
च्छिन्नत्वात्तस्मिन्नटनं गमनं तदाकारवृत्तिप्रवाहम् । पक्षे आकाशगमनं प्राप्नोति । यथा  
बद्धं पारदमाकाशगमनं करोति । एवं बद्धं मनो ब्रह्माकारवृत्तिप्रवाहमविच्छिन्नं करोती-  
त्यर्थः ॥ ९६ ॥

भाषार्थ-नादरूप जो गंधक उससे जारण ( भस्म ) करनेसे अर्थात् नाद गंधकके संयोगसे  
चंचलताके हरनेसे वद्ध ( एकनादमेंही आसक्त ) और पाराके पक्षमें गुटिकारूप हुआ सम  
झना और जारणसेही त्यागदिया है विषयाकार परिणामरूप चांचल्य जिसने और पाराके  
पक्षमें त्यागदी है स्वाभाविक चंचलता जिसने वह समझना ऐसा मनरूप पारद ( चंचलरूप  
निरालंब नामके आकाशरूप अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें गमनको अर्थात् ब्रह्माकार वृत्तिके प्रवाहको  
प्राप्त होता है और पाराके पक्षमें आकाशगमनको प्राप्त होना समझना तात्पर्य यह है कि  
इस प्रकार बंधाहुआ मन निरवच्छिन्न ( एकरस ) ब्रह्माकार वृत्तिके प्रवाहको ऋताहै ॥ ९६ ॥

**नादश्रवणतः क्षिप्रमंतरंगभुजंगमः ॥**

**विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति ॥ ९७ ॥**

नादेति ॥ नादस्यानाहतस्वनस्य श्रवणतः श्रवणात् क्षिप्रं द्रुतमंतरंगं मन एव भुजं-  
गमः सर्पश्चपलत्वाच्चादप्रियत्वाच्च भुजंगमरूपत्वं मनसः सर्वं विश्वं विस्मृत्य विस्मृति-  
विषयं कृत्वैकाग्रो नादाकारवृत्तिप्रवाहवान् सन्कुत्रापि विषयांतरे नहि धावति नैव धावनं  
करोति । ध्यानोत्तरैः श्लोकैः । 'तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत् । मनसः  
ध्याननिष्पाद्यः समाधिः सोऽभिधीयते ॥' इति विष्णुपुराणोक्तलक्षणेन 'तदेवार्थमात्र-  
निर्मासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' इति पातंजलसूत्रोक्तलक्षणेन च संप्रज्ञातलक्षणः  
समाधिरुक्तः ॥ ९७ ॥

भाषार्थ-अनाहत शब्दरूप नादके श्रवणसे शीघ्रही मनरूप भुजंगम ( सर्प ) यहां चपल  
और नादप्रिय होनेसे मनको भुजंगम समझना संपूर्ण विश्वका विस्मरण करके एकाग्र हुआ  
अर्थात् नादाकारवृत्तिप्रवाही होकर किसी विषयमें नहीं दौडताहै ध्यानसे पीछे कहेहुये श्लोकोंसे  
इस विष्णुपुराणके वचन और इस पातंजल सूत्रमें क्रमसे कहीहुई समाधि और संप्रज्ञात समाधि  
कही है कि, उसकाही कल्पनाहीन जो स्वरूपका ग्रहण मनसे है वही ध्यानसे उत्पन्न होताहै  
और उसकोही समाधि कहतेहैं उस आत्माकाही जो अर्थमात्र निर्मास स्वरूप शून्यके समान  
है उसको संप्रज्ञात समाधि कहते हैं ॥ ९७ ॥

**काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ॥**

**नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ॥ ९८ ॥**

काष्ठ इति ॥ काष्ठे दारुणि प्रवर्तितः प्रज्वालितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ज्वालारूपं परित्यज्य तन्मात्ररूपेणावतिष्ठते यथा तथा नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते । राजसवामसवृत्तिनाशात्सत्त्वमात्रावशेषं संस्कारशेषं च भवति । तत्र च मैत्रायणीयमंत्रः । 'यथा निरिधने वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति । तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति' इति ॥ ९८ ॥

भाषार्थ—काष्ठमें प्रवृत्त की अर्थात् जलाई हुई अग्नि ज्वालारूपको त्यागकर जैसे काष्ठके संग शांत होजाती है अर्थात् काष्ठरूप रहजाती है तिसी प्रकार नादमें प्रवृत्त किया चित्त नादके संग लीन होजाता है अर्थात् रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियोंके नाशसे सत्तामात्र वा संस्कारमात्र शेष रहजाता है इसमें मैत्रायणीय शाखाका यह मंत्र प्रमाण है कि जैसे इंधनरहित अग्नि अपने योनिरूप काष्ठमें शांत होता है इसी प्रकार वृत्तियोंके क्षयसे चित्तभी अपनी योनि ( ब्रह्म ) में शांत होजाता है ॥ ९८ ॥

**घंटादिनादसक्तस्तब्धांतःकरणहरिणस्य ॥**

**प्रहरणमपि सुकरं शरसंधानप्रवीणश्चेत् ॥ ९९ ॥**

घंटादीति ॥ घंटा आदिर्येषां शंखमर्दलझंझरदुंदुभिजीमूतादीनां ते घंटादयस्तेषां नादस्तेषु सक्तः । अत एव स्तब्धो निश्चलो योऽन्तःकरणमेव हरिणो मृगस्तस्य प्रहरणं नानावृत्तिप्रतिबंधनमंतःकरणपक्षे । हरिणपक्षे तु प्रहरणं हननमपि शरवद्द्वृत्तगामिनो वायोः संधानसुषुम्नामार्गेण ब्रह्मरंध्रे निरोधनपक्षे शरस्य बाणस्य संधानं धनुषि योजनं तस्मिन् प्रवीणः कुशलश्चेत्सुकरं सुखेन कर्तुं शक्यम् ॥ ९९ ॥

भाषार्थ—घंटा आदि जिनके ऐसे जो शंख मर्दल, झंझर, दुंदुभी आदिके नाद हैं उनमें आसक्त और निश्चल जो अन्तःकरणरूप मृग उसका प्रहार करनाभी सुकर है यदि बाणके संधानमें मनुष्य प्रवीण हो यहां अन्तःकरणका प्रहार नाना वृत्तियोंका प्रतिबन्ध रूप लेना और हरिणपक्षमें हनन लेना और बाणका सन्धानभी बाणके समान शत्रुगामी जो वायु उसका सुषुम्नामार्गसे ब्रह्मरंध्रमें प्रवेश करलेना और हरिणपक्षमें धनुषपर बाणका योजन ( लगाना ) लेना ॥ ९९ ॥

**अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ॥**

**ध्वनेरंतर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यांतर्गतं मनः ॥**

**मनस्तत्र लब्धं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १०० ॥**

अनाहतस्येति ॥ अनाहतस्य शब्दस्यानाहतस्वनस्य यो ध्वनिर्निर्हीद उपलभ्यते श्रूयते तस्य ध्वनेरंतर्गतं ज्ञेयं ज्योतिः स्वप्रकाशचेतन्यं ज्ञेयस्यांतर्गतं ज्ञेयाकारतामापन्नं मनोऽन्तःकरणं तत्र ज्ञेये मनो विलयं याति परवैराग्येण सकलवृत्तिशून्यं संस्कारशेषं भवति । तद्विष्णोर्विमोरात्मनः परममंतःकरणवृत्त्युपाधिग्राहित्यातिरूपाधिकं पद्यते गम्यते योगिमिरिति पदं स्वरूपम् ॥ १०० ॥

भाषार्थ—अनाहत अर्थात् विना ताडनाके उत्पन्न जो शब्द उसकी जो ध्वनि प्रतीत होती है उस ध्वनिके अन्तर्गतही ज्ञेयरूप प्रकाशमान चैतन्य है और उस ज्ञेयके अन्तर्गत अन्तःकरण-रूप मन है और उस ज्ञेयमेंही मन विलयको प्राप्त होता है अर्थात् परमवैराग्यसे संपूर्ण वृत्तियोंसे शून्य होकर संस्कारमात्र शेष रहजाता है और वही विष्णु ( व्यापक ) आत्माका परमपद है अर्थात् योगीजनोंकी प्राप्तिके योग्य अन्तःकरणकी वृत्तिरूप उपाधिसे रहित आत्मारूप है ॥ १०० ॥

**तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ॥**

**निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ॥ १०१ ॥**

तावदिति ॥ यावच्छब्दोऽनाहतध्वनिः प्रवर्तते श्रूयते तावदाकाशस्य सम्यक्कल्पनं भवति । शब्दस्याकाशगुणत्वादगुणगुणिनोरभेदाद्वा मनसा सह शब्दस्य विलयाच्चिः-शब्दं शब्दरहितं यत्परं ब्रह्म परब्रह्मशब्दवाच्यं परमात्मेति गीयते परमात्मशब्देन स उच्यते । सर्ववृत्तिविलये यः स्वरूपेणावस्थितः स एव परब्रह्मपरमात्मशब्दाभ्यामुच्यत इति भावः ॥ १०१ ॥

भाषार्थ—जितने अनाहत ध्वनिरूप शब्द सुनेजाते हैं उतनीही आकाशकी भलीप्रकार कल्पना होती है क्योंकि शब्द आकाशरूप है और गुणगुणीका अभेद है और मन सहित जब शब्दका विलय होजाता है तब शब्दरहित जो परब्रह्म है वही परमात्मा शब्दसे कहाजाता है अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंका लय होनेपर जो स्वरूपसे स्थित है वही परब्रह्म परमात्मा-स्वरूप है ॥ १०१ ॥

**यत्किञ्चिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ॥**

**यस्तत्त्वांतो निराकारः सः एव परमेश्वरः ॥ १०२ ॥**

यत्किञ्चिदिति ॥ नादरूपेणानाहतध्वनिरूपेण यत्किञ्चिच्छ्रूयते आकर्ण्यते सा शक्तिरेव यस्तत्त्वान्तस्तत्त्वानामंतो लयो यस्मिन् सः तथा निराकार आकाररहितः स एव परमेश्वरः सर्ववृत्तिक्षये स्वरूपावस्थितो यः स आत्मेत्यर्थः । कष्टे प्रवर्तितो वह्निरित्यादिभिः श्लोकैः राजयोगपरपर्यायोऽसंप्रज्ञातः समाधिरुक्तः ॥ १०२ ॥

भाषार्थ—जो कुछ नादरूपसे सुनाजाता है वह शक्तिही है और जिसमें तत्त्वोंका लय होता है वह निराकार परमेश्वर है अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंका क्षय होनेपर जो स्वरूपावस्थित है वही आत्मा है इन पूर्वोक्त पांच श्लोकोंसे राजयोग नामकी असंप्रज्ञातसमाधि कही है ॥ १०२ ॥

**सर्वे हठल्योपाया राजयोगस्य सिद्धये ॥**

**राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवंचकः ॥ १०३ ॥**

सर्वे इति ॥ हठश्च लयश्च हठल्यौ तयोरुपाया हठल्योपाया हठोपाया आसन-कुंभकमुद्राकृपा ल्योपाया नादानुसंधानशाम्भवीमुद्रादयः । राजयोगस्य जनसः सर्ववृत्तिनिरोधकक्षणस्य [सिद्धये निष्पत्तये प्रोक्ता इति शेषः । राजयोगसमारूढः

सम्यगरूढः प्राप्तवान् यः पुरुषः स कालवंचकः कालं मृत्युं वंचयति जयतीति  
वाह्यः स्यादिति शेषः ॥ १०३ ॥

भाषार्थ—हठ और लयके जो संपूर्ण उपाय हैं अर्थात् आसन हंमक मुद्रा आदि हठके उपा-  
य और नादानुसंधान शांभवीसूत्रा आदि लयके उपाय हैं वे संपूर्ण मनकी संपूर्ण वृत्तियोंको  
निरोधरूप जो राजयोग उसकी सिद्धिके लिये ही कहे हैं, और उस राजयोगमें भलीप्रकार  
आरूढ ( प्राप्त ) जो पुरुष है वह कालका वंचक अर्थात् मृत्युका जीतनेवाला होजाता  
है ॥ १०३ ॥

तत्त्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः ॥

उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते ॥ १०४ ॥

तत्त्वमिति ॥ तत्त्वं चित्तं बीजं बीजवन्दुन्मन्यवस्थाङ्कुराकारेण परिणममानत्वात् ।  
हठः प्राणापानयोरैक्यलक्षणः प्राणायामः क्षेत्रे इव प्राणायामे उन्मनी कल्पलतिकोत्प-  
त्तेरौदासीन्यं परवैराग्यं जलं तस्या उत्पत्तिकारणत्वात् । परवैराग्यहेतुकः संस्कारविशे-  
षश्चित्तस्यासंप्रज्ञात इति तल्लक्षणात् । एतैस्त्रिभिर्दुन्मन्यसंप्रज्ञातावस्था सैव कल्पलतिका  
सकलेष्टसाधनत्वात्सद्य एव शीघ्रमेव प्रवर्तते प्रवृत्ता भवति उत्पन्ना भवति ॥ १०४ ॥

भाषार्थ—तत्त्व ( चित्त ) ही बीज है, क्योंकि चित्तही उन्मनी अवस्थारूप, जो अंकुर है  
उसके आकारसे परिणामको प्राप्त होता है और प्राण अपानकी एकत्वारूप जो हठ है, वही  
क्षेत्र है क्योंकि क्षेत्रके समान प्राणायाममेंही उन्मनीरूप कल्पलता उत्पन्न होती है और उदा-  
सीनता ( परम वैराग्य ) जल है क्योंकि, उदासीनताही उन्मनी कल्पलताकी उत्पात्तिका  
कारण है क्योंकि, असंप्रज्ञात समाधिका यह लक्षण कहा है कि, परम वैराग्यका हेतु जो  
चित्तका संस्कारविशेष है वही असंप्रज्ञात समाधि है इन बीज, क्षेत्र, जल रूप पूर्वोक्त तीनोंसे  
असंप्रज्ञात अवस्थारूप उन्मनी कल्पलता शीघ्रही उत्पन्न होजाती है संपूर्ण इष्टकी साधक  
होनेसे उन्मनीको कल्पलता कहते हैं ॥ १०४ ॥

सदा नादानुसंधानात्क्षीयन्ते पापसंचयाः ॥

निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥ १०५ ॥

सदेति ॥ सदा सर्वदा नादानुसंधानान्नादानुचितनात्पापसंचयाः पापसमूहाः क्षीयन्ते  
नश्यन्ति निरंजने निर्गुणे चैतन्ये निश्चितं ध्रुवं चित्तमारुतौ मनःप्राणौ विलीयेते  
विलीनौ भवतः ॥ १०५ ॥

भाषार्थ—सदैव नादके अनुसंधानसे पापोंके समूह क्षीण होते हैं और निर्गुण चैतन्यमें चित्त  
और पवन ये दोनों अवश्य लीन होजाते हैं अर्थात् मन और प्राण इन दोनोंका ब्रह्ममें लय  
होनाताहै ॥ १०५ ॥

शंसदुंदुभिनादं च न शृणोति कदाचन ॥

काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ॥ १०६ ॥

उन्मन्यवस्थां प्राप्तस्य योगिनः स्थितिमाहाधमिः—शंखदुंदुभीतिः ॥ शंखो जलजो दुंदुभिर्वायविशेषस्तयोर्नादं घोषं कदाचन कस्मिंश्चिदपि समये न शृणोति । शंखदुंदुभीत्युपलक्षणं नादमात्रस्य । उन्मन्यवस्थया देहो ध्रुवं काष्ठवज्जायते । निश्चेष्टत्वादित्यर्थः ॥ १०६ ॥

भाषार्थ—अब आठ श्लोकोंसे उन्मनीजवस्थाको प्राप्त जो योगी है उसकी स्थितिका वर्णन करते हैं कि, वह योगी शंख दुंदुभी इनके शब्दको कदाचित्भी नहीं सुनता है यहां शंख दुंदुभी शब्दमात्रके उपलक्षक हैं और उन्मनी अवस्थासे देह काष्ठके समान चेष्टारहित हो जाता है ॥ १०६ ॥

**सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिंताविवर्जितः ॥**

**मृतवृत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ॥ १०७ ॥**

सर्वेति ॥ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणलक्षणाः पंच व्युत्थानावस्थास्ताभिर्विशेषेण मुक्तो रहितः सर्वा याश्चिताः स्मृतयस्ताभिर्विवर्जितो विरहितो यः योगः सकलवृत्तिनिरोधोऽस्यास्तीति योगी तुर्यावस्थावान् स मुक्तो जीवन्नेव मुक्तः । सकलवृत्तिनिरोधे आत्मनः स्वरूपावस्थानात् । तदुक्तं पातंजलसूत्रे—‘तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्’ इति । स्पष्टमन्यत ॥ १०७ ॥

भाषार्थ—और जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, मरणरूप जो पांच व्युत्थानावस्था हैं उनसे विशेषकरके रहित होता है और संपूर्ण चिंताओंसे विवर्जित जो योगी है अर्थात् संपूर्ण वृत्तियोंके निरोधरूप योगमें स्थित है वह जीवन्मुक्त है इसमें संशय नहीं है क्योंकि संपूर्ण वृत्तियोंके निरोधमें आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित होजाता है सोई पातंजल सूत्रमें कहा है कि, उस समय द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित होता है ॥ १०७ ॥

**खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा ॥**

**साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥ १०८ ॥**

खाद्यत इति ॥ समाधिना युक्तो योगी कालेन मृत्युना न खाद्यते न भक्ष्यते न हन्यत इत्यर्थः । कर्मणा कृतेन शुभेनाशुभेन वा न बाध्यते जन्ममरणादिजनने न क्लिश्यते । तथा च समाधिप्रकरणे पातंजलसूत्रम् । ‘ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः’ इति । केनापि पुरुषांतरेण यंत्रमंत्रादिना वा न साध्यते साधयितुं शक्यते ॥ १०८ ॥

भाषार्थ—समाधिसे युक्त योगीको मृत्युभी भक्षण नहीं करता है और शुभ अशुभ रूप किये हुये कर्मोंसे जन्म मरण आदि क्लेशभी नहीं होते हैं और न वह योगी किसी उपायसे साध्य होसकता है अर्थात् कोई पुरुष यंत्र मंत्र आदिसे साध नहीं सकता सोई समाधिप्रकरणमें पातंजलिका सूत्र है कि, उस समाधिके समय क्लेशकी निवृत्ति होती है ॥ १०८ ॥

**न गंधं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ॥**

**नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ॥ १०९ ॥**

न गंधमिति ॥ समाधिना युक्तो योगी गंधं सुरभिमुसुरभिं वा न रसं मधुराम्ल-  
लवणकटुकषायतिक्तमेदात् षड्विधं न रूपं शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्रमेदात्सप्त-  
विधं न स्पर्शं शीतमुष्णमनुष्णाशीतं वा न निःस्वनं शंखदुंदुभिजलधिजीभूतादिनिनादं  
बाह्यमाभ्यंतरं वा न आत्मानं देहं न परं पुरुषांतरं वेत्तीति सर्वत्रान्वेति । 'आत्मा  
देहे धृती जीवे स्वभावे परमात्मानि' इत्यमरः ॥ १०९ ॥

भाषार्थ—समाधिसे युक्त योगी सुरभि, असुरभि रूप गंध और मधुर, आम्ल, लवण, कटुक,  
कषाय तिक्तरूप छः प्रकारका रस और शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, चित्ररूप  
सातप्रकारका रूप और शीत, उष्ण, अनुष्णाशीतिरूप, तीनप्रकारका स्पर्श और शंख, दुंदुभी,  
समुद्र, मेघ इनका बाह्य शब्द, और नादरूप भीतरका शब्द और अपना देह अन्य अन्य  
पुरुष इन पूर्वोक्त गंध आदिको नहीं जानता है ॥ १०९ ॥

**चित्तं न सुप्तं नो जाग्रत्स्मृतिविस्मृतिवर्जितम् ॥**

**न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव सः ॥ ११० ॥**

चित्तमिति ॥ यस्य योगिनश्चित्तमंतःकरणं न सुप्तम् । आवरकस्य तमसोऽभावा-  
त्रिगुणोऽन्तैःकरणे यदा सत्त्वरजसी अभिभूय समस्तकरणावरकं तम आविर्भवति तदांतः-  
करणस्य विषयाकारपरिणामाभावात्तत्सुप्तमित्युच्यते । नो जाग्रत् इन्द्रियैरग्रहणाभा-  
वात् । स्मृतिश्च विस्मृतिश्च स्मृतिविस्मृती ताभ्यां वर्जितम् । वृत्तिसामान्याभावादुद्बो-  
धकाभावाच्च स्मृतिवर्जितम् । स्मृत्यनुकूलसंस्काराभावाद्विस्मृतिवर्जितम् । न चास्तं  
नाशमेति प्राप्नोति । संस्कारशेषस्य चित्तस्य सत्त्वात् । नोदेत्युद्भवति वृत्त्यनुत्पादनात् ।  
सोऽसौ मुक्त एव जैवन्मुक्त एव ॥ ११० ॥

भाषार्थ—जिस योगीका चित्त आच्छादक तमोगुणके अभावसे सोवता न हो, क्योंकि त्रि-  
गुण अंतःकरणमें जिस समय सत्त्वगुण और रजोगुणका तिरस्कार करके सब इंद्रियोंका आ-  
च्छादक तमोगुण अधिक होताहै उस समय अंतःकरणका विषयाकाररूप परिणाम न होनेसे  
सुप्त अवस्था ( शयन ) कहाती है और इंद्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होनेसे योगीको जाग्रतर्भ  
न हो, और स्मरण विस्मरणसे वर्जित हो अर्थात् सम्पूर्ण वृत्तियोंके और उद्बोधकके अभावसे  
स्मृतिरहित हो और स्मृतिका जनक जो संस्कार उसके अभावसे विस्मृतिसे रहित हो और  
संस्कारशेष चित्तके होनेसे नाशकोभी प्राप्त न हो और वृत्तियोंकी उत्पत्तिके अभावसे उदय  
( उत्पन्न ) भी न होताहो वहभी योगी मुक्तही है ॥ ११० ॥

**न विजनाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ॥**

**न मानं नापमानं च योगी युक्तः समाधिना ॥ १११ ॥**

न विजानातीति ॥ समाधिना युक्तो योगी शीतं च उष्णं च शीतोष्णम् । समा-  
हारद्वंद्वः । शीतमुष्णं वा पदार्थं न दुःखं दुःखजनकं परकृतं ताडनादिकं न सुखं  
सुखसाधनं सुरभिचंदनाद्यनुलेपनादिकम् । तथा चार्थे । मानं परकृतं सत्कारं न अप-  
मानमनादरं च न विजानातीति क्रियापदं प्रतिवाक्यमन्वेति ॥ १११ ॥

भाषार्थ—समाधिसे युक्त योगी शीत, उष्ण पदार्थको और ताड़ना आदि दुःखको और सुरभि चंदनाआदिके लेपनरूप सुखको और मान अपमानको अर्थात् दूसरेके किये सत्कार और अनादरको नहीं जानता है ॥ १११ ॥

**स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठते ॥**

**निःश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ॥ ११२ ॥**

स्वस्थ इति ॥ स्वस्थः प्रसन्नैन्द्रियांतःकरणः । एतेन तंद्रामूर्च्छादिव्यावृत्तिः । जाग्रदवस्थायामित्यनेन स्वप्नसुषुप्त्योर्निवृत्तिः । सुप्तवत् सुप्तेन तुल्यं कायैन्द्रियव्यापारशून्यो यो योगी अवतिष्ठते स्थितो भवति । 'समवप्रविश्यः स्थः' त्यात्मनेपदम् । निश्वासोच्छ्वासहीनः बाह्यवायोः कोष्ठे ग्रहणं निश्वासः कोष्ठस्थितस्य वायोर्बाहिर्निःसारणमुच्छ्वासस्ताभ्यां हीनश्चावतिष्ठत इत्यत्रापि संबध्यते स निश्चितं निःसंदिग्धं मुक्त एव । जीवन्मुक्तरूपमुक्तं दत्तात्रेयेण—'निर्गुणध्यानसंपन्नः समाधिं च ततोऽभ्यसेत् । दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् ॥ वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवेद्भुवम् ॥' इति ॥ ११२ ॥

भाषार्थ—जो योगी स्वस्थअवस्थामें अर्थात् इंद्रिय और अंतःकरणकी प्रसन्नता स्थित होकर जाग्रत् अवस्थामेंभी देह और इंद्रियोंके ध्यापारसे शून्य सुप्तेके समान और बाहिरकी वायुका देहमें ग्रहणरूप निःश्वास और देहमें स्थित वायुका बाहिर निकासनेरूप उच्छ्वास इन दोनोंसे रहित होकर निश्चल टिकताहै वह योगी निश्चयसे मुक्तही है और दत्तात्रेयने जीवन्मुक्तरूप यह कहा है कि, निर्गुणके ध्यानमें संपन्न मनुष्य समाधिका अभ्यास करे फिर बारह दिनसेही समाधिको प्राप्त होता है और बुद्धिमान मनुष्य वायुको रोककर निश्चयसे जीवन्मुक्त होता है ॥ ११२ ॥

**अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम् ॥**

**अग्राह्यो मंत्रयंत्राणां योगी युक्तः समाधिना ॥ ११३ ॥**

अवध्य इति । समाधिना युक्तो योगी । सर्वशस्त्राणामिति संबंधसामान्ये षष्ठी । सर्वशस्त्रैरित्यर्थः । अवध्यो हंतुमशक्य इत्यर्थः । सर्वदेहिनामित्यत्रापि संबंधमात्रविशेषायां षष्ठी । अशक्यः सर्वदेहाभिः बलेन शक्यो न भवतीत्यर्थः । मंत्रयंत्राणां वशीकरणमारणोच्चाटनादिफलैर्मंत्रयंत्रैराह्यः वशीकर्तुमशक्यः । एवं प्राप्तयोगस्य योगिनो विघ्ना बहवः समायांति । तन्निवारणार्थं तज्ज्ञानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदर्श्यते । दत्तात्रेयः—'आलस्यं प्रथमो विघ्नो द्वितीयस्तु प्रकथ्यते । पूर्वोक्तधूर्तगोष्ठी च तृतीयो मंत्रसाधनम् ॥ चतुर्थो धातुवादः स्यादिति योगविदो विदुः' इति । मार्कंडेयपुराणे 'उपसर्गाः प्रवर्तते दृष्टा ह्यात्मनि योगिनः । ये तांस्ते संप्रवक्ष्यामि समासेन निबोध मे ॥ काम्याः क्रियास्तथा कामान्मनुष्यो योऽभिवाञ्छति । स्त्रियो दानफलं विद्यां मायां कुण्ठं धनं वसु ॥ देवत्वममोशत्वं रसायनवयःक्रियाम् । मेरुं प्रयतनं यज्ञं जलाग्न्यावेशनं तथा ॥ श्राद्धानां शक्तिदानानां फलानि नियमास्तथा । तथोपवासात्पूर्याच्च देवपित्रर्चनादपि ॥ अतिथिभ्यश्च कर्मभ्य उपसृष्टोऽभिवाञ्छति ॥ विघ्नमित्थं प्रवर्तते

यत्नाद्योगी निवर्तयेत् ॥ ब्रह्मासांगि मनः कुर्वन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते ॥' इति । पञ्चपुराणे—  
'यदैभिरंतरायैर्न क्षिप्यतेऽस्य हि मानसम् । तदाग्रे तमवाप्नोति परं ब्रह्मातिदुर्लभम् ॥'  
योगभास्करे—'सात्त्विकीं धृतिमालम्ब्य योगी सत्त्वेन सुस्थिरः । निर्गुणं मनसा ध्याय-  
न्नुपसर्गैः प्रमुच्यते ॥ एवं योगमुपासीनः शक्रादिपदनिस्पृहः । सिद्ध्यादिवासनात्यागी  
जीवन्मुक्तो भवेन्मुनिः ॥ विस्तरस्य भिया नोक्ताः संति विघ्ना ह्यनेकशः । ध्यानेन  
विष्णुहरयोर्वारणीया हि योगिना' इति ॥ ११३ ॥

भाषार्थ—समाधिसे युक्त योगी संपूर्णशस्त्रोंसे वध करनेके अयोग्य होता है और सब  
देहधारियोंको वश आदि करनेमें अशक्य है और वशीकरण, मारण, उच्चाटन हैं फल  
जिनके ऐसे मंत्र यंत्रोंसेभी वशमें करने अयोग्य है इस प्रकारके योगीको अनेकप्रका-  
रके जो विघ्न होतेहैं उनको दिखातेहैं—दत्तात्रेयने कहाहै कि, पहिला विघ्न आलस्य और दूसरा  
धूर्तोंकी सभा और तीसरा मंत्रसाधन और चौथा धातुवाद ये योगके ज्ञाताओंने विघ्न कहे हैं  
और मार्कण्डेयपुराणमें ये विघ्न कहे हैं कि, योगीकी आत्मामें देखनेसे जो विघ्न होतेहैं उनको  
मैं तेरे प्रति संक्षेपसे कहताहूँ तू उनको सुन-कामनाके लिये कर्म और कामनाओंकी जो मनुष्य  
वांछा करताहै स्त्री, दानका फल, विद्या, माया, गुप्त और प्रकट धन, देव, और इन्द्र होना  
और रसायनरूप देहकी क्रिया मेरु, यत्न, यज्ञ, जल और अग्निमें प्रवेश, श्राद्ध और शक्तिसे  
दान, फल और नियम और उपवास वापीरूपतडागादि पूर्त, देव और पितरोंका पूजन, अतिथि  
और कर्म इनसे युक्त हुआ योगी जो कुछ वांछा करताहै उसके योगमें विघ्न प्रवृत्त हो जाता है  
इससे योगी यत्नोंसे विघ्नको निवृत्त करे, ब्रह्ममें आसक्त मनको करताहुआ योगी विघ्नोंसे छूट  
ताहै और पञ्चपुराणमें लिखाहै कि, जब इन विघ्नोंसे जिस योगीके मनमें विक्षेप न हो वह  
अति दुर्लभ उस परब्रह्मको प्राप्त होताहै योगभास्करमें लिखा है कि, सात्त्विकी धीरताको  
करके सत्त्वगुणसे भलीप्रकार स्थिर और मनसे निर्गुणका ध्यान करता हुआ योगी विघ्नोंसे  
अवश्य छूटताहै इस प्रकार योगका उपासक और इन्द्रादिके पदकी इच्छासे रहित और सिद्धि  
आदिकोंकी वासनाका त्यागी मुनि जीवन्मुक्त होताहै। विघ्न अनेक प्रकारके हैं परन्तु विस्ता-  
रके भयसे यहां नहीं कहे हैं और वे सब विघ्न विष्णु और शिवजीके ध्यानसे योगियोंको  
निवारण करने योग्य है ॥ ११३ ॥

यावन्नेव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे

यावद्विदुर्न भवति दृढप्राणवातप्रबंधात् ॥

यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं

तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दंभमिथ्याप्रलापः ॥ ११४ ॥

इति श्रीसहजानंदसंतानचितामणिस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां दृढ-

योगप्रदीपिकायां समाधिउक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥

इति दृढयोगप्रदीपिका समाप्ता ॥

अयोगिनां ज्ञानं निराकुर्वन्योगिनामेव ज्ञानं भवतीत्याह-यावदिति ॥ मध्यमार्गे सुषुम्नायां चरन् गच्छन् मारुतः प्राणवायुः यावत् यावत्कालपर्यन्तं न प्रविशति प्रकर्षेण ब्रह्मरंध्रपर्यन्तं न विशति ब्रह्मरंध्रं गतस्य स्थैर्याद्ब्रह्मरंध्रं गत्वा न स्थिरो भवतीत्यर्थः । सुषुम्नायामसंचरन् वायुरसिद्ध इत्युच्यते तदुक्तममृतसिद्धौ-‘यावद्धि मार्गतो वायुर्निश्चलो नैव मध्यगः । असिद्धं तं विजानीयाद्वायुं कर्मवशानुगम् ॥’ इति । प्राणयाति जीवयतीति प्राणः स चासौ वातश्च प्राणवातः तस्य प्रबंधात्कुम्भकेन स्थिरीकरणार्द्धिर्दुर्वीर्यं दृढः स्थिरो न भवति प्राणवातस्थैर्ये बिंदुस्थैर्यमुक्तमत्रैव प्राक् । ‘मनः स्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थिरो भवेत् ।’ इति । तदभावे त्वसिद्धत्वं योगिनः । उक्तममृतसिद्धौ-‘तावद्बद्धोऽप्यसिद्धोऽसौ नरः सांसारिको मतः । यावद्भवति देहस्थो रसेन्द्रो ब्रह्मरूपकः ॥ असिद्धं तं विजानीयान्नरमब्रह्मचारिणम् । जराभरणसंकीर्णं सर्वक्लेशसमाश्रयम् ॥’ इति । यावत्तत्त्वं चित्तं ध्याने ध्येयं चित्तं न सहजसदृशं स्वाभाविकध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो नैव जायते नैव भवति प्राणवातप्रबंधादिति देहलीदीपकन्यायेनात्रापि संबध्यते । वायुस्थैर्ये चित्तस्थैर्यमुक्तममृतसिद्धौ-‘यदासौ श्रियते वायुर्मध्यमां मध्ययोगतः । तदा बिंदुश्च चित्तं च म्रियते वायुना सह ॥’ तदभावेह्यासिद्धत्वमुक्तममृतसिद्धौ-‘यावत्प्रस्थंदते चित्तं बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु । असिद्धं ताद्विजानीयाच्चित्तं कर्मगुणान्वितम् ॥’ इति । तावद्यज्ज्ञानं शाब्दं वदति काश्चित् तदिदं ज्ञानं कथं दंभमिथ्याप्रलापः दंभेन ज्ञानकथनेनाहं लोके पूज्यो भविष्यामीति धिया मिथ्याप्रलापो मिथ्याभाषणं दंभपूर्वकं मिथ्याभाषणमित्यर्थः । प्राणबिंदुचित्तानां जयामावे ज्ञानस्याभावात्संसृतिर्दुर्वारा । तदुक्तममृतसिद्धौ-‘चलत्येष यदा वायुस्तदा बिंदुश्चलः स्मृतः । बिंदुश्चलति यस्यांगे चित्तं तस्यैव चंचलम् ॥ चले बिंदौ चले चित्ते चले वायौ च सर्वदा ॥ जायते म्रियते लोकः सत्यं सत्यमिदं वचः ॥’ इति । योगबीजेऽप्युक्तम्-‘चित्तं प्रनष्टं यदि भासते वै तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाशः । न वा यदि स्यान्न तु तस्य शास्त्रं नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः ॥’ इति । एतेन प्राणबिंदुमनसां जये तु ज्ञानद्वारा योगिनो मुक्तिः स्थोदेवेति सूचितम् । तदुक्तममृतसिद्धौ-यामवस्थां व्रजेद्वायुर्बिंदुस्तामधिगच्छति । यथाहि साध्यते वायुस्तथा बिंदुप्रसाधनम् ॥ मूर्च्छितो हरति व्याधिं वृद्धः खेचरतां नयेत् । सर्वसिद्धिकरो लीनो निश्चलो मुक्तिदायकः ॥ यथावस्था भवेद्बिंदोश्चित्तावस्था तथा तथा ॥’ ननु-‘योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया । ज्ञानं कर्म च भाक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥’ इति भगवदुक्तास्त्रयो मोक्षोपायास्तेषु सत्सु कथं योग एव मोक्षोपायत्वेनोक्त इति चेन्न । तेषां योगांगेष्वंतर्मावात् । तथाहि-‘आत्मा वाऽग्रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः’ इति श्रुत्या परमपुरुषार्थसाधनात्मसाक्षात्कारहेतुतया श्रवणमनननिदिध्या-

सनान्युक्तानि तत्र श्रवणमनने नियमांतर्गते स्वाध्यायेऽन्तर्भवतः । स्वाध्यायश्च मोक्ष-  
शास्त्राणामध्ययनम् । स च तात्पर्यार्थनिश्चयपर्यवसायो ब्राह्मः । तात्पर्यार्थनिर्णयश्च  
श्रवणमननाभ्यां भवतीति श्रवणमननयोः स्वाध्यायेऽन्तर्भावः । नियमविवरणे याज्ञव-  
ल्क्येन—‘सिद्धांतश्रवणं प्रोक्तं वेदान्तश्रवणं बुधैः’ इति स्पष्टमेव श्रवणस्य नियमांत-  
र्गतिरुक्ता—‘अधीतवेदं सूत्रं वा पुराणं सेतिहासकम् । पदेष्वध्ययनं यश्च सदाभ्यासो  
जपः स्मृतः ॥’ इति युक्तिभिरनवरतमनुचितनलक्षणस्य सदाभ्यासरूपस्य मननस्यापि  
नियमांतर्गतिरुक्ता । विजातीयप्रत्ययनिरोधपूर्वकसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपस्य निदि-  
व्यासनस्य उक्तलक्षणे ध्यानेऽन्तर्भावः । तस्यापि तत्परिपाकरूपसमाधिनात्मसाक्षात्का-  
रद्वारा मोक्षहेतुत्वमीश्वरार्पणबुद्ध्या निष्कामकर्मानुष्ठानलक्षणस्य कर्मयोगस्य ‘तपः-  
स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः’ इति पतंजलिप्रोक्ते नियमांतर्गते क्रियायोगेऽन्त-  
र्भावः । तत्र तप उक्तमीश्वरगीतायाम्—‘उपवासपराकादिकृच्छ्रचांद्रायणादिभिः ।  
शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम् ॥’ इति । स्वाध्यायोऽपि तत्रोक्तः—‘वेदांत-  
शतरुद्रीयप्रणवादिजपं बुधाः । सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते ॥’ इति ।  
ईश्वरप्रणिधानं, च तत्रोक्तम्—‘स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनःकायकर्मभिः । सुनिश्चला  
भवेद्भक्तिरेतदीश्वरपूजनम् ॥’ इति । क्रियायोगश्च परंपरया समाधिनात्मसाक्षात्कारद्वारा  
सैव मोक्षहेतुरिति समाधिभावनार्थः । ‘क्लेशतनूकरणार्थश्च’ इत्युत्तरसूत्रेण स्पष्टीकृतं पतं-  
जलिना । भजते सेव्यते भगवदाकारमंतःकरणं क्रियतेऽनयेति भाक्तिरिति करणव्यु-  
त्पत्त्या ‘श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वंदनं दास्यं सुख्यमात्म-  
निवेदनम् ॥’ इति नवधोक्ता साधनभक्तिरभिधीयते । तस्या ईश्वरप्रणिधानरूपे नियमेऽ-  
न्तर्भावः । तस्याश्च समाधिहेतुत्वं चोक्तं पतंजलिना—‘ईश्वरप्रणिधानाद्वा’ इति । ईश्वरवि-  
षयकात्प्रणिधानाद्भक्तिविशेषात्समाधिलाभः समाधिफलं भवतीति सूत्रार्थः । भजनमंतः-  
करणस्य भगवदाकाररूपं भाक्तिरिति भावव्युत्पत्त्या फलभूता भाक्तिरभिधीयते ।  
सैव प्रेमभाक्तिरित्युच्यते । तल्लक्षणमुक्तं नारायणतीर्थैः—‘प्रेमभाक्तियोगस्तु ईश्वरचरणा-  
रविदिविषयकैकांतिकात्यंतिकप्रेमप्रवाहोऽविच्छिन्नः’ इति । मधुसूदनसस्वतीभिस्तु—  
‘द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकारतरूपा सध्विकल्पवृत्तिर्भक्तिः’ इति । ‘तस्यास्तु  
श्रद्धाभाक्तिध्यानयोगाद्देहि’ इति श्रुतेः । ‘भक्त्या मामभिजानाति’ इति स्मृतेश्च ।  
आत्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वम् । भक्तास्तु सुखस्यैव पुरुषार्थत्वाद्दुःखासंभिन्नानि-  
रतिशयसुखदारारूपा प्रेमभाक्तिरेव पुरुषार्थ इत्याहुः । तस्यास्तु संप्रज्ञातसमाधावंतर्भावः ।  
एवं च अष्टांगयोगातिरिक्तं किमपि परमपुरुषार्थसाधनं नास्तीति सिद्धम् ॥ ११४ ॥

ग्राह्यमेव विदुषां हितं यतो भाषणं समयदर्शसंस्कृतम् ।

रक्ष गच्छति पयो न लेहितं ह्यं इत्याभिहितं शिशोर्यथा ॥ १॥

सदर्थद्योतनकरी तमःस्तोमविनाशिनी ॥

ब्रह्मानन्देन ज्योत्स्नेयं शिवाग्निगुणलेऽर्पिता ॥ २ ॥

इति श्रीहठयोगप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानन्दकृतायां ज्योत्स्नाभिधायं

समाधिनिरूपणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥

टीकाग्रंथसंख्या ॥ २४५० ॥

भाषार्थ—अब अयोगियोंको ज्ञानका निराकरण करतेहुए योगियोंकोही ज्ञानकी उत्पत्तिका वर्णन करते हैं कि, जबतक सुषुम्नाके मार्गमें. बहताहुआ प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्रमें प्रविष्ट होकर स्थिर नहीं होता, क्योंकि सुषुम्नामें नहीं बहते हुए प्राणवायुको असिद्ध कहतेहैं, सोई अमृतसिद्धिमें कहा कि, जबतक अपने मार्गसे वायु सुषुम्नामें प्राप्त होकर निश्चल न हो—कर्मवशके अनुयायी उस वायुको असिद्ध जानै और जीवनका आधाररूप जो प्राण उसके दृढबन्धन अर्थात् कुंभकसे दृढ करनेसे जबतक बिंदु ( वीर्य ) स्थिर नहीं होताहै और प्राणवायुकी स्थिरतासे बिंदुकी स्थिरता इसी ग्रंथमें कह आयेहैं कि, मनकी स्थिरतासे वायु और वायुकी स्थिरतासे बिंदुकी स्थिरता होतीहै वह न होय तो योगी असिद्ध होताहै सोई अमृतसिद्धिमें. कहा है कि, तदतक बद्ध और असिद्ध यह सांसारिक जन मानाहै इतने रसंद्र जो ब्रह्मरूप है वह देहमें स्थित हो अर्थात् अपने स्थानसे पतित होकर देहमें आजाय और ब्रह्मचर्यसे हीन उस मनष्यको असिद्ध जाने और जरामरणसे युक्त और संपूर्ण क्लेशोंका आश्रय होताहै और जबतक चित्तरूप तत्त्वध्यानमें ध्येय चित्त नहीं होताहै अर्थात् स्वाभाविक ध्येयाकार जो वृत्तियोंका प्रवाह उससे सहज सदृश प्राणके बंधनसे नहीं होताहै और वायुकी स्थिरतासे चित्तकी स्थिरता अमृतसिद्धिमें कही है कि, जब यह वायु सुषुम्नाके योगसे प्रविष्ट होजाताहै तब बिंदु और चित्त ये दोनों वायुके संग होकर मरजातेहैं और इसके अभावमें असिद्धताभी अमृतासिद्धिमें कही है कि, इतने बाह्य और भीतरकी वस्तुमें चित्तका स्पंदन ( चेष्टा ) होताहै, कर्मके गुणोंसे युक्त उस चित्तको असिद्ध जानै तबतक सो यह ज्ञान दंभभिथ्या प्रलाप होताहै अर्थात् मैं जगत्में पूज्य हूंगा इस प्रकार दंभपूर्वक ज्ञानके कथनसे बुद्धिसे मिथ्याभाषणही होताहै क्योंकि प्राण, बिन्दु, चित्त इनके जयके अभावसे ज्ञानका अभाव होताहै और उससे जन्ममरणरूप संसारकी निवृत्ति नहीं होसकतीहै सोई अमृतसिद्धिमें कहा है कि, जब यह प्राणवायु चलताहै तब बिंदुभी चल कहाहै और जिसके अन्नमें बिंदु चंचल है उसका चित्तभी चंचल होताहै और बिंदु, चित्त, वायु इन तीनोंके चंचल होनेपर संपूर्ण जगत् उत्पन्न होताहै और मरताहै, यह वचन सत्य है योगबीजमेंभी कहा है कि, यदि चित्त नष्ट हुआ भासै तो वहां वायुकाभी नाश प्रतीत होताहै यदि चित्त वायुका नाश न होय तो उसको शास्त्रका ज्ञान और आत्माकी प्रतीति और गुरु और मोक्ष ये नहीं होतेहैं इससे यह सूचित किया कि—प्राण, और बिंदु, मन इन तीनोंके जयमें ज्ञानके द्वारा योगीकी मुक्ति होही जाती है—सोई अमृतसिद्धिमें कहा है कि, जिस अवस्थाको वायु प्राप्त होताहै उसी अवस्थाको बिंदुभी प्राप्त होजाताहै और जिस प्रकार वायु साध्य किया जाताहै उसी प्रकारसे बिंदु साध्य किया जाताहै और मूर्च्छित हुआ वायु व्याधियोंको हरताहै और बंधन किया वायु आकाशगतिको देताहै और लयको

प्राप्त हुआ निश्चल वायु संपूर्ण सिद्धियोंको करता है और मुक्तिको देता है और जैसी जैसी अवस्था बिंदुकी होती है तैसी २ ही अवस्था चित्तकी होती है—कदाचित् कोई शंका करे कि, मनुष्योंके कल्याण करनेकी इच्छासे ज्ञान कर्म भक्ति ये तीन योग भेने कहे हैं अन्य कोई उपाय किसी शास्त्रमें भी नहीं है इस भगवान्के वाक्यसे तीन मोक्षके उपाय हैं तो योगही मोक्षका उपाय कैसे कहा सो ठीक नहीं, क्योंकि उनका योगके अंगोंमें अंतर्भाव है—सोई दिखाते हैं कि, आत्मा—देखने, सुनने, मानने, निदिध्यासन करने योग्य है । इस श्रुतिसे परम पुरुषार्थका साधन जो आत्माका साक्षात्कार है उसके हेतु श्रवण, मनन, निदिध्यासन कहे हैं, उन तीनोंमें श्रवण मनन ये दोनों नियमके अंतर्गत होनेसे स्वाध्याय ( पठन ) में अंतर्गत होते हैं और मोक्षशास्त्रके अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं और वह अध्ययनभी तात्पर्यार्थके निश्चय पर्यंत लेना वह तात्पर्यार्थके निर्णयका श्रवण मननसे होता है इससे श्रवण मननका स्वाध्यायमें अंतर्भाव है—और नियमोंके विवरणमें याज्ञवल्क्यने कहा है कि, बुद्धिमान् मनुष्योंने वेदांतका श्रवण सिद्धांतश्रवण कहा है इससे स्पष्टही श्रवणका नियममें अंतर्भाव कहा है—और जिसने वेद पढा हो, सूत्र वा पुराण वा इतिहास पढे हों इनके अध्ययन और उत्तम अभ्यासको जप कहते हैं इस युक्तिसे निरंतर अनुचितन है लक्षण जिसका ऐसा जो उत्तम अभ्यास रूप मनन है उसकाभी नियममें अंतर्भाव कहा है—और विजातीय प्रतीतिके निरोधपूर्वक सजातीय प्रत्ययका प्रवाहरूप जो निदिध्यासन है उसकाभी पूर्वोक्त ध्यानमें अंतर्भाव है, क्योंकि वहभी तिसके परिपाकरूप समाधिसे आत्मसाक्षात्कारके द्वारा मोक्षका हेतु है—और ईश्वरार्पण बुद्धिसे निष्काम कर्मका अनुष्ठानरूप जो कर्मयोग है उसका नियमके अंतर्गत इस पतंजलिके कहे हुए क्रियायोगमें अंतर्भाव है कि, तप, स्वाध्याय, ईश्वरका प्रणिधान ( स्मरण ) इनको क्रियायोग कहते हैं और वे तीनों ईश्वरगीतामें इन वचनोंसे कहे हैं कि, उपवास पराक और कृच्छ्रांद्राघण आदि व्रत इनसे जो शरीरका शोषण वही तपस्वियोंने उत्तम तप कहा है और मनुष्योंके अंतःकरणकी शुद्धिका कर्ता जो वेदान्त, शतरुद्रीय प्रणव आदिका जप है वह बुद्धिमान् मनुष्योंने स्वाध्याय कहा है और स्तुति, स्मरण, पूजा इनसे और वाणी मन काया कर्म इनसे जो भलीप्रकार निश्चल भक्ति वही ईश्वरपूजन कहाता है और क्रियायोग परंपरासे समाधिसे आत्मसाक्षात्कारके द्वाराही मोक्षका हेतु होनेसे समाधिकी भावनाके लिये और क्लेशोंको दूर करनेके लिये है यह बात उत्तरसूत्रसे पतंजलिने स्पष्ट की है जिससे अंतःकरण भगवान्के आकार होजाय उसे भक्ति कहते हैं, इस कारण व्युत्पत्तिसे वह नौ ९ प्रकारकी साधनभक्ति कही वह इस श्लोकमें वर्णन की है कि विष्णुका श्रवण कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दासता, मित्रता और आत्माका निवेदन, यह नौ प्रकारकी भक्ति होती है और उस भक्तिका ईश्वरके प्रणिधानरूप नियममें अंतर्भाव है और उसे भक्तिकी हेतुता समाधिमें पतंजलिने इस सूत्रसे कही है कि, ईश्वरविषयक जो भक्तिविशेषरूप प्रणिधान उससे समाधिका लाभ ( फल ) होता है और अंतःकरणका भगवदाकारत्वरूप जो भजन उसे भक्ति कहते हैं इस भावव्युत्पत्तिसे तो फलभूत भक्ति कही है उसकोही प्रेमभक्ति कहते हैं उसका लक्षण नारायणतीर्थोंने यह कहा है कि ईश्वरके चरणारविदमें जो एकाग्रतासे निरवाच्छिन्न अत्यंत प्रेमका प्रवाह उसको प्रेम

भक्ति कहतेहैं और मधुसूदनसरस्वतियोंने तो भक्तिका यह लक्षण कहा है कि, द्रव होकर मनकी जो भगवदाकाररूप सविकल्पवृत्ति उसको भक्ति कहतेहैं यह भी आत्मसाक्षात्कारके द्वारा मोक्षका हेतु है क्योंकि इन श्रुति और स्मृतियोंसे यह लिखा है कि-श्रद्धा, भक्ति, ध्यान-योगसे आत्माको जानो और भक्तिसे मुझे जानताहै और भक्त तो यह कहतेहैं, कि, सुखही पुरुषार्थ है इससे दुःखसे असंमिन्न जो सर्वोत्तम सुखरूप प्रेमभक्ति है वही पुरुषार्थ है उस भक्तिका संप्रज्ञात समाधिमें अन्तर्भाव है-इससे यह सिद्ध भया, कि अष्टांगयोगसे भिन्न परम पुरुषार्थका कोईभी साधन नहीं है भावार्थ यह है कि, इतने गमन करते हुए प्राणवायु सुषुम्नाके मार्गमें प्रविष्ट न हों और प्राणवायुके दृढबंधनसे इतने बिंदु स्थिर न हों और इतने चित्त ध्यानके विषय ध्येयकी तुल्य न हो तबतक ज्ञान दंभसे मिथ्याप्रलाप रूप होताहै ॥ ११४ ॥

इति. श्रीस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां श्रीयुतपण्डित-  
रामरक्षाङ्गजलौखग्रामनिवासिपण्डित-मिहिरचंद्रकृतभाषाविवृतिसहितायां.

समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः समाप्तिमगात् ॥ श्रीरस्तु ।



पुस्तक मिलनेका ठिकाना-

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,  
“ लक्ष्मीवेंकटेश्वर ” स्टोम् प्रेस,  
कल्याण-मुंबई.

खेमराज श्रीकृष्णदास,  
“ श्रीवेंकटेश्वर ” स्टोम् प्रेस,  
खेतवाडी-मुंबई.

|   |      |      |
|---|------|------|
| कपिलगीता-भाषाटीकासहित । श्रीमद्भागवतान्तर्गत श्रीभगवान् कपि लदेवजीने अपनी मातां देवहूतिको संपूर्ण ज्ञानोपदेश किया है  | .... | ०-१२ |
| गोरखपद्धति-भाषाटीकासहित । इस ग्रन्थमें योगाभ्यासका फल सुगम रीतिसे वर्णित है.  | .... | ०-१० |
| घेरण्डसंहिता-भाषाटीकासहित । इसमें अष्टाङ्गयोगवर्णन भलीभाँति लिखागया है.   | .... | ०-१० |
| पातञ्जलयोगदर्शन-अत्युत्तम भाषाटीकासमेत । इसमें अष्टाङ्गयोग-निरूपण बहुतही सरल और सुगम लिखागया है.  | .... | १-०  |
| भक्तिसागरादि ( १७ ) ग्रन्थ-श्रीस्वामी चरणदासजीकृत । जिसमें ब्रजचरित्र, अमरलोक, धर्मजहाज, श्रीअष्टाङ्गयोग, षट्कर्महठयोग, योगसन्देशसागर, ज्ञानस्वरोदय, पञ्चउपनिषद्, द्वितीय सर्वोपनिषद्, तृतीय तत्त्वयोगोपनिषद्, चतुर्थ, योगशिखोपनिषद्, तेजविंशतोपनिषद्, भक्तिपदार्थ, मनविकृतकरण, श्रीब्रह्मज्ञानसामर, शब्दवर्ण और भक्तिसागर ये हैं ग्लेज | .... | ३-०  |
| " तथा रफ  | .... | २-८  |
| योगतत्त्वप्रकाश-भाषामें अत्युत्तम योगमार्ग वर्णित है.   | .... | ०-२  |
| योगमार्गप्रकाशिका-अर्थात् योगरहस्य भाषाटीकासहित   | .... | ०-१२ |
| योगवित्-भाषाटीकासमेत.   | .... | ०-४  |
| योगकल्पद्रुम-भाषाटीका सहित  | .... | १-०  |
| योगसमाचारसंग्रह-डॉक्टर गोविन्दप्रसाद भार्गवनिर्मित । इसमें राज-योग, हठयोग, स्वरोदयसार, स्वास्थ्यरक्षाके सम्पूर्ण नियम, ब्रह्म-ज्ञानसाधन विधिसहित उक्त सभी विषय है.  | .... | १-०  |
| वैशेषिकदर्शन-( कणादयुनिप्रणीत ) तथा भाषाटीकासहित  | .... | १-०  |
| शिवसंहिता-भाषाटीकासहित । इसमें शिवजीसे कहाहुआ, योगोपदेश ब्रह्मज्ञान, हठयोगक्रिया तथा राजयोगादिका वर्णन है.  | .... | १-८  |
| शिवस्वरोदय-भाषाटीकासहित । इसमें स्वरोका और इडा, पिंगला सुषुम्णा नाडियोंसे प्रश्नादि और राजयोग, हठयोग, प्राणायामादि पंचतत्त्वोंके जाननेकी विधि भलीप्रकार वर्णित है.  | .... | ०-१० |
| षट्चक्रनिरूपणं=संस्कृत-   | .... | ०-८  |

सर्वदर्शनसंग्रह—श्रीउदयनारायणसिंहकृत भाषाटीकासहित । इस ग्रन्थमें क्रमसे १ चार्वाकदर्शन, २ बौद्धदर्शन, ३ आर्हतदर्शन, ४ रामानुजदर्शन, ५ पूर्णप्रज्ञदर्शन वा वेदान्तदर्शन, ६ नकुलीशपाश, पतदर्शन, ७ शैवदर्शन, ८ प्रत्यभिज्ञानदर्शन, ९ रसेश्वरदर्शन, १० औलूक्यदर्शन, ११ अक्षपाददर्शन, १२ जैमिनिदर्शन, १३ पाणिनिदर्शन, १४ सांख्यदर्शन, १५ पातंजलदर्शनमत यानें सम्प्रदायसिद्धान्तोंका पूर्णतासे वर्णन है. .... ३-०

सर्वेशिरोमणिसिद्धान्तसार—भाषा—अलवरनिवासी योगमार्गनिपुण श्री-स्वामी आनन्दमङ्गलजीका अनुभव १२ बारह प्रकाशोंमें वर्णित है । जिसमें योगमार्ग, कर्ममार्ग, छहों शास्त्र, वैद्यक, कर्मकाण्ड, ज्योतिष, मन्त्रशास्त्र इत्यादि १५ विषयोंमें शंकासमाधान पूर्वक सिद्धान्त भलीभाँति लिखागयाहै. .... २-०

सहजप्रकाश—श्रीस्वामी चरणदासजीकी बहिन सहजाबाईकृत .... ०-६

सांख्यदर्शन—भाषाटीकासमेत । ( भगवान् कापिलदेवजीकृत ) .... १-८

स्वरोदयसार—चरणदासकृत. .... ०-२॥

स्वरदर्पण सटीक—भाषामें स्वरपर प्रश्न वर्णित है .... ०-३

ज्ञानस्वरोदय—चरणदासजीकृत. .... ०-१२

योगवासिष्ठ बड़ा—भाषा—छः प्रकरणोंमें श्रीगुरु वसिष्ठजी और श्रीरामचन्द्रजीका संवादोक्त अपूर्व ग्रन्थहै ( खुलापत्रा .... १३-०

योगवासिष्ठ बड़ा—भाषा छः प्रकरणोंमें उपरोक्त सर्वालंकारोंसे युक्त २ जिल्दोंमें १५-०

योगवासिष्ठ—भाषामें वैराग्य और मुमुक्षुप्रकरण बड़ा अक्षर ग्लेज कागज .... १-४

योगवासिष्ठ—भाषामें वैराग्य और मुमुक्षुप्रकरण छोटा गुटका पाकिट

बुक अतिउत्तम संग्रह करने योग्य है .... ०-८

योगवासिष्ठ—सार—संपूर्ण योगवासिष्ठका सार भाषामें वर्णित है ग्लेज .... २-८

” ” तथा रफ .... २-०

विचारसागर—सटीक स्वामी निश्चलदासजी कृत सर्वोत्तम संग्राह्य है. .... २-०

विचारसागर—सटीक—पीताम्बरदासकृत भाषाटीकासहित. .... ५-०

विचारचन्द्रोदय—सटीक—स्वामी श्रीगोविन्ददास कृत सरल भाषाटीकासहित. १-०

विचारचन्द्रोदय—सटीक—पीताम्बरदासकृत बालबोधिनी टीकासमेत.... २-०

की. रु.आ.

विज्ञानगीता-कविवर श्रीकेशवदासकृत. अपूर्व वेदान्त है ०-१२

वृत्तिप्रभाकर-स्वामिश्रीनिश्चलदासजीकृत षट्शास्त्रके मतसे

मलीप्रकार वेदान्त मत प्रतिपादन किया है .... ३-८

श्रुतिसिद्धान्तरत्नाकर-अर्थात् द्वैतद्वैतवेदान्तका सार

भाषामें अनेकानेक श्रुतिस्मृतिकी टिप्प-

णियोंसे विभूषित है .... २-०

सन्तप्रभाव-साधु श्रीमाणिकदासजीकृत । यह ग्रन्थ सत्सं-

गादि विषयमें अद्वितीय है अवश्य संग्रह

करिये .... ०-६

सन्तोषसुरतरु-साधु श्रीमाणिकदासजी कृत । इस

ग्रन्थके पढ़नेसे डाकिनीरूप तृष्णाका

अवश्य नाश होता है. .... ०-६

स्वरूपानुसन्धान-वेदान्तियोंको अवश्य देखने तथा

लेने योग्य है. .... ३-०

सारुक्तावली-भाषा हरदयालकृत. .... ०-३

स्वानुभवप्रकाश-हनुमद्व्यासविरचित. .... ०-१॥

सुन्दरविलास-(ज्ञानसमुद्र ज्ञानविलास सुन्दराष्टकादि-

साहित ) सटिप्पण आदिसे अन्ततक

पढ़नसे अवश्य ब्रह्मविचार होगा ग्लेज

कागज. .... १-८

पुस्तकें मिलनेका ठिकाना-

गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,

“लक्ष्मीविकटेश्वर” छापाखाना,

कल्याण-मुंबई.







